भारत के महान साधक - (1)

भारत के
महान साधक

भारत के महान साधक

प्रथम खंड

प्रमथनाथ भट्टाचार्य

नव भारत प्रकाशन

तृतीय प्रकाशन

आश्विन–१९८२

अनुवादक : स्व० श्री जगन्नाथ मिश्र
श्री रामनन्दन मिश्र
श्री सुरेन्द्र झा 'सुमन'
प्रो० डा० रमाकान्त पाठक
प्रो० देवीदत्त पोद्दार

प्रकाशक : निर्भय राघव मिश्र
नव भारत प्रकाशन
लहेरियासराय,
दरभंगा (बिहार)

मुद्रक : पूनम प्रिंटिंग प्रेस, लहेरियासराय

प्रच्छद पट : श्री सुप्रकाश सेन

मूल्य—पचीस रुपये

जिनकी महती कृपा से
'भारत के महान साधक'
का प्रकाशन संभव
हो सका
उन्ही महापुरुष
श्री कालीपद गुहाराय के कर-कमलों में
प्रकाशक द्वारा समर्पित

भूमिका

श्रीप्रमथनाथ भट्टाचार्य (उपनाम--शंकरनाथ राय) के 'भारतेर साधक' नाम की पुस्तक बंगला में ख्याति-प्राप्त रचना है। इसमें ऐसे लोगों को जीवन-चर्या तथा विश्वासों और उपदेशों की चर्चा है जो इस देश की आध्यात्मिक रंगभूमि को समय-समय पर सुशोभित करते रहे हैं। इनको ही साधक कहा गया है। कई दृष्टियों से इन साधकों में गम्भीर भेद दिखाई पड़ते हैं। न तो सब एक ही उपासना-शैली के अनुगामी थे और न उन सब ने किसी एक दार्शनिक मत का अनुसरण और प्रतिपादन किया है, परन्तु इन भेद-भावों के होते हुए भी कुछ ऐसी बात है जो इन सब की जीवनी में अन्तर्भूत है। किसी ने कहा है—

यत्र-तत्र समये यथा योऽसि सोस्यभिधया यया तया।
वीतरागकलुषश्च चेद्भवान् एक ऐव भगवन् नमोऽस्तुते ॥

जो लोग, रागद्वेष और मायामोह से परे हैं वह चाहे किसी नाम से पुकारे जाते हों, किसी देश और काल में शरीरधारी रहे हों, किन्हीं शब्दों में अपने उपदेशों को कहा करते हों—वे समान रूप से हमारे पूज्य हैं। उन सब साधकगण के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। संसार को निःसारिता और राग-द्वेष से ऊपर उठने की शिक्षा इन सबके जीवन से हमको मिलती है। इसके आगे प्रत्येक मनुष्य अपनी बुद्धि के विकास और रुचि के अनुसार अपना मार्ग स्वयं स्थिर कर सकता है।

आज भौतिकता ने हमको पथभ्रष्ट कर दिया है और उसकी चकाचौंध में हम अपने को खोते जा रहे हैं। हमें धर्म और साधना से विरक्ति हो गई है। इन बातों की चर्चा हमको पाखंड-सी प्रतीत

होती है। मुँह से हम अब भी भारतीय संस्कृति का ढोल पीटते रहते हैं, परन्तु हमारे हृदय में जो उसके मूल तत्वों के लिए कोई स्थान नहीं है। हमको ऐसा लगता है कि उपासना और साधना जैसी बात की ओर ध्यान देना उन्नति के पथ से हटकर देश को अधः पतन की ओर ले जाना है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। भारत के प्रमुख धर्माचार्य जहाँ निःश्रेयस मोक्ष का सन्देश सुनाते हैं वहाँ वे अभ्युदय, सांसारिक उन्नति के भी उचित मार्ग का निर्देश करते हैं। हाँ, उनके उपदेशों में यह विशेषता अवश्य है कि वे अधिकारों की नहीं, कर्त्तव्यों की चर्चा करते हैं और इस बात को बारंबार कहते हैं कि दूसरों के हितों का मर्दन करके अपने हित की सिद्धि नहीं हो सकती। प्राणी मात्र एक विराट् शरीर के अंग हैं और समष्टि के हित में ही व्यष्टि का हित है।

इन बातों को भुलाकर हम स्वतंत्र होने के बाद भी अपने-आपको भूल से गये हैं। श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य की पुस्तक अध्यात्म-मार्ग के पथिक कई प्रमुख साधकों के जीवन को हमारे सामने लाती हैं। मुझे बंगला का बहुत थोड़ा ज्ञान है। फिर भी जो देख सका उससे लगता है कि पुस्तक उपादेय है। इसके अध्ययन से एक तो आजकल के शिक्षित व्यक्ति की बहुत सी भ्रान्तियाँ दूर हो सकती हैं और दूसरे उसको अपने जीवन को उचित मार्ग पर ले चलने में प्रभूत सहायता मिल सकती है।

श्री रामनन्दन मिश्र ने इस पुस्तक के हिन्दी संस्करण का प्रकाशन हाथ में लिया है। मेरा ऐसा विश्वास है कि जिस उद्देश्य की सिद्धि मूल बंगला पुस्तक से होती है उसी लक्ष्य की प्राप्ति इस हिन्दी संस्करण से हो सकेगी। पुस्तक संग्रह करने योग्य होनी चाहिए और हिन्द में आ जाने से यह बंगला की अपेक्षा अधिक संख्या में लोगों के हाथ में पड़ सकेगी। मैं आशा करता हूँ कि इसका यथेष्ट प्रचार होगा।

जयपुर
फरवरी—४, १९६४

सम्पूर्णानन्द
राज्यपाल, राजस्थान

प्राक्कथन

भारतीय संस्कृति विभिन्न दिशाओं में समृद्ध होने पर भी मूलत: आध्यात्मिक भित्ति के ही ऊपर प्रतिष्ठित है, इसमें कोई सन्देह नहीं। यहाँ के आधिभौतिक तथा आधिदैविक सभी प्रकार के विद्वानों की पृष्ठ भूमि में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से अध्यात्म दृष्टि का प्रभाव परिलक्षित होता है। प्राचीन काल से ही इस देश में और सब विभिन्न प्रकार के ज्ञानों की अपेक्षा आत्मज्ञान की ही महिमा विशेष रूप से कीर्तित हुई है और विभिन्न प्रकार के कर्मों में आत्मकर्म का स्थान सर्वोच्च माना गया है। इस देश में अध्यात्म-साधना की जो धारा प्रचलित है और नाना शाखा-प्रशाखाओं में बहती हुई जो समग्र देश को संजीवित रख सकी है, उसका क्रमबद्ध इतिहास अभीतक लिखा नहीं गया है। इस अलिखित इतिहास के पुष्टि-साधन में प्रत्येक साधक के जीवन तथा साधना की इतिवृत्ति का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

अध्यात्म साधना का श्रेणी–विभाग साम्प्रदायिक दृष्टि से और व्यक्तिगत रुचि तथा रागमूलक वैशिष्ट्य के आधार पर भी हो सकता है। दृष्टान्त-रूप में यदि वैष्णव साधना को लें तो श्री-सम्प्रदाय, हंस-सम्प्रदाय, ब्रह्म-सम्प्रदाय तथा रुद्र-सम्प्रदाय के नाम इस-प्रसंग में लिये जा सकते हैं। प्रति सम्प्रदाय में भी अवांतर विभाग हैं। प्रति अवांतर विभाग में भी व्यक्तिगत भेद हैं। वैष्णव सम्प्रदाय के सदृश ही शैव और शाक्त-सम्प्रदायों की बात भी समझनी चाहिए। वैष्णवादि सम्प्रदाय उपास्य देवतामूलक सम्प्रदायों के दृष्टांत हैं। इसी प्रकार उपासना के प्रकारगत भेद से भी सम्प्रदायों का भेद हो सकता है, जैसे भक्त-सम्प्रदाय, ज्ञानी-सम्प्रदाय, योग सम्प्रदाय

इत्यादि। सम्प्रदायों के अतिरिक्त व्यक्तिगत वैचित्र्य के आधार पर भी साधकों के विभाग हो सकते हैं।

ये हुए बहिरंग विभाग। इसी प्रकार अतरंग विभाग भी हैं। विभागों की संख्या जितनी भी क्यों न हो, उनके मूल में सर्वत्र रुचि वैचित्र्य अथवा योग्यतागत भेद विद्यमान रहते हैं। इसलिए बाहर की दृष्टि से पथ या मार्ग भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि सभी का लक्ष्य एक है।

'नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।'

महिम्न स्तोत्रकार ने स्पष्ट ही कहा है कि पथ नाना होने पर भी गम्य एक तथा अभिन्न है।

आपात दृष्टि से प्रतीत हो सकता है कि गम्य भी अलग-अलग है। परन्तु अखण्ड चिदानंद रुपा सत्ता एक से अतिरिक्त हो ही नहीं सकती। उसकी शक्ति भी एक और अभिन्न है, परन्तु एक होने पर भी उसमें अनन्त प्रकार के वैचित्र्य हैं। एक परासंवित्‌रूपा महा-शक्ति ही अनन्त शक्तियों के रूप में आत्म प्रकाश कर रही है। परि-छिन्न आत्मा या माया प्रमाता की व्यक्तिगत-प्रकृति या स्वभाव के अनुरुप एक ही महालक्ष्य तत् तत् प्रकृतियों के अनुकूल खंड-खंड लक्ष्य के रूप में स्थूलदर्शी व्यक्ति के निकट प्रकाशित होता है जिसके प्रभाव से मालूम पड़ता है कि विभिन्न प्रकृतियों के लोग विभिन्न लक्ष्य की ओर आकृष्ट होते हैं। किन्तु वास्तव दृष्टि से यदि देखा जाय तो अवश्य कहना पड़ेगा कि सभी का लक्ष्य एक ही है। कोई शीघ्र तो कोई बिलंब से, एक ही परम स्थान में जाकर विश्राम लाभ करेगा। जबतक उस स्थान की प्राप्ति न हो तबतक किसी में शान्ति नहीं आयेगी।

अतएव अनन्त के पथिक, कोई भी क्यों न हों, सभी हमारे नमस्य हैं—जैसा योगी वैसा ही भक्त और वैसे ही ज्ञानी तथा कर्मी भी।

परन्तु इनमें भी प्रकार-वैचित्र्य है जैसे, योग वस्तुतः एक

होने पर भी नाना प्रकार का दिखलाई देता है। प्राचीन वैदिक तथा उपनिषद-युग में विभिन्न प्रकार की योग प्रणालियाँ प्रचलित थी ।बौद्ध तथा जैन भी आत्म-साधना के लिए एक ही प्रणाली का अनुसरण करते थे, ऐसी बात नहीं है । बौद्ध-सम्प्रदाय में भी प्राचीन समय में जिस प्रकार की योग शिक्षा का प्रचार था, परवर्ती समय में योगाचारादि सम्प्रदाय में ठीक उसी का अनुसरण होता था ऐसी बात नहीं है । बुद्धघोष का 'विशुद्ध मार्ग' तथा अनिरुद्ध स्थविर का अभिधमार्थ संग्रह अच्छे ग्रन्थ हैं। इसमें सन्देह नहीं, परन्तु अश्वघोष, नागार्जुन, वसुबन्धु, असङ्ग, शान्तिदेव, परिभद्र, तिलोपा, नरोपा प्रभृतियों के उपदेश भी उनसे कम महत्त्व-संपन्न थे ऐसा नही कहा जा सकता। जैन सम्प्रदाय में भी तीर्थङ्करों के समय से योग की विभिन्न धाराओं का पता चलता है। इसी प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ तथा गोरक्षनाथ की भी योगधाराएँ एक प्रकार की नहीं हैं। चौरासी सिद्धों में जिनका परिचय मिल सका है; उनमें भी विभिन्न प्रकार-वैचित्र्य रहे, ऐसा मालूम होता है। पतञ्जलि और व्यास की योगधारा से पाशुपत योगियों की योगधारा भिन्न है। केवल सिद्धांत में ही नहीं मार्ग में भी भेद है। उसी प्रकार सिद्धान्त-शैवों, वीर-शैवों तथा अद्वैत शैवों में आगम मूलक ऐक्य होने पर भी साधन धारागत भेद अवश्य हैं। सन्तों में भी ऐसा ही है। उसी प्रकार शाक्त सम्प्रदाय के इतिहास में भी भेद लक्षित होते हैं। कौलों में उत्तर कौल तथा पूर्वकौल की दृष्टि से भेद है। इसके सिवा कुलाचार तथा समयाचार के भेद से भी शाक्तों में भेद है। उनमें भी कोई क्रमवादी हैं तो महार्थवादी और कोई स्पन्दमार्गी। अच्छी तरह से सोचने पर पता चलता है कि कोई साधक आणव उपाय का अवलंबन कर साधना करता है, कोई उच्चतर अधिकारी साधक शाक्त उपाय का अवलम्बन करके चलते हैं और अत्यन्त सौभाग्यवान् श्रेष्ठ अधिकारी शाम्भवी उपाय को अपना लेते हैं। यहाँ भी रुचि तथा योग्यता के तारतम्य से मार्गगत भेद होता है, परन्तु चरम लक्ष्य सर्वत्र एक ही है इसमें सन्देह नहीं।

भक्तिमार्ग में भी इसी प्रकार दीख पड़ता है। वस्तुतः पाञ्च-रात्र तथा भागवत-सम्प्रदाय पृथक् होने पर भी अपृथक् हैं। इसके बाद चतुःसम्प्रदाय में भी असंख्य प्रकार के भेद दृष्टिगत होते हैं। द्वैत, अद्वैत तथा द्वैताद्वैत की दृष्टि के अनुसार भक्ति का भी प्रकारगत भेद है। महायोगी ज्ञानेश्वर में अद्वैत भक्ति का परिचय मिलता है। प्राचीन काल में उत्पलाचार्य की शिवस्तोत्रावली में भी अद्वैत भक्ति का निरूपण देखने में आता है। परा-भक्ति तथा प्रेमलक्षण-भक्ति के भेद से भक्ति में वैचित्र्य है। पुष्टि, प्रवाह तथा मर्यादा के आधार पर तथा वैधी और रागमार्गी भेदों के फलस्वरुप भी व्यक्ति में वैचित्र्य दृष्ट होता है। रागानुगा-भक्ति में विलास तथा उछ्वासगत भेद है। बाउल, दरवेश तथा सहजिया सम्प्रदायों में भी मार्ग भेद लक्षित होता है। यही बात भारतीय सूफी-सम्प्रदाय के विषय में लागू है।

इसके अनन्तर भक्ति तथा प्रपत्ति में भी तारतम्यमूलक अवान्तर भेद हैं। किसी की उपेक्षा नहीं हो सकती। जो बात योग तथा भक्ति के विषय में कही गयी है वही बात ज्ञान तथा कर्म मार्ग में भी समान रूप से प्रयुज्य है। परन्तु इतने भेद तथा वैचित्र्य रहने पर भी भारतीय साधकों का चरम लक्ष्य सर्वत्र एक ही है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं।

'भारत के महान् साधक' नामक ग्रन्थ में इसलिए विभिन्न मार्ग के साधकों के प्रति समरूप से श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गई है, और यह देखकर चित्त में बहुत प्रसन्नता होती है, क्योंकि साधकों के प्रति श्रद्धार्पण के विषय में पथ या मार्ग को प्रधान न मानकर लक्ष्य ही को प्रधान मानना चाहिए। कारण, बहिरङ्ग-जीवन मुख्य नहीं है, आन्तर-उपलब्धि ही साधक-जीवन का परम सम्पद् है।

बंग भाषा में लिखित इस अपूर्व ग्रन्थ के ६ खण्ड कुछ दिनों से बंगीय पाठक-समाज को आलोड़ित कर रहे हैं। देश की वर्त्तमान

परिस्थिति में, इस युग-संधि काल में इस प्रकार के ग्रन्थ के प्रति जन साधारण की आन्तरिक श्रद्धा देखकर चित्त में प्रसन्नता होती है। भरोसा होता है कि धर्मों के प्रति, जीवन के चरम आदर्श के प्रति हमारा समाज इस दुर्दिन में भी सम्पूर्ण रूप से श्रद्धा खो नहीं बैठाहै।

हमारा देश हमेशा सत्य का आदर करता आया है। सत्य के अनुसंधान को ही उसने जीवन का महाव्रत मान लिया है और सत्य ही को भगवान् का परम स्वरूप माना है। सत्य का आत्म-प्रकाश विभिन्न उपायों से और विभिन्न प्रणालियों से हो सकता है, यह हमारा देश जानता है। इसीलिए अन्धकारमय जंजाल में भी सत्य की कणिका मात्र देखने पर उस पुंजीकृत जंजाल को हटाकर उस कण मात्र सत्य का वरण कर लेते हैं। इस अनुसंधान-व्यापार में जातिगत, देशगत, आचरणगत तथा कालगत वैषम्य उसके प्रति-बन्धक नहीं बन सकते। इससे प्रतीत होता है कि सत्यानुसन्धान यदि क्षुद्र भावनाओं से कलङ्कित न हो तो उसके प्रति सभी की सक्रिय सहानुभूति जागे बिना नहीं रह सकती।

बुद्ध-वंश, गुरु-परम्परा-चरित तथा भक्तमाल प्रभृति बहु ग्रन्थों में साधकों के अख्यान वर्णित दीख पड़ते हैं। दक्षिण भारत में शैव तथा वैष्णव सन्तों के अलौकिक चरित्र-तत् तत् प्रादेशिक भाषाओं में रचित होकर प्रचारित हुए थे यह इतिहास में प्रसिद्ध है। विभिन्न सम्प्रदायों में प्रायः सर्वत्र ही न्यूनाधिक चरित्र-कथाएँ विद्यमान हैं। असाम्प्रदायिक रूप में भी कहीं-कहीं सन्तों के चरित्र की वर्णना दिखलाई पड़ती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता ने बहुत दिनों के परिश्रम से इन सब चरित्रों का सङ्कलन किया है। इनके मूल उपजीव्य हैं। विभिन्न भाषाओं में विरचित आकर-ग्रन्थ तथा विभिन्न स्थानों में विक्षिप्त तद्विषयक ऐतिह्य। सङ्कलनकर्त्ता ने अपने प्रयोजन के अनुसार तथ्य-संग्रह किया है और साधारण पाठक के लिए बोधगम्य प्राञ्जल भाषा में उनका प्रकाशन किया है।

यह साधक चरितमाला विभिन्न खण्डों में प्रकाशित होगी। प्रति खण्ड में मूल ग्रन्थ के चुनाव तथा क्रम का अनुसरण नहीं किया गया है। प्रथम खण्ड में वर्त्तमान युग की साधक मण्डली से सात व्यक्तियों के वृत्तान्त प्रकाशित हुए हैं; जिसमें दो हैं काशी के— तैलङ्ग स्वामी और श्यामाचरण लाहिड़ी; एक हैं गोरखपुर के बाबा गंभीरनाथ; और एक हैं बंगदेश के वामाक्षेपा। सभी ख्याति-सम्पन्न थे और थे साधन-मार्ग के अत्युच्च शिखर पर आरूढ़। प्रायः सब की सिद्धपुरुष के नाम से प्रसिद्धि भी हुई थी। इनमें तैलङ्ग स्वामी, श्यामाचरण लाहिड़ी तथा गभीरनाथ योगी थे। वामाक्षेपा तांत्रिक और भक्त थे, शंकराचार्य्य जी ज्ञानी थे। ये विभाग लौकिक दृष्टि के ही अनुसार समझने चाहिए। मैं आशा करता हूँ कि हिन्दी-भाषी भक्त-पाठक-समाज इस महान् ग्रन्थ से समुचित लाभ उठायेगा।

वाराणसी, महामहोपाध्याय
१-२-६४ *डा० गोपीनाथ कविराज*

प्रकाशकीय

'भारत के महान साधक' के मूल लेखक श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य लेखक, साधक तथा अन्वेषक तीनों एक साथ थे। इन्होंने लगातार १५ वर्षों का बहुमूल्य समय महापुरुषों की जीवनियों के संग्रह में लगाया।

बंगला भाषा में इस ग्रंथ का अपूर्व स्वागत हुआ है। यह पुस्तक इस काल की एक महान् कृति मानी जाने लगी है। बंगला भाषा में इस ग्रंथ के लेखक श्री प्रमथनाथ भट्टाचार्य्य अपने उपनाम 'शंकरनाथ राय' के नाम से विख्यात हैं।

सारे देश के सब क्षेत्रों के महानुभावों से हमें हर तरह की सहायता मिली है। उनकी इस सहायता के बिना इसका प्रकाशन कभी संभव नहीं होता। उनका नाम गिनाकर—दो-चार पंक्तियों में उन्हें धन्यवाद देकर हम उनके ऋण से मुक्त नहीं हो सकते। इस अवसर पर इन महानुभावों के प्रति हम अपनी आंतरिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

हिन्दी के विज्ञ, सत्यान्वेषी एवं धर्मानुरागी पाठकों के समक्ष यह ग्रंथ उपस्थित है। इसकी महत्ता और उपयोगिता का निर्णय उन्हें ही करना है।

लहेरियासराय
१९८२

निर्भय राघव मिश्र

सूची-पत्र

१	श्री तैलंग स्वामी	१
२	योगी श्यामाचरण लाहिड़ी	३३
३	श्री भोलानन्द गिरी	६९
४	शंकराचार्य	११५
५	भक्त दादू	१६९
६	योगीवर गम्भीरनाथजी	१९३
७	वामाक्षेपा	२४५

श्री तैलंग स्वामी

प्रभात वेला। बालारुण की रश्मियाँ अभी फूट ही रही हैं। विश्वनाथ मंदिर की मंगल-आरती की शंखघंटा-ध्वनि अभी निःशेष नहीं हुई है। 'शिव शम्भो शंकर हर' की ध्वनि से वाराणसी के पथ-घाट मुखरित हो रहे हैं।

वेणीमाधव धरहरा के सन्निकट पंचगंगा-घाट। पत्थर की बनी सोपान पंक्तियाँ नीचे तक चली गई हैं। सामने सूर्य की किरणों से दीप्त जाह्नवी अर्धचंद्राकार फैली हुई है। झुंड के झुंड पुण्यार्थी स्त्री-पुरुष स्नान करके घाट से ऊपर आते हैं, एक विशालकाय नग्न संन्यासी के सम्मुख नतमस्तक होते हैं और 'हर हर बम बम' का उद्घोष करते हुए परम श्रद्धा के साथ उस संन्यासी के मस्तक पर गंगाजल एवं फूल-बेलपत्र चढ़ा देते हैं। निर्विकार, ध्यान-गम्भीर योगी ज्यों की त्यों समाधि-अवस्था में निमग्न रहते हैं। उन्हें साक्षात् विश्वनाथ समझ कर प्रति दिन इसी प्रकार भक्तगण वहाँ उनके दर्शनों के लिए आते और उस समाधिमग्न निश्चल शरीर पर श्रद्धा के अर्घ्य अर्पित करके अपने को कृतार्थ समझते।

काशी के बाल-वृद्ध स्त्री-पुरुषों के निकट यह मानव देह-धारी महात्मा तैलंग महाराज के नाम से परिचित थे। प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से वे इस विश्वनाथपुरी में विराजमान थे। इसीलिए यह योगेश्वर महापुरुष हजारों काशीवासियों के लिए एक चिर परिचित स्वजन-तुल्य और आपद्-विपद् एवं संकट में उनके आश्रय-स्थल थे। गंगा-घाट पर जो पुण्यार्थी भक्त आज उन्हें एकान्त निष्ठा के साथ

अपनी श्रद्धा के अर्घ्य अर्पित करके गये हैं, संभव है उनके पिता, पितामह एवं प्रपितामह भी इसी प्रकार इस महात्मा का दुर्लभ सान्निध्य प्राप्त करके एक दिन धन्य हुए हों। पौने तीन सौ वर्षों के दीर्घ जीवन में कठोर तपश्चर्या के फलस्वरुप स्वामीजी ने अपरिमेय योगविभूतियाँ प्राप्त की थीं। अपनी इन विभूतियों का उपयोग उन्होंने आर्त्त एवं मुमुक्षुजनों के कल्याण के लिए उदारता-पूर्वक किया।

योगैश्वर्य के देदीप्यमान सूर्य के रुप में काशी में प्रतिष्ठित होने पर भी स्वामीजी के निगूढ़ अध्यात्म-जीवन की गहनता में कभी कोई प्रवेश नहीं कर सका। करुणामय इस 'सचल विश्वनाथ' का दिव्य स्पर्श पाकर न मालूम कितने जीवों ने शिवत्व प्राप्त किया। वाराणसी-तीर्थकेन्द्र में समागत योगियों एवं भक्त साधकों की संख्या कम नहीं थी। डेढ़ सौ वर्षों तक उनमें से अनेक ने इस महायोगी के उपदेशों एवं आशीर्वाद से अपने साधनामय जीवन को उज्ज्वलतर बनाया था।

पंद्रहवीं शताब्दी का अंतिम चरण। दक्षिण भारत के आंध्र प्रदेश के भिजियाना ग्रामांचल में होलिया नामक एक बस्ती थी। धर्मनिष्ठ भूस्वामी नरसिंह राव वहाँ कई पीढ़ियों से वास कर रहे थे। अपनी पतिव्रता पत्नी विद्यावती के साथ वे देवता एवं ब्राह्मणों की सेवा तथा धर्माचरण में निरत रहते थे। बहुत दिन बीत जाने पर भी इस दम्पति को कोई सन्तान नहीं हुई। वंशरक्षा के लिए नरसिंह राव बहुत उद्विग्न रहा करते थे। बाध्य होकर उन्होंने दूसरा विवाह किया।

उनके गृह-देवालय में एक वृहत् शिवलिंग प्रतिष्ठित था। धर्मप्राणा विद्यावती दिन-रात उस शिवलिंग के समीप अवस्थान करती और उनकी एकनिष्ठ सेवा-पूजा में समय व्यतीत करती। अन्त में एक दिन देवता की कृपा उसके ऊपर हुई। विद्यावती ने एक पुत्र-सन्तान को जन्म दिया। निःसन्तान नरसिंह का घर-आँगन आनंद-कलरव से गूँज उठा। भगवान शिव की कृपा से

बालक का जन्म हुआ था, इसलिए उसका नाम शिवराम रखा गया। यह शिवराम ही बाद में चल कर भारत के अध्यात्म-गगन में महायोगी तैलंग स्वामी के रूप में आविर्भूत हुए। कुछ समय के बाद नरसिंह राव की दूसरी पत्नी के गर्भ से भी एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम श्रीधर था।

शिशु शिवराम को मंदिर-द्वार के समीप रख कर विद्यावती एक दिन शिव की आराधना में मग्न थी। पूजा समाप्त होने पर उसने एक अलौकिक दृश्य देखा और स्तम्भित-सी रह गई। शिव की मूर्त्ति से एक ज्योतिपुंज निर्गत होकर गर्भ मंदिर को आलोकित करता हुआ क्षण भर बाद ही उस भूमि पर लेटे हुए शिशु के शरीर में विलीन हो गया। एक अज्ञात आशंका से विद्यावती काँप उठी। अस्त-व्यस्त भाव से बच्चे को गोद में लेकर उसने घर के अन्दर प्रवेश किया।

नरसिंह को जब यह घटना सुनाई गई तो उन्होंने अपनी सहधर्मिणी को सांत्वना दिलाते हुए कहा, "तुम डरो मत। शिव की कृपा से यह सन्तान तुम्हें मिली है। यह तुम्हारी दीर्घ आराधना का फल है—स्वयं महेश्वर ने आज तुम्हें यह इंगित किया है।"

शिशु शिवराम में एक विलक्षण बात देखी जाने लगी। खेलकूद में एकदम मन नहीं लगता था। आँगन में जब और बच्चे खेलकूद में मस्त रहते शिवराम को उनसे विमुख देखा जाता। वयस बढ़ने पर किशोरावस्था और युवावस्था में भी उसी प्रकार की निःस्पृहता एवं उदासीनता। शिवराम के सहज वैराग्य एवं विषय-विरक्ति को मानो साधिका जननी की कल्याणछाया में अपने निर्दिष्ट पथ का संधान मिलने लगा। साध्वी विद्यावती ने इतने दिनों तक शिव की आराधना करके अपने जीवन में जो कुछ साधनसंपद प्राप्त की थी, उसे मुक्तहस्त होकर अपने प्राणोपमपुत्र को वह दान करने लगी। शिवराम का यह अनुपम सौभाग्य था कि उसके अध्यातम—जीवन के आरम्भ में

सर्वप्रथम उसकी जननी ही उनकी शिक्षिका बनी। माता के पथ-निर्देशन में ही शिवराम अपने भागवत जीवन में अग्रसर होने लगे।

सांसारिक विषयों में पुत्र के वैराग्य को देखकर नरसिंह राव चिन्तित हुए बिना नहीं रहे। शिवराम अब युवक और पिता के ज्येष्ठ पुत्र थे। पिताको स्वभावत: पुत्र के विवाह की चिन्ता हुई। किन्तु विवाह किसका होगा? तरुण पुत्र के मन पर तो इस समय से ही संसार की अनित्यता प्रभाव जमाने लगो थी। चिर कुमार रहकर वे निर्विघ्न अध्यात्म-जीवन व्यतीत करना चाहते थे। पिता ने जब विवाह का प्रस्ताव उनके सामने रखा, उन्होंने दृढ़ता के साथ अपनी असम्मति प्रकट की।

सबसे बढ़ कर आश्चर्य की बात तो यह कि माता विद्यावती ने भी पुत्र के विचार का समर्थन किया। अपने पतिदेव से उन्होंने कहा, "शिवराम संसारी बनना नहीं चाहता। वह अविवाहित रह कर साधन-भजन करेगा, भगवान को प्राप्त करेगा—यही संकल्प उसने ग्रहण किया है।"

महीयसी जननी की इस त्यागदीप्त वाणी को सुन कर उस दिन सब लोग मुग्ध हो गये थे। नरसिंह ने अब पुत्र की विवाह-समस्या को लेकर माथापच्ची करना छोड़ दिया। इस प्रकार शिवराम के साधन-जीवन की प्रथम बाधा दूर हो गई।

शिवराम जब चालीस वर्ष के हुए, उनके वृद्ध पिता का देहावसान हो गया। इसके लगभग बारह वर्षों के बाद एक दिन विद्यावती भी अपने नश्वर शरीर का त्याग करके साधनोचित धाम की पथिक बन गई। पिता की मृत्यु के बाद शिवराम का जो लौकिक बन्धन शिथिल हो चला था वह अब जननी के चिर वियोग से एकबारगी विच्छिन्न हो गया।

श्मशान में एक कुटी बनाकर शिवराम अध्यात्म जीवन में निमग्न रहने लगे। अनुज श्रीधर के साश्रुनेत्र, स्वजन एवं बंधु-

बांधवों के अनुनय-विनय, कुछ भी उन्हें अपने संकल्प से च्युत नहीं कर सका। पैतृक धन-संपत्ति जो कुछ थी सब छोटे भाई श्रीधर को प्रदान करके उन्होंने समस्त सांसारिक बंधनों से अपने को विच्छिन्न कर लिया।

साधन-कुटी की एक दिशा में चिताभस्मपूर्ण श्मशान और दूसरी दिशा में एक कल्लोलिनी सरिता थी। जीवन-मरण की इस पटभूमि पर दुर्जेय महासत्य का आविष्कार करने के लिए शिवराम आत्म-समाहित चित्त से ध्यानमग्न हुए। पूरे बीस वर्षों की लंबी अवधि में एक ही स्थान पर बैठ कर वे साधना करते रहे।

इतने दिनों के त्याग, तितिक्षा, एवं कृच्छ्र साधना का अंततः फल प्राप्त हुआ। किसी अदृश्य शक्ति की प्रेरणा से एक दिन अकस्मात् उस श्मशान-क्षेत्र की कुटिया में स्वामी भगीरथानंद सरस्वती उपस्थित हुए। पंजाब के एक गाँव में इन शक्तिमान साधक का आदिवास था। ये ही साधक शिवराम के ईश्वर-निर्दिष्ट पथ-प्रदर्शक और उनके योगी-गुरु थे।

शिवराम ने भगीरथ स्वामी के साथ सदा के लिए होलिया ग्राम का परित्याग कर दिया। नाना देशों का पर्यटन करते हुए दोनों प्रसिद्ध पुरुष पुष्कर तीर्थ में उपस्थित हुए। यहीं लगभग अठहत्तर वर्ष की अवस्था में शिवराम ने भगीरथ स्वामी से संन्यास की दीक्षा ली उनका नूतन नाम-करण हुआ—गणपति सरस्वती। तैलंग देश से आये हुए संन्यासी को काशी के लोग तैलंग स्वामी के नाम से अभिहित करने लगे।

दीक्षा ग्रहण करने के बाद शिवराम गंभीर साधना में निमग्न हो गये। भगीरथ स्वामी ने पुष्कर तीर्थ में ही शरीर त्याग किया। इस पवित्र क्षेत्र में लगभग दस वर्षों तक कठोर साधना करने के बाद तैलंग स्वामी भारत के प्रसिद्ध तीर्थों की परिक्रमा करने के लिए निकले। उस समय उनकी अवस्था लगभग अठासी वर्ष की हो चली

88

थीं। इस वयस में भी उनके सुगठित शरीर में बुढ़ापे का कोई लक्षण न देख कर लोग विस्मित हुए बिना नहीं रहते।

इसके कई वर्ष बाद की घटना है। तैलंग स्वामी तीर्थाटन के क्रम में सेतुबंध रामेश्वर धाम पहुँचे। उस समय वहाँ एक बहुत बड़ा मेला लगा हुआ था। एक दरिद्र एवं रोगी ब्राह्मण-पुत्र की उस तीर्थ में अचानक मृत्यु हो गई। मृतक के संस्कार का आयोजन होने लगा। उसके स्वजनों के विलाप एवं हाहाकार ने वहाँ एक करुण दृश्य उपस्थित कर दिया। प्रशांत-वदन विशालकाय एक संन्यासी दंड-कमंडल हाथ में लिए हुए उस स्थान से होकर जा रहे थे।

मृत व्यक्ति के साथियों के करुण विलाप को सुनकर उनका अंतर विचलित हो उठा। करुणा से विगलित होकर उन्होंने कमंडल से जल अपने हाथ में लिया और अस्फुट स्वर में मंत्रोच्चारण करने लगे।

मृतक के शरीर पर जल छिड़कते ही एक अलौकित घटना घटित हुई। हजारों मनुष्य ने आश्चर्य के साथ देखा कि मृत ब्राह्मण की आंखें धीरे-धीरे खुल रही हैं और वह होश में आ रहा है। उसी समय जनता की भीड़ से बचने के लिए सन्यासी न मालूम कहाँ अदृश्य हो गये। मेला में जो सिद्ध महापुरुष आये हुए थे उनसे इस शक्तिमान संन्यासी का परिचय छिपा नहीं रहा। वे जान गये कि ये ही योगी-गुरु भगीरथ स्वामी के विख्यात शिष्य, गणपति स्वामी—तैलंग महाराज हैं।

इसी बीच और कितने ही वर्ष बीत गये। स्वामीजी महाराज अनेक तीर्थों का भ्रमण करते हुए एक समय नेपाल आ पहुँचे। यहाँ के एक सघन वन-प्रदेश में उन्होंने कुछ समय तक कठोर तपस्या की।

इसी समय एक दिन नेपाल के राणा ने शिकार खेलने के उद्देश्य से गहन वन में प्रवेश किया। एक बाघ का पता चला जिस पर बार-बार उन्होंने निशाना किया किंतु, हर बार निशाना चूक जाता था। अपने साथी शिकारियों और अनुचरों को पीछे छोड़कर राणा ने

द्रुतवेग से शिकार का पीछा किया। कुछ क्षणों के बाद उन्होंने जो कुछ देखा उससे उनके विस्मय की सीमा नहीं रही। उन्होंने देखा कि पास ही एक योगी ध्यानमग्न अवस्था में वृक्ष के नीचे बैठे हुए हैं। और भागता हुआ तथा गर्जन करता हुआ वह बाघ योगी के आसन के सामने आकर जमीन पर लेट गया। योगी ने नेत्र खोले और शरण में आये हुए उस बाघ की पीठ को धीरे-धीरे अपने हाथ से सहलाने लगे, मानो वह पालतू बिल्ली हो।

इसके बाद योगी ने हाथ के इशारे से विस्मय-विमूढ़ राणा को अभय प्रदान किया और अपने पास बुलाया। राणा उनके चरणों में नतमस्तक होकर उनके सामने खड़े हो गये। योगी उन्हें स्नेहपूर्वक कहने लगे, 'देखो वत्स, इससे भय करने का कोई कारण नहीं है। अपने मन से हिंसा-भाव हटा दो, यह बाघ तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकेगा। सब जीव एक ही भगवान की सृष्टि हैं। उनसे प्रेम करो, वे भी तुमसे प्रेम करेंगे। इस बात को ठीक से याद रखना।

विस्मय-विह्वल राणा उसी दिन काठमांडू लौट आये और उन्होंने नेपाल-नरेश से उस अद्भुतकर्मा महायोगी की कहानी कह सुनाई। नेपाल-नरेश श्रद्धार्घ्य के रूप में बहुत से द्रव्य साथ लेकर स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। इसके बाद योगिराज की अलौकिक शक्ति के चमत्कारों की चर्चा जनसमाज में क्रमशः फैलने लगी और बहुत बड़ी सख्या में लोग उनके दर्शनों के लिए आने लगे। लोक-समागम से बचने के लिए स्वामी जी ने उस वनांचल का परित्याग कर दिया।

स्वामीजी की यौगिक शक्ति इस समय तक नाना स्थानों में प्रकट हो चुकी थी। उनकी इस शक्ति से संबंधित जो सब घटनाएँ घटित हुई थीं। उनमें प्रत्येक रोग, शोक एवं ताप-पीड़ित मनुष्य के कष्ट-निवारण की एक करुणा-लीला थी। आर्त्त होकर जिसने भी इस आत्मभोला संन्यासी के हृदय तक अपना निवेदन पहुँचाया, वह उनकी कृपा-वारि से सिक्त हुए बिना नहीं रहा।

नेपाल छोड़ने के बाद तिब्बत एवं मानसरोवर की यात्रा समाप्त करके स्वामीजी नीचे समतल भूमि में उतर रहे थे। उस समय की एक घटना से उनकी कृपा का एक अपूर्व निदर्शन प्राप्त होता है। पहाड़ पर से होकर नीचे उतरते समय स्वामीजी ने सहसा देखा कि मार्ग के बीच में एक स्थान पर ग्रामवासियों की भीड़ लगी हुई है। एक विधवा स्त्री सात वर्ष के एक बालक को गोद में लिए हुए जोर-जोर से रो रही है। यह बालक ही उसके जीवन का एकमात्र सहारा था। उसके साथ जो लोग आये हुए थे वे शव के अग्नि-संस्कार की तैयारी कर रहे थे। इसी समय स्वामीजी धीरे-धीरे चलते हुए वहाँ आ पहुँचे।

तेजःपुंजकलेवर यह कौन संन्यासी है? इसके दर्शन मात्र से पुत्र-शोकातुरा माता का दुःख भी कुछ समय के लिए शांत हो गया। उसे ऐसा लगा कि उसके विपत्ति-निवारण के लिए—उसके बच्चे की प्राणरक्षा के हेतु ही-यह महापुरुष यहाँ आविर्भूत हुए हैं। शोकाकुला माता ने उसी क्षण मृत बालक को अपनी गोद से उतार कर स्वामीजी के चरणों में लेटा दिया।

उस स्त्री को रोती-कलपती देखकर योगी की दोनों आँखों से करुणा की अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। मृत बालक की ओर वे धीर पद से अग्रसर हुए। उनके दिव्य कर-स्पर्श से मृत देह में धीरे-धीरे प्राण-संचार होने लगा। इधर हर्षोत्फुल्ल जननी और आनंदचकित जनसमूह की दृष्टि बचाकर कब मनमौजी संन्यासी किस गिरिकन्दरा में अदृश्य हो गये यह किसी ने नहीं जाना।

मानसरोवर और उत्तराखण्ड से नीचे उतर कर तैलंग स्वामीजी नर्मदा तट पर आ पहुँचे। इस पुण्यमयी नदी के तट पर ही पुराण-प्रसिद्ध मार्कंडेय ऋषि का आश्रम है। उस समय कई विशिष्ट साधु महात्मा उस पवित्र स्थल में तपस्या कर रहे थे। आश्रम के एक कोने में आसन लगाकर तैलंग महाराज ध्यानमग्न हो गये।

खाकीबाबा नामक एक महापुरुष वहाँ बहुत दिनों से बास कर रहे थे। आस-पास में उनकी योगसिद्धि की ख्याति फैलो हुई थी। एक दिन रात्रि के अंतिम प्रहर में खाकीबाबा नर्मदा के तट पर बैठ कर साधना में निरत हो रहे थे। उसी समय अचानक जलधारा की ओर उनकी दृष्टि गई। समीप में ही उन्होंने एक अद्भुत दृश्य देखा। नर्मदा का जलस्रोत एकाएक श्वेत दुग्धधारा में रूपान्तरित होकर कलकल ध्वनि से प्रवाहित होने लगा। स्रोत के बीच खड़े होकर तैलंग स्वा ी परम श्रद्धा के साथ उस दुग्धधारा को अंजुली मे भर-भर कर पान कर रहे हैं। महापुरुष खाकीबाबा को यह समझने में देर नहीं लगी कि नवागत संन्यासी तैलंग स्वामी के योग-बल से ही यह आश्चर्यजनक घटना घटित हुई है। नर्मदा माता की स्तन्य-धारा पान करने के लिए इस महायोगी के हृदय में किस क्षण अभिलाषा जाग उठी थी यह कौन बता सकता है? संभव है कि उनकी अमोघ इच्छा के कारण ही उस जलधारा ने पीयूषधारा का रूप धारण कर लिया हो।

नर्मदा की दुग्धधारा को पान करने के लिए खाकीबाबा भी उत्सुक हो उठे। किन्तु उनके स्पर्श करते ही नदी का जल पहले की तरह हो गया। विस्मय-विह्वल अवस्था में वह निश्चल भाव से नदी-तट पर खड़े रहे। मार्कंडेय-आश्रम के जितने साधु थे सब स्वामीजी की श्रद्धा करते थे और उनसे प्रेम करते थे। महात्मा खाकीबाबा के मुख से योगी के चमत्कार की कहानी सुन कर सबने यही समझा कि यह नवागत संन्यासी साधना के चरम शिखर पर पहुंचे हुए हैं; उनकी यौगिक शक्ति का अनुमान करना कल्पना से परे है। नर्मदा-तट के आश्रम में आठ वर्षों तक वास करने के बाद स्वामीजी १७३३ ई० में प्रयाग आये।

एक दिन स्वामीजी त्रिवेणी-संगम-घाट पर बैठे हुये थे। आकाश में घनघटा छायी हुई थी। बीच-बीच में मेघपुंज को चीर कर

बिजली कौंध उठती थी। शीघ्र ही जोरों को वर्षा होने वाली है, यह देखकर लोग वहाँ से चले गये थे। रामतारण भट्टाचार्य नामक एक ब्राह्मण स्वामीजी की बड़ी भक्ति करते थे। उनकी दृष्टि स्वामोजी के ऊपर पड़ी। झड़ीवर्षा में इस महापुरुष को बड़ा कष्ट होगा, ऐसा सोच कर वे स्वामीजी के लिए चिंतित हो उठे। समीप में पहुँचकर बोले, "बाबा, जोरों की वर्षा होने वाली है। आप नदी-तट पर बैठकर व्यर्थ क्यों कष्ट उठा रहे हैं? पास के ही किसो घर में चल कर बैठिये।'

स्वामीजी ने प्रशांत कंठ से उत्तर दिया, "मेरे लिए फिक्र मत करो, मुझे कोई तकलीफ नहीं होगी। लेकिन उस नाव के यात्रियों की रक्षा तो करनी होगी।"

स्वामीजी के इशारा करने पर रामतारण बाबू ने देखा कि नदी की बीच धारा में एक नौका बार-बार लहरों के वेग में पड़ कर जोरों से हिल-डोल रही है। उस पर कुछ यात्री सवार थे और वह नदो पार करके संगमघाट की ओर बढ़ती चली आ रही थी। प्रचण्ड लहर की चपेट में पड़कर नौका एकाएक मझधार में डूब गई।

यह दृश्य देखकर रामतारण आर्त्तस्वर से रुदन करने लगे। बगल में बैठे हुए स्वामीजी से वह कुछ कहना ही चाहते थे कि आश्चर्य के साथ उन्होंने देखा कि क्षण भर में स्वामीजी न मालूम कहाँ चले गये ओर उनका आसन शून्य पड़ा था। नदी की ओर जब रामतारण ने नजर दौड़ायी, तो वे एकबारगी हक्का-बक्का हो गये। देखा कि डूबी हुई नौका फिर मानो किसी जादू के बल से जल के ऊपर तैरने लगी है।

आरोहियों के साथ जब नौका घाट पर लगी, भट्टाचार्य महाशय उस समय और भी विमूढ़ बन गये। उन्होंने देखा कि तैलग स्वामी भी अन्य आरोहियों के साथ नौका से घाट पर उतर रहे हैं। कहाँ से और कब संन्यासी उस नौका पर सवार हो गये इसका पता न तो आरोहियों को था और न नौका वाले मांझियों को।

उस समय तक भी आँधी-पानी का वेग शांत नहीं हुआ था। स्नानघाट सुनसान जैसा था। रामतारण बाबू ने तैलंग स्वामी को साष्टांग प्रणाम किया और इस अलौकिक योगविभूति का रहस्य उनसे जानना चाहा। स्थान त्याग करते हुए स्वामीजी ने मंद मुस्कान के साथ कहा—"रामतारण, इसमें आश्चर्यचकित होने की कोई बात नहीं है। सब मनुष्यों में ऐसी शक्ति सुषुप्त रहती है। उसे जाग्रत करने पर सब कुछ संभव हो सकता है। इसमें अस्वाभाविकता कुछ भी नहीं है। अपने प्रकृत स्वभाव से च्युत होकर ही मनुष्य अस्वाभाविक बन गया है। यही कारण है कि जो उसकी अति स्वाभाविक शक्ति है उसे अलौकिक एवं अस्वाभाविक समझ कर वह विस्मित होता है।

इसके बाद तैलंग स्वामी वाराणसी चले आये। १७३७ ई० का माघ महीना। उस समय कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। एक दिन तड़के असीघाट पर इस विशालकाय नग्न संन्यासी को अचानक देखा गया। उनके आगमन से काशी के जन-जीवन में एक तहलका-सा मच गया। इसके बाद डेढ़ सौ वर्षों तक काशी में इस महापुरुष के योगैश्वर्य की एक-न-एक लीला प्रकट होती ही रही। विश्वनाथपुरी काशी में वे सचल विश्वनाथ के नाम से विख्यात हुए और इस देश के साधकों में उन्होंने अभूतपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की।

भारत के कोने-कोने से प्रतिवर्ष असंख्य पुण्यकामी यात्री काशी आया करते थे और इस समय भी आते हैं। किन्तु उस समय जितने यात्री आते थे, वे विश्वनाथ, अन्नपूर्णा, दशाश्वमेध, मणिकर्णिका आदि के दर्शन करने के बाद इस महायोगी का भी दर्शन अवश्य करते थे।

आरम्भ में स्वामीजी असीघाट पर तुलसीदास के बगीचे में रहा करते थे। एक दिन यहाँ से वे लोलार्क कुण्ड पर चले आये। एक कुष्ट-रोगी और जन्म से ही बधिर व्यक्ति रास्ते के किनारे बैठ कर पीड़ा से कराह रहा था। उसका नाम ब्रह्मसिंह था और वह अजमेर

का निवासी था। इस विकटदर्शन रोगी के व्याकुल चीत्कार को सुनकर स्वामीजी करुणार्द्र हो उठे। धीरे-धीरे चल कर उस रोगी के सम्मुख उपस्थित हुए।

इस महापुरुष के दर्शन मात्र से ब्रह्मसिंह अपनी दुःख-पीड़ा भूल गया और आकुल भाव से उसके कंठ से शिवाराधना के स्तोत्र उच्चरित होने लगे। उसकी स्तुति-बंदना सुन कर महायोगी का मुख-मंडल प्रसन्न हँसी से दीप्त हो उठा। एक बेलपत्र उन्होंने ब्रह्मसिंह के सामने रख दिया और कहा, "चिन्ता मत करो, लोलार्क कुण्ड में स्नान करके यह बेलपत्र मस्तक पर धारण करो, शीघ्र ही रोग से छुटकारा पा जाओगे।" ब्रह्मसिंह शीघ्र ही इस विकट व्याधि से मुक्त हो गया और उसकी गणना स्वामीजी के एकनिष्ठ सेवक के रूप में होने लगी।

इसके बाद स्वामीजी वेदव्यास-आश्रम में रहने लगे। एक दिन गंगा-घाट पर उपस्थित होकर उन्होंने देखा कि एक वृद्ध ब्राह्मण मृतप्राय अवस्था में पड़ा हुआ है। उसके चारों ओर लोगों की भीड़ लगी हुई है। उसका नाम था सीतानाथ बंद्योपाध्याय। कई वर्षों से वह यक्ष्मा रोग से पीड़ित था और कंकाल-तुल्य बन गया था। आज वह गंगा-स्नान के लिये आया था और पीड़ा से बेहोश हो गया था। स्नान करने के लिए और जो लोग आये हुए थे, उनमें कोई-कोई उसकी सेवा-शुश्रूषा कर रहे थे। कुछ लोग यह दुःखद दृश्य देख कर हाय-हाय कर रहे थे। तैलंग स्वामी गंगा जाते समय सहसा वहाँ रुक गये। उस मरणासन्न रोगी ने न मालूम क्यों उस दिन महायोगी के मन को चंचल कर दिया !

तैलंग महाराज ने रोगी के सामने आकर अपनी अँगुली से उसके वक्ष को स्पर्श किया। सीतानाथ की बेहोशी धीरे-धीरे दूर होने लगी। उन्हें ऐसा लगा कि आज वे पुनजर्वीन प्राप्त कर रहे हैं। आँख खोल-कर देखा कि विशालकाय योगिवर उनके सामने खड़े हैं।

ब्राह्मण ने हाथ जोड़कर दुःख के साथ अपने असाध्य रोग की

कहानी स्वामीजी को कह सुनाई। कृपामय तैलंग महाराज ने उन्हें अभय प्रदान करते हुए औषध के रूप में गंगा की कुछ मिट्टी दी और कहा कि गंगास्नान के बाद प्रति दिन इसका सेवन करना। सीतानाथ कुछ समय के बाद ही सम्पूर्ण रोगमुक्त हो गये।

स्वामीजी जिस समय हनुमान-घाट पर वास कर रहे थे उस समय भी एक विचित्र घटना घटित हुई। उस महल्ले की एक कुलीन महाराष्ट्रीय महिला प्रतिदिन विश्वनाथ की पूजा करने जाया करती थी। पूजा की सामग्री लेकर एक दिन वह मंदिर की ओर जा रही थी। एका-एक उसने देखा कि चौड़े रास्ते को बंद जैसा करके एक नग्न, विशाल-काय संन्यासी विपरीत दिशा से आगे बढ़ते हुए आ रहे हैं। भय एवं संकोच से महिला हट कर एक किनारे हो गई। उसने स्वामीजी के प्रति कटु वाक्यों का प्रयोग किया—संन्यासी होकर यदि नग्न रहना है, तो फिर जंगल में क्यों नहीं चले जाते? इस जनबहुल तीर्थ-स्थान में पड़े रहने से क्या लाभ? व्यंग्यपूर्ण तिरस्कार एवं धिक्कार के वचन-वाणों द्वारा वह महात्मा को विद्ध करने लगी। किन्तु स्वामीजी पर इन सबका कोई असर नहीं पड़ा। वे निर्विकार बने रहे। प्रशांत-चित्त हिलते-डुलते वे सामने से होकर चले गये।

महिला यथारीति विश्वनाथजी की पूजा करके स्वगृह लौट गई। उसी रात उसने एक विचित्र स्वप्न देखा। विश्वनाथ स्वयं उसके सामने उपस्थित होकर सक्रोध उसका तिरस्कार करते हुए उसे कह रहे हैं, "तुम जिस संकल्प को लेकर प्रतिदिन मेरी पूजा कर रही हो वह संकल्प मेरे द्वारा सिद्ध नहीं होगा। जिस नग्न योगिराज का तुमने आज मार्ग में अपमान किया है, केवल उनकी कृपा से ही तुम्हारी मनोकामना पूर्ण होगी, दूसरा कोई उपाय नहीं है।"

उक्त महिला के पति के पेट में एक सांघातिक घाव हो गया था जिससे वे मरणासन्न हो गये थे। पति की रोगमुक्ति का संकल्प लेकर ही वह अबतक नियमित रूप से विश्वनाथ की पूजा करती आ रही

थी। आज यह स्वप्न देख कर वह भय से काँप उठी। संन्यासी को अपमानित करने का तीव्र पश्चात्ताप उसके मन में होने लगा। अब क्या वह महापुरुष मुझे क्षमा कर देंगे? क्या उसकी मनोकामना सिद्ध होगी? फिर वह सोचने लगी, उस निर्विकार योगी ने तो उसके कटु वचनों को सुना ही नहीं—अपने भाव में तन्मय होकर वे चुप-चाप चले गये। अवश्य ही उनकी कृपा मिलेगी।

व्याकुलचित्त वह महाराष्ट्रीय नारी इसके दूसरे ही दिन स्वामीजी के समीप उपस्थित होकर उनके चरणों में गिर पड़ी और हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगी। उसने स्वामीजी से अपने पति की रोगमुक्ति की याचना की। उसे वरदान शीघ्र ही मिल गया। स्वामीजी द्वारा प्रदत्त किंचित भस्म का शरीर में लेपन करके उसके पति रोग से छुटकारा पा गये।

१९१५ ई० की घटना है। एक देशी नरेश सपत्नीक तीर्थ यात्रा करने काशी आये थे। निश्चित पुण्य मुहूर्त्त में वे दशाश्वमेध-घाट पर अपनी रानी तथा अन्य स्वजनों के साथ स्नान करेंगे। उनका राज-प्रासाद इस घाट के समीप ही था। रानी तथा राजा के अतःपुर में रहने वाली अन्य रमणियों के स्नान के लिए एक कनात तैयार की गई थी जो महल से लेकर घाट तक फैली हुई थी।

राजा और रानी जिस समय स्नान करने के लिए उस घेरे के अंदर से होकर नीचे उतरे, उस समय एक अद्भुत कांड हो गया। सिपाहियों का बड़ा पहरा होते हुए भी न मालूम किधर से एक नग्न संन्यासी उनके सामने आ उपस्थित हुये। रानी डरकर एक बगल में हो गई। राजा के आवाज देने पर उसके अनुचरगण उस संन्यासी को घेर कर खड़े हो गये। क्रोधांध राजा उस संन्यासी को दंड दिये बिना नहीं छोड़ सकते थे। संन्यासी को सिपाहियों के पहरा में महल में ले जाया गया।

दशाश्वमेध-घाट को जनता इस संन्यासी से भलीभाँति परिचित

थी। उसी समय यह बात फैल गई कि तैलंग स्वामी को पकड़ कर महल में ले जाया जा रहा है। कतिपय विशिष्ट जन, जो स्वामीजी के भक्त थे, राजा के पास गये और संन्यासी का वास्तविक परिचय दिया। तैलंग स्वामी को छोड़ दिया गया अवश्य, किन्तु राजा के कतिपय अनुचरों ने उस दिन उनका बहुत अपमान किया।

उसी दिन रात में राजा बहादुर एक आतंकजनक स्वप्न देखकर भय से चिल्ला उठे। उन्होंने देखा, जटाजूटधारी, व्याघ्रचर्म का परिधान धारण किये हुए एक पुरुष सक्रोध त्रिशूल हिला रहा है। उसने राजा को बुलाकर कहा, 'तुम्हारी इतनी हिमाकत ! तुम्हें तैलंग स्वामी का परिचय प्राप्त हुआ, फिर भी तुम्हारे अनुचरों ने उन्हें अपमानित किया। तुम्हारे समान दुराचारी शिवपुरी काशी में रहने के उपयुक्त नहीं है। तुम शीघ्र यहाँ से दूर हो जाओ।'' भयभीत राजा के चीत्कार को सुनकर महल के सब लोग जाग पड़े। किसी अज्ञात विपत्ति की आशंका से व्याकुल होकर सब लोगों ने रात बितायी। दूसरे दिन सबेरे ही राजा तैलंग स्वामी के सन्निकट गये और उनके चरणों पर गिर पड़े। परम कृपालु आनंदमूर्त्ति महायोगी ने राजा को उसी क्षण क्षमा प्रदान कर दी।

स्वामीजी एक शक्तिधर योगी हैं, इस बात का लोगों में प्रचार होने में देर नहीं लगी। जभी वह रास्ते पर निकलते थे आधि-व्याधि-पीड़ित दल-के-दल लोग उनका पीछा करते थे। इनसे बचने के लिए योगिराज का प्रधान आश्रय था, उनकी गंगा माता। स्वामीजी घाट पर आकर बैठ जाते थे और ध्यानाविष्ट हो जाते थे। और जब वहाँ बहुत भीड़ होने लगती थी, दोनों हाथ फैलाकर गंगा में कूद पड़ते थे। इस तरह वे घंटों अपने विशाल शरीर को लेकर सहज ही जल में स्वेच्छा-पूर्वक विहार करते रहते थे, और लोग अपलक दृष्टि से यह दृश्य देखते रहते थे।

गंगा के प्रति स्वामीजी का प्रबल अनुराग और उसकी धारा में

उनका स्वच्छंद विचरण देखकर कुछ लोग कहा करते थे—ऐसा लगता है कि गंगापुत्र भीष्म का एक बार पुनः इस धराधाम पर अवतार हुआ है। तैलंग स्वामी के एक शिष्य उमापद मुखोपाध्याय ने उनके गंगा-विहार का एक सुन्दर विवरण दिया है :—

"हम दोनों स्नान करने के लिए जल में उतरे। वे बिना हिले-डुले कुछ क्षणों तक जल के ऊपर चित्त होकर बहने लगे। इसके बाद किसी अंग का संचालन किये बिना, धारा की विपरीत दिशा में प्रवाहित होने लगे। इस तरह कुछ दूर जाकर फिर जल में कहाँ अदृश्य हो गये यह कोई देख नहीं सका। फिर दो घंटों के बाद मेरे निकट आकर जल के ऊपर बहने लगे। फिर जल से निकलकर सीढ़ियों के ऊपर बैठ गये। मैंने उनके शरीर का जल पोंछ दिया और हम दोनों आश्रम के लिए चल पड़े।" गंगा की धारा में बहते समय स्वामीजी एक बालक की तरह नाना भाँति के आचरण किया करते थे। दिगम्बर आत्म-भोला इस ब्रह्मज्ञानी महापुरुष के नदी-विहार से काशी का कोई भी नागरिक अपरिचित नहीं था।

एक बार उज्जैन के राजा काशी आये। व्यास-काशी और राम-नगर का परिदर्शन करके वे नौका से इस पार लौट रहे थे। सहसा उन्होंने देखा कि एक विशालकाय पुरुष गंगा की धारा में बह रहे हैं। नौका पर जो लोग सवार थे उनमें कोई-कोई स्वामीजी को पहचानते थे। उन्होंने राजा को इस महायोगी का परिचय दिया। कुछ ही समय के बाद देखा गया कि तैलंग स्वामी तैरते हुए उस नौका की ओर बढ़ रहे हैं। निकट आने पर सब लोगों ने उन्हें जलधारा से निकाल कर नाव पर बैठा दिया।

अपने दरबारियों के साथ राजा बहादुर ने स्वामीजी को प्रणाम किया। मौजी योगिराज के चारो ओर लोग कौतूहलवश बैठे हुये हैं। ऐसे समय में ही स्वामीजी एक मौजी बच्चे की तरह आचरण कर बैठे। राजा की कमर से लटकती हुई तलवार की ओर उनका ध्यान

गया। उन्होंने राजा से माँग कर तलवार ले ली और कुछ क्षणों तक उसे अपने हाथ से घुमाते-फिराते रहे। फिर क्या समझ कर उन्होंने उसे गंगा में फेंक दिया। सब लोग संत्रस्त हो रहे थे कि क्या होगा और उधर स्वामीजी एक बालक की तरह हँस रहे थे—मानों यह कोई मजा का खेल हो। राजा को यह तलवार अंगरेज सरकार से खिलअत के रूप में मिली थी। इस मूल्यवान वस्तु को खोकर उनके क्षोभ एवं क्रोध की सीमा नहीं रही। उन्मत्त संन्यासी को कठोर दंड देने की वह धमकी देने लगे।

राजा के साथ में जो लोग थे उनमें दो-एक प्रतिष्ठित व्यक्ति भी थे। ये तैलग स्वामी को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। क्रुद्ध राजा को वे बार-बार आश्वासन दे रहे थे कि गोताखोरों की सहायता से तलवार को निकालने की चेष्टा की जायगी।

नौका क्रमशः घाट पर आकर लगी। क्रुद्ध राजा किसी प्रकार भी उस संन्यासी को छोड़ देने के लिए तैयार नहीं थे। वे उन्हें दंड देकर ही छोड़ना चाहते थे।

अब तक स्वामीजी सब कुछ मौन होकर सुन रहे थे। इस बार उन्होंने हँसते हुए गंगा की धारा के भीतर अपना हाथ रखा। और यह क्या आश्चर्य! सब लोगों ने विस्मय से अभिभूत होकर देखा कि गंगा के तलभाग से दो चमकती हुई तलवारें निकल कर स्वामीजी के हाथ में हैं। राजा की जिस तलवार को स्वामीजी ने गंगा में फेंक दिया था, ये दो तलवारें ठीक उसके अनुरूप थीं। योगिराज ने राजा से कहा कि दोनों में कौन तुम्हारी है पहचान कर ले लो। राजा हतबुद्धि होकर स्वामीजी की ओर ताक रहे थे। समझ में नहीं आ रहा था कि कौन-सी तलवार ग्रहण करें। दोनों हू-ब-हू एक समान थीं।

तैलंग महाराज ने अब अपना मौन भंग किया। राजा को तिरस्कृत करते हुए उन्होंने कहा,—"मूर्ख, तुम जिस वस्तु को अपना समझ रहे थे उसे पहचान तक नहीं सके। मैं देख रहा हूँ कि तुम मोह, दंभ

एवं अभिमान से भरे हुए हो। इहकाल और परकाल में मनुष्य का जो नित्य संगी है वही तो उसकी अपनी वस्तु है। मृत्यु के बाद यह तलवार निश्चय ही तुम्हारे साथ नहीं जायगी। जो साथ नहीं जायगा, जिसे इस पार ही छोड़कर चला जाना होगा वह वस्तु तुम्हारी किस प्रकार हो सकती है? जो चीज अपनी नहीं है उसके लिए क्या इतना क्षोभ, इतना क्रोध करना उचित है?"

भीत, विस्मित राजा के सम्मुख उसकी जो तलवार थी उसे रखकर दूसरी तलवार को उन्होंने गंगा में फेंक दिया। अब राजा को अपनी मूढ़ता समझ में आने लगी थी। स्वामीजी के चरणों में गिर कर वे क्षमायाचना करने लगे। योगिराज ने उन्हें आशीर्वाद दिया और इसके बाद वे पुनः गंगा की धारा में बहने लगे।

असीघाट के सामने से होकर एक दिन स्वामीजी गंगा में उतर रहे थे। इसी समय उन्होंने एक हृदय-विदारक दृश्य देखा। एक सद्यः विधवा स्त्री अपने मृत पति के शरीर से लिपटी हुई उन्मादिनी की तरह रो-चिल्ला रही थी। गत रात्रि में उसके पति की मृत्यु साँप के काटने से हुई थी। साँप के काटने से मरे हुए मनुष्य के शव को जलाया नहीं जाता। प्रचलित प्रथा के अनुसार उसे पानी में भसा दिया जाता है। मृत व्यक्ति के आत्मीय जन उसके शव को गंगा में विसर्जन कर देने के लिए आये हुए थे। किंतु उस युवती विधवा के उन्मत्त आचरण एवं आर्त्तनाद के कारण सभी हतबुद्धि जैसे हो रहे थे।

स्वामीजी ने जब यह दृश्य देखा, उनके हृदय में करुणा का संचार हो आया। पति-वियोग-विधुरा रमणी के असहाय क्रंदन को सुनकर वे द्रवित हो उठे। उन्होंने तत्काल गंगा की रेती से कुछ मिट्टी उठा कर क्षतस्थान पर उसका लेपन कर दिया। इसके बाद न मालूम वे कब गंगा की धारा में अदृश्य हो गये। कुछ ही समय के बाद मृत व्यक्ति ने धीरे-धीरे अपनी आखें खोलीं। जब उसे होश आया, अपने को इस दशा में पाकर वह आश्चर्यचकित हो गया। उसके साथ जो

लोग आये हुए थे, वे अबतक अवाक होकर स्वामीजी के कार्य को देख रहे थे। अब मृत व्यक्ति में प्राणों का संचार देखकर वे अपने-आप में आये। अद्भुत-कर्मा तैलंग स्वामी की खोज घाट-घाट पर होने लगी, किन्तु उनका कहीं पता नहीं चला। योगिराज उसी क्षण अदृश्य हो गये।

वाराणसी में कतिपय अंगरेज सरकारी कर्मचारी रहा करते थे। बीच-बीच में अन्य साहब, मेम भी पर्यटक के रूप में वहाँ आ जाया करते थे। योगिवर तैलंग स्वामी प्रायः अपनी मर्जी के अनुसार यत्र-तत्र नग्न अवस्था में घूमा करते थे। यूरोपियनों को यह बहुत बुरा लगता था। खास कर उनकी बीबियाँ इस नग्न संन्यासी को देखकर अत्यंत संकुचित हो जाती थीं। काशी के तत्कालीन अंगरेज मजिस्ट्रेट ने संन्यासी के इस घिनौने आचरण के विरुद्ध काररवाई करने का विचार किया।

स्वामीजी नग्न होकर गंगा-घाट पर बैठे हुए थे। सहसा एक पुलिस-कर्मचारी वहाँ आया और उसने उन्हें थाना चलने के लिए कहा। उस ध्यानाविष्ट योगी के कानों में पुलिस-कर्मचारी का एक शब्द भी नहीं गया। पुलिस-कर्मचारी अपने को अपमानित समझ कर संन्यासी को मारने पर उतारू हो गया। किन्तु भक्तों के प्रतिवाद करने पर वह रुक गया। इसके बाद वह थाना पर गया और अन्य कई सिपाहियों को साथ ले आया। मौनी स्वामीजी को एक डोला पर चढ़ाकर वे मजिस्ट्रेट के सामने ले गये।

साहब ने स्वामीजी को हुक्म दिया कि वे अब नग्न न रहें और न यत्र-तत्र इस तरह घूमा करें। किंतु स्वामीजी ने इधर बिलकुल ध्यान नहीं दिया। वे पहले की तरह मौन बने रहे। मजिस्ट्रेट क्रोध से जल उठे। हुक्म दिया, अभी इस नग्न संन्यासी को हथकड़ी लगा कर हाजत में ले जाओ।

क्षण भर में वहाँ एक अलौकिक कांड हो गया। पहरा से घिरे हुए

कमरे से मजिस्ट्रेट और समवेत जनसमूह के सामने ही संन्यासी एकाएक गायब हो गये। अभी-अभी वे साहब के सामने ही तो खड़े थे। इजलास के भीतर-बाहर उन्हें सब जगह खोजा गया, मगर कहीं पता नहीं चला। पुलिस-कर्मचारी जिस समय अत्यंत उद्‌विग्न हो रहे थे, उसी समय सहसा देखा गया कि तैलग स्वामी अपने पूर्व स्थान पर चुपचाप खड़े हैं। नग्न संन्यासी के मुख-मंडल पर बाल-सुलभ हँसी विराज रही थी।

मजिस्ट्रेट हतबुद्धि-सा हो रहे थे। अब उन्हें यह ज्ञान हुआ कि यह संन्यासी साधारण मनुष्य नहीं है। इस बीच स्वामीजी के कतिपय भक्त एक वकील साथ लेकर अदालत में उपस्थित हुए। अंगरेज मजिस्ट्रेट को इन लोगों ने बताया कि यह एक विख्यात साधु हैं; समस्त सांसारिक लोभ-मोह से परे हैं। इनकी दृष्टि में चंदन एवं विष्ठा एक समान हैं। शरीर पर वस्त्रधारण की आवश्यकता कुछ भी नहीं समझते। एक बंगाली डिप्टी मजिस्ट्रेट भी इस कथन का समर्थन करते हुए मजिस्ट्रेट को समझाने लगे।

मजिस्ट्रेट न कहा—"बहुत अच्छा। यदि इस व्यक्ति को सब वस्तुओं में समज्ञान है, तो इसे यहाँ मेरे सामने ही मेरा भोजन ग्रहण करना होगा।"

निषिद्ध मांसयुक्त खाना यह संन्यासी किस प्रकार खायगा, यही मजिस्ट्रेट देखना चाहते थे। तैलंग महाराज से पूछा गया कि उन्हें साहब का खाना खाने में कोई आपत्ति तो नहीं है। स्वामीजी जो अबतक मौन थे, प्रशांत कंठ से कहने लगे – 'साहब तुम्हारा खाना मैं खा सकता हूँ, लेकिन इसके पहले तुमको मेरा खाना खाना होगा।'

मजिस्ट्रेट राजी हो गये। उन्होंने सोचा, यह कौन बड़ी बात है? हिन्दू संन्यासी तो प्रधानतः फलाहार ही करते है। फलाहार ग्रहण करने में उन्हें क्या आपत्ति हो सकती है? किन्तु संन्यासी को तो निषिद्ध मांस भक्षण के लिए बाध्य किया जा सकता है।

जनसमूह से भरे हुए इजलास में उस समय स्वामीजी ने एक अद्भुत कांड कर डाला। अपने हाथ के ऊपर मलत्याग करके साहब की ओर उसे फैलाते हुए उन्होंने कहा, "साहब, यही मेरा आज का खाना है।"

ब्रह्मज्ञानी महायोगी चंदन एवं विष्ठा में समबुद्धि रखने वाले थे। इस विचित्र भोजन को वे निर्विकार चित्त से निगल गये। असाधारण योग शक्ति के प्रभाव से विष्ठा जैसी घृणित वस्तु एक स्वादिष्ट भोजन के रूप में परिणत हो गई थी। अदालत के कमरे में सर्वत्र उसकी सुगंध फैल गई थी। साहब को यह समझने में देर नहीं लगी कि इस संन्यासी की तप शक्ति अपरिमेय है, और इसके क्रिया-कलाप साधारण मनुष्य से सर्वथा भिन्न हैं। तुरंत उन्होंने आदेश दिया, 'तैलंग स्वामी नग्न रहकर चाहे जहाँ विचरण कर सकते हैं, इसमें उन्हें कभी किसी प्रकार की बाधा नहीं दी जायगी।"

इसके बाद शीघ्र ही जिला मजिस्ट्रेट की बदली दूसरी जगह हो गई। उनके स्थान पर जो नया साहब आया, वह मिजाज का बहुत कड़ा था। स्वामीजी एक दिन, जैसी उनकी आदत थी दशाश्वमेध-घाट पर बहुत से लोगों के बीच नग्न घूम रहे थे। इस दृश्य को देखकर नया मजिस्ट्रेट आग बबूला हो उठा। फौरन ही संन्यासी को पकड़ कर हाजत में बंद कर दिया गया। स्वामीजी के भक्तों एवं विशिष्ट नागरिकों की अनुनय-विनय पर उसने कुछ भी ध्यान नहीं दिया।

दूसरे दिन साहब इस नये कैदी को हाजत में देखने गया। वहाँ पहुँचते ही वह आश्चर्यचकित हो गया। देखा कि संन्यासी परम निश्चिंत मन से हाजत के बरामदा पर टहल रहे हैं। किस प्रकार तालाबंद हाजत से वह बाहर निकल आये, कोई बता नहीं सकता। मजिस्ट्रेट क्रुद्ध हुआ और उसने पहरा देनेवालों को बुलाया। तैलंग स्वामी को जिस कमरे में बंद किया गया था, उसका दरवाजा पहले की तरह बंद था। साहब ने अपने अनुचरों के साथ लोहे का दरवाजा, ताला, कुंजी, कमरे की दीवाल सब कुछ की अच्छी तरह जाँच-पड़-

ताल की। बंद कैदी हाजत से बाहर निकल सकता है, ऐसा कोई भी उपाय समझ में नहीं आया।

मजिस्ट्रेट ने गम्भीर भाव से तैलंग स्वामी से प्रश्न किया—"साधु, ठीक-ठीक बताओ, तुम किस तरह हाजत से बाहर निकल आये ?'

स्वामीजी ने सहज भावसे कहा, "प्रभात में बाहर आने की मेरी इच्छा हुई, और इच्छा होते ही क्षण भर में मैं बाहर निकल आया. इसमें कोई बाधा नहीं हुई।"

हाजत का कमरा जलमय हो गया था। इस ओर जब उनका ध्यान खींचा गया, उन्होंने अविचलित भाव से कहा, "रात में मुझे जोर से पेशाब लगा, देखा कमरा बंद था। उस समय कमरे से बाहर निकलने की इच्छा नहीं हुई, इसलिए शयनावस्था में ही किंचित मूत्र-त्याग किया। फिर रात्रि के अंतिम प्रहर में अंधकारपूर्ण कमरा अच्छा नहीं लगा, इसलिए वहाँ से निकल कर बरामदे पर टहल रहा हूँ।"

स्वामीजी के इस कथन को सुनकर मजिस्ट्रेट और भी क्रुद्ध हो उठा। बंदी को फिर हाजत में रखकर और अपने हाथ से दोहरा ताला लगाकर मजिस्ट्रेट वहाँ से कोर्ट चला गया। कुछ ही क्षणों के बाद फिर एक अद्भुत दृश्य देखा गया। साहब ने देखा हाजत की बात तो दूर रही, इस बार उसके इजलास के कमरे के एक कोने में ही नग्न संन्यासी खड़े हैं। उनके मुख-मंडल पर कौतुक-चपल मृदु हास्य का छटा बिराज रही है। इस असभव घटना को देखकर मजिस्ट्रेट की अक्ल गुम हो गई।

योगिराज तैलंग स्वामी धीरे-धीरे चल कर साहब के सम्मुख उपस्थित हुए। प्रशांत कंठ से कहने लगे, "साहब, तुम दूसरे लोगों की तरह केवल जड़शक्ति में ही विश्वास करते हो। इस जड़ जगत में ही एक महा चैतन्य लोक ओत-प्रोत है, जो तुम्हारे लिए अज्ञात है। उस चैतन्य लोक के साथ जिसका सम्पर्क स्थापित हो गया है, कोई बंधन, कोई बाधा, उसके स्वेच्छा-विचरण को रोक नहीं सकती। भारतीय

योगियों के लिए संसार का कोई भी कार्य कभी असाध्य नहीं हो सकता। बोलो तो, मेरे जैसे साधु-संन्यासी को परेशान करके तुम्हें क्या मिलेगा ? इसके सिवा तुम में यह शक्ति ही कितनी है ?"

जब साहब होश में आये। उन्होंने आदेश दिया, "तैलंग स्वामीजी चाहे जहाँ नग्न अवस्था में घूम सकते हैं, इसमें कोई रोक-टोक नहीं की जायगी।" इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने इस प्रकार का एक विशेष आदेश भी जारी किया कि भविष्य में इस संन्यासी को कोई किसी प्रकार का नष्ट न दे।

अपने जीवन के अंतिम वर्षों में तैलग महाराज अधिकतर पंचगंगाघाट पर ही रहने लगे थे। पास में ही उनके एक भक्त महाराष्ट्रीय ब्राह्मण मंगल भट्ट रहा करते थे। लगभग सात वर्षों की साधना के बाद वे महायोगी को अपने घर ले जाने में समर्थ हुए। अब स्वामीजी का एक निश्चित आवास हुआ अवश्य, किन्तु स्वेच्छाचारी योगी महापुरुष एक स्थान पर निश्चित होकर भला कबतक रह सकते थे ? स्वामीजी अपने मन की तरंग के अनुसार कभी दशाश्वमेध-घाट पर और कभी मणिकर्णिका की श्मशान भूमि में विचरण करते थे। जब कभी इच्छा होती, गंगा की तीव्र धारा में चुपचाप लेटे सानंद बिहार करते रहते। अबतक उन्होंने प्राय. मौनी रहकर भी बोलना एकदम बंद नहीं किया था। मंगल भट्ट के घर पर आने के बाद से वहाँ जनसमागम बढ़ गया था। व्याधि पोड़ित स्त्री-पुरुष एव अध्यातम-जिज्ञासु साधकों का आना-जाना लगा ही रहता, जिससे स्वामीजी उद्‌विग्न हो उठे थे। इससे बचने के लिए उन्होंने अधिकतर मौनावलंबन कर लिया। अत्यावश्यक होने पर ही वे दो-चार शब्द बोला करते थे, अन्यथा मौन रहकर ही साधना में रत रहते थे।

गंगा में जल-विहार तथा इधर-उधर स्वेच्छा-भ्रमण के बाद वे लौटकर मंगल भट्ट के आश्रम में आ जाते थे। उस समय जो लोग उनके दर्शनों के लिये जाते थे उनके साथ, और अपने शिष्यों के साथ

भी, वे मौन रहकर इशारे से ही बातचीत किया करते थे। इस समय उनके एकनिष्ठ भक्त सेवक मंगल भट्ट उनके सहायक के रूप में कार्य करते थे। मंगल भट्ट की कुटिया के आँगन में मुक्त आकाश के नीचे प्रस्तर की एक उच्च वेदी पर स्वामीजी सोया करते थे। उसके नीचे दीवाल पर शास्त्र-ग्रन्थों के बहुत से श्लोक एवं नीतिवाक्य लिखे हुए थे। कोई साधक या मुमुक्षु यदि कोई प्रश्न पूछता तो उत्तर में केवल वे अँगुली से इशारा कर देते, और मंगल भट्ट उस श्लोक की व्याख्या करके प्रश्नकर्त्ता की जिज्ञासा को शान्त कर देते थे।

स्वामीजी के आवास के एक प्रान्त में एक और प्रस्तर-निर्मित शिवमूर्ति और नरमुण्डमालिनी महाकाली की एक पाषाण प्रतिमा थी। तैलंग महाराज के साधन जीवन के ये ही दो मुख्य प्रतीक थे। शिव एवं शक्ति, योग एवं तंत्र की साधना के समाहार के बीच से होकर ही कठोर तपस्वी महायोगी तैलंग स्वामी का विराट् अध्यात्म-जीवन गठित हुआ था।

एकबार काशी में रामकृष्ण परमहंस के साथ तैलंग स्वामी का साक्षात्कार हुआ। स्वामीजी के दर्शनों के बाद ठाकुर बोले, "देखो, साक्षात् विश्वनाथ उनके शरीर का आश्रय ग्रहण कर प्रकट हो रहे हैं। वे उच्च ज्ञानावस्था को प्राप्त हो चुके हैं। शरीर का कोई ज्ञान नहीं। धूप में बालू इस प्रकार तपी हुई है कि कोई उस पर पाँव तक नहीं रख सकता था और उस बालू के ऊपर ही स्वामीजी मजे में सोये हुए हैं।'

१८६८ की बात है। मथुर बाबू के साथ रामकृष्ण परमहंस काशी की तीर्थयात्रा करने आये हैं। विश्वनाथ-दर्शन के बाद वे 'सचलशिव' तैलंग स्वामी के दर्शन के लिए चल पड़े। उस समय स्वामीजी का अधिकांश समय मणिकर्णिका-घाट पर व्यतीत होता था। अपने भगिना हृदय को साथ लेकर परमहंस देव वहाँ उपस्थित हुए। श्मशानचारी 'सचलशिव' का सामाजिक शिष्टाचार-बोध उस समय तक सर्वथा लुप्त नहीं हुआ था। उनके सम्मुख खड़े थे दक्षिणेश्वर के महा-

साधक रामकृष्ण देव। आसन्न अध्यात्मलीला के वे एक भावी नायक जो ठहरे। तभी तो तैलंग महाराज ने उस दिन मुस्कुराते हुए ठाकुर के सामने नसदानी बढ़ा दी। मानो इनके द्वारा एक साथ ही उनकी अभ्यर्थना एवं स्वीकृति की गई। परमहंस देव ने भी प्रथम दर्शन में ही स्वामीजी के शरीर में योगी के जो सब चिह्न थे उन्हें ध्यान-पूर्वक देख लिया। इसके बाद घर लौटते समय मार्ग में सेवक हृदय से कहा:- "अरे समझा इनमें यथार्थ परमहंस के सब लक्षण विद्यमान हैं। ये तो साक्षात् विश्वेश्वर हैं।'

लगातार कई दिनों तक रामकृष्ण परमहंस परम श्रद्धा-भाव से तैलंग स्वामी के निकट आते रहे। इन दोनों महापुरुषों के अन्तर्लोक में उस समय जो आदान-प्रदान चल रहा था उसका पता किसे लग सकता था? कथा-प्रसंग में ठाकुर ने अपने पार्षदों को बाद में चलकर सामान्य तौर से दो-एक बातें कही थीं। उन्होंने कहा था "उस समय वे 'तैलंग स्वामी' मौनी थे। इशारे से पूछा था, ईश्वर एक या अनेक? इशारे से ही समझा दिया—समाधिस्थ हो कर देखो तो एक; ऐसा नहीं होने पर जबतक मैं, तुम, जीव, जगत्, इत्यादि का ज्ञान है तबतक अनेक।"

इस समय परमहंस देव के मन में यह तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई कि स्वामीजी को पायस भोजन करायें। मथुर बाबू को कह कर उनके लिए आध मन पायस तैयार कराया गया। परमहंस देव ने अपने हाथ से उन्हें खिलाकर परम संतोष लाभ किया।

तैलंग स्वामी दीर्घकाल तक बिना कुछ खाये-पीये रह जाते थे। आहार के सम्बन्ध में वे सम्पूर्ण उदासीन थे। भोज्य वस्तु का संग्रह करने की कभी कोई चेष्टा नहीं करते थे; इसी प्रकार भोजन की मात्रा की ओर भी उनका ध्यान नहीं था। स्वामीजी को कभी अपने हाथ से किसी प्रकार का आहार ग्रहण करते नहीं देखा गया। उनके सामने जो

भी खाद्य पदार्थ, चाहे जिस मात्रा में रख दिया जाता था, ये महायोगी सहज ही उसे मुख में डाल लेते थे।

खाद्याखाद्य के सम्बन्ध में समभाव धारण करनेवाले इन महायोगी के विरुद्ध एक बार कुछ जघन्यचरित्र व्यक्तियों ने षड्यंत्र किया। उन्होंने एक बालटी में चूना-मिश्रित जल भर कर उन्हें पिलाना शुरू किया। इनकी दुरभि-संधि को समझने में स्वामीजी को देर नहीं लगी। किन्तु, वे तो द्वन्द्वातीत अवस्था को प्राप्त हो चुके थे, उन्हें इन बातों की ओर ध्यान देने का अवसर ही कहां था। वे समस्त चूना-मिश्रित जल पी गये, प्रशांत मुख-मंडल पर किंचित् भी विकार नहीं देखा गया।

परम गम्भीर योगिराज के निर्विकार भाव को देखकर न मालूम क्यों इन दुष्टों के मन में पश्चात्ताप हुआ। वे वार-वार उनके चरणों में गिरकर उनसे कृपा-याचना करने लगे। कुछ समय के बाद तैलंग महाराज को जब वाह्यज्ञान हुआ, उन्होंने सब लोगों के सामने सहज ही मूत्र-द्वार से सम परिमाण में चूना-मिश्रित जल बाहर निकाल दिया।

धनवान तीर्थयात्री प्रायः काशी आया करते थे। उनमें कोई-कोई श्रद्धाभाव से तैलंग स्वामी को स्वर्णालंकारों से विभूषित करके प्रणाम निवेदन करते थे। उनके चले जाने पर कुछ दुर्वृत्त लोग वहाँ दौड़कर आते और उनके शरीर से आभूषण उतार कर चंपत हो जाते। समज्ञानी एवं समदर्शी महायोगी इससे अणुमात्र भी विचलित नहीं होते और न चित्त में किसी प्रकार का क्षोभ देखा जाता। परम प्रशांत एवं निर्लिप्त भाव से वे इन अपराधियों की ओर केवल देखते रह जाते।

एकवार स्वामीजी भिजियाना ग्राम के महाराज के महल के दरवाजे के पास से होकर कहीं जा रहे थे। महाराजा को जब यह खबर

मिली, वे दौड़कर बाहर आये और उन्हें सादर महल के अन्दर ले गये। सब ने मिलकर उन्हें रेशमी वस्त्र तथा स्वर्णालंकारों से भूषित कर दिया।

स्वामीजी पूर्ववत् निर्विकार बने रहे । राज-प्रासाद के बाहर निकलकर जब वे कुछ दूर आगे बढ़े, कई दुर्वृत्त वहाँ पहुँच गये और उनके शरीर पर से गहने उतारकर चलते बने। मौनी स्वामीजी तब तक वहाँ स्थित भाव से खड़े रहे, जब तक उन दुर्वृत्तों ने सब गहने उतार नहीं लिये। किन्तु इसी समय राज-प्रासाद के पहरेदारों को इसकी खबर लग गई और उन्होंने उन गुण्डों को पकड़ लिया।

चारों ओर हो-हल्ला मच गया। गुण्डों को बाँध कर स्वामीजी के समक्ष लाया गया ताकि वे जैसा कहें उसके अनुसार उन्हें दंड दिया जाय। स्वयं महाराजा भी वहाँ उपस्थित थे। किन्तु इस कोलाहल के बीच भी तैलंग महाराज मौन निश्चल बने रहे। महाराजा ने जब प्रश्न किया तब इशारे से अपने शरीर की ओर दिखाते हुए इन्होंने जो भाव व्यक्त किया उसका मर्म था—गुंडों ने मेरे शरीर पर से गहने उतार लिये तो इससे किसकी क्या क्षति हुई। मैं तो जैसा पहले था वैसा ही अब भी हूँ। मुझ में क्या किसी प्रकार का परिवर्त्तन हुआ है ? ये ज्ञान-शून्य हैं, इन्हें छोड़ दो। ऐसी अवस्था में उपाय ही क्या था ? सब लोगों ने बाध्य होकर उन गुंडों को छोड़ दिया।

प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी पर योगी का कृपा-वारि निरंतर बरसता रहता था। गोस्वामी के रूपान्तर-साधन में इस महापुरुष की अध्यात्म-शक्ति का कम हाथ नहीं था । तैलंग स्वामीजी के साथ जब उनका मिलन हुआ था उस समय वे ब्रह्मसमाज के अनुयायी थे। किन्तु उनमें मोक्षसाधन की लालसा इतनी तीव्र थी कि वे इसके लिए

निरंतर पर्यटन करते रहते थे। अन्तर की इस तीव्र आकुलता को लेकर ही एक वार वे काशी आये और स्वामीजी के समक्ष उपस्थित हुए ।

गोस्वामीजी ने इस साक्षात्कार का स्वयं एक मनोज्ञ विवरण दिया है। तैलंग स्वामी गंगा की धारा में एक घाट से दूसरे घाट पर बहते हुए विचरण कर रहे थे और गोस्वामीजी तट से होकर उनके साथ-साथ दौड़ रहे थे। वह एक अपूर्व दृश्य था। स्वामीजी जब स्थिर होकर एक स्थान पर बैठ गये तो उन्हें गोस्वामीजी के भोजन की चिन्ता हुई भक्तगण उनके लिए सब खाद्य पदार्थ लाये थे। उन्हें ग्रहण करने के लिए वे गोस्वामीजी से आग्रह करने लगे। शुद्धात्मा मुमुक्षु साधक के प्रति ब्रह्मज्ञानी योगी का यह व्यवहार उनके गम्भीर स्नेह का द्योतक था।

विजयकृष्ण गोस्वामीजी के वर्णन में महायोगी तैलग महाराज का उस समय का एक अपूर्व चित्र उद्भाषित हो उठा है। वे लिखते हैं—"किसी समय तो स्वामीजी गंगा की धारा में जल के ऊपर तिरते रहते और किसी समय डुबकी लगाकर मणिकर्णिका घाट पर जल की सतह के ऊपर चले आते। उस समय मैं गंगा तट होकर दौड़ता हुआ वहाँ तक जाता। एक दिन स्वामीजी एक मन्दिर में गये। वहाँ उन्होंने मूत्र त्याग किया और मूत्र को काली के अङ्ग पर छिड़कने लगे। मैंने पूछा, "यह क्या कर रहे हैं ?" मूत्र को मूर्ति के ऊपर क्यों डाल रहे हैं ? उन्होंने जमीन पर लिख दिया, "गंगोदकम"।

मैंने पूछा, "काली की मूर्त्ति पर क्यों छिड़क दिया ?' उन्होंने सहज भाव से उत्तर दिया, "पूजा,"।"

जिस समय यह घटना घटित हुई थी देवालय में कोई नहीं था ।

कुछ क्षणों के बाद जब मंदिर का पुजारी लौटकर आया, गोस्वामी विजयकृष्ण ने तैलंग स्वामी के इस अद्‌भुत आचरण के सम्बन्ध में कहा। मंदिर के पुजारी तथा दूसरे लोगों ने कहा—'ये साक्षात् विश्वेश्वर जो हैं। इनके सम्बन्ध में कोई कुछ नहीं कह सकता। इनका मूत्र तो ठीक ही गंगाजल हैं'। स्वामीजी के प्रति काशीवासियों की प्रगाढ़ भक्ति देखकर विजयकृष्ण गोस्वामी के आश्चर्य की सीमा नहीं रही।

कुछ समय के बाद एक दिन सहसा तैलंग स्वामी ने विजयकृष्ण गोस्वामी को सूचित किया कि वे उन्हें दीक्षा प्रदान करेंगे। गोस्वामीजी यह सुनकर अवाक् रह गये। इस बीच इस महापुरुष का सान्निध्य एवं अंतरंगता प्राप्त करके वे कुछ ढीठ हो चले थे। उन्होंने कुछ मान करने के सुर में स्वामीजी से कहा—"मैं आप से दीक्षा क्यों लूँगा? आपने देवता की मूर्त्ति के ऊपर मूत्र छिड़क दिया और बोले—यह गंगोदक है। मैं इस प्रकार के अनाचारी व्यक्ति से कभी दीक्षा ग्रहण नहीं करूँगा। इसके सिवा, मैं तो ब्राह्मण हूँ आप मुझे किस तरह दीक्षा देंगे?"

तैलंग महाराज ने हँसते हुए उत्तर दिया—"बेटा, तुमको दीक्षा देने के विषय में एक गूढ़ कारण है। किन्तु प्रकृत दीक्षा मैं तुम्हें नहीं दे रहा हूँ। किसी को गुरु बनाए बिना शरीर शुद्ध नहीं होता। इसलिए गुरुकरण आवश्यक है। किन्तु तुम्हारा असल गुरु मैं नहीं हूँ।"

प्रभुपाद विजयकृष्ण ने लिखा है, "इसके बाद उन्होंने मुझे त्रिविध मंत्र प्रदान करते हुए कहा—'अब जाओ। मुझे भगवान् का जो आदेश मिला था उसका मैं पालन कर चुका'।

बाद में चलकर संन्यासी एवं योग साधना ग्रहण करने के पश्चात् विजयकृष्ण गोस्वामी एक बार पुनः काशी आये। महायोगी के साथ उस

समय उनका साक्षात्कार हुआ। उन्होंने उस पुरानी घटना की ओर संकेत करते हुए पूछा—"क्या तुम्हें याद है ?' गोस्वामीजी ने हाथ जोड़कर भक्ति गद्गद् कंठ से उसी क्षण उत्तर दिया, "हाँ, महाराज"

योगी श्यामाचरण लाहिड़ी एक बार तैलंग स्वामीजी के चरण में उपस्थित हुए। उन्हें दूर से ही आते देखकर स्वामीजी ने सस्नेह उनका स्वागत किया। उनके आसपास जो भक्त बैठे हुए थे वे उस दिन के दृश्य को देखकर विस्मित हुए बिना नहीं रहे। इनके पूछने पर स्वामीजी ने कहा—"योग मार्ग की जिस उच्चावस्था के लिए तपस्वियों को लंगोट तक का परित्याग करना पड़ता है, उस अवस्था को धोती, कुर्ता पहने हुए इस शक्तिमान साधक ने सहज ही प्राप्त कर लिया है।" तैलंग स्वामी ने योगी श्यामाचरण का उस दिन जिस रूप में स्वागत किया उससे काशी के साधक-समाज को सहज ही इस नवीन साधक का परिचय प्राप्त हो गया। काशी में योगी गुरु के रूप में लाहिड़ी महाशय को जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई उसमें तैलंग स्वामी द्वारा उनकी सस्नेह स्वीकृति भी एक बहुत बड़ा कारण था।

अपने जीवन के अंतिम दिनों में तैलंग स्वामी पचगंगा घाट पर मंगल भट्ट के आश्रम में रहने लगे थे। कुल मिलाकर प्रायः अस्सी वर्षों तक वे इस स्थान पर रहे। किन्तु कोई मठ, आश्रम या कोई सम्प्रदाय स्थापित करने की इच्छा उनके मन में कभी नहीं हुई। केवल गंगा गर्भ में ही नहीं सच्चिदानन्द सागर के उदार वक्ष में भी स्वेच्छा-विहारी मीन की तरह वे विचरण करते रहे और इस रूप में ही एकांत निःसंगता के साथ अध्यात्मलीला का उद्यापन करते हुए ब्रह्मलीन हुए।

तिरोधान का निर्दिष्ट मुहूर्त समागत है। महायोगी के लौकिक जीवन पर अब यवनिकापात होनेवाला है। एक दिन पूर्व उन्होंने भक्त-गण को उनकी प्रर्थना के अनुसार साधन के सम्बन्ध में कुछ उपदेश

प्रदान किये । उनके निर्देशानुसार चन्दन की लकड़ी का एक बहुत बड़ा बक्स तैयार कराया गया । शव को उस में रखकर गंगा गर्भ में एक निर्दिष्ट स्थान में समाहित कर दिया जायगा, यह आदेश भी उन्होंने पहले से ही दे रखा था।

१२९४ (फसली) साल का पौष मास । शुक्ला एकादशी के पुण्य क्षण में ब्रह्मरंध्र के मार्ग से महायोगी की अमर आत्मा ने शरीर त्याग किया। काठ के संदूक में उनके नश्वर शरीर को रखकर पचगंगा घाट पर एक नाव में रखा गया । इस समय तक उनके तिरोधान का समाचार सम्पूर्ण काशी में फैल चुका था । सर्वजनपूजित योगिराज की गंगा-समाधि के इस अपूर्व दृश्य को देखने के लिए उस दिन समस्त गंगा तट पर नर-मुंड ही नर-मुंड दिखायी पड़ते थे। असी घाट से वरुणा तक तैलंग स्वामी के शरीर वाही उस सन्दूक को नौका पर घुमाया गया और फिर गंगा गर्भ में निमज्जित कर दिया गया । शिव-धाम वाराणसी में शिव तुल्य महायोगी डेढ़ सौ वर्षों तक अपनी लीला का अभिनय कर गये हैं। हजारों मनुष्यों के नेत्रों के सामने इस लीला के दृश्य पट एक-एक कर उन्मोचित होते रहे । और उस दिन संध्या काल में सब लोगों ने लीला संवरण का यह अंतिम दृश्य पट भी देखा ।

योगी श्यामाचरण लाहिड़ी

१८५१ ई० को घटना है। हिमालय के रानीखेत इलाके में एक सैन्यनिवास के निर्माण का आयोजन चल रहा है। सामरिक इंजीनियरिंग विभाग के एक तरुण बंगाली कर्मचारी दानापुर से स्थानांतरित होकर इस कार्य के लिए यहाँ आये हैं। उन्हें जो कुछ काम करना होता है उसे तंबू में बैठकर प्रातःकाल ही पूरा कर लेते हैं। इसके बाद सारा दिन अवकाश रहता है। अवकाश का समय निम्न कर्मचारियों और पहाड़ी कुलियों के साथ गप-शप में बीत जाता है।

सामने में नगाधिराज हिमालय। इसकी गुहाओं में न मालूम कितने योगी और साधु-संन्यासी तपस्या में रत रहते हैं। जन्म-जन्मांतर के पुण्य-फल से ही किसी-किसी भाग्यवान को इनके दर्शन होते हैं, देवात्मा हिमालय का स्वरूप उनके माध्यम से प्रकट होता है। इंजीनियरिंग विभाग के इस कर्मचारी ने स्थानीय लोगों के मुँह से कितनी ही अलौकिक कहानियाँ, कितनी ही किम्वदंतियाँ सुन रखी हैं और उन्होंने यह भी सुन रखा है कि समीपस्थ यह द्रोणगिरि तपस्वियों की विचरण-भूमि है। इसलिए स्वभावतः उनके मन में कोतूहल उत्पन्न हुआ और एक दिन वे पहाड़ को अच्छी तरह देख आने के लिए निकल पड़े।

रानीखेत से द्रोणगिरि की दूरी लगभग पंद्रह मील है। देवदारु और चीड़ के वृक्षों से समस्त मार्ग आच्छन्न है। दुर्गम पर्वत-श्रेणी को पार करना पड़ता है। टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी होकर वन में चलते-चलते संध्या हो आयी थी। सामने नंदा देवी के पर्वत-शिखर पर अस्ताचल-गामी सूर्य की लालिमा धीरे-धीरे अंधकारमें विलीन होती

जा रही थी। दूर क्षितिज में चिरतुषारमंडित पर्वत-शिखर की तरंग-माला उस वर्णच्छटा से उद्भाषित हो रही थी। वह ऐसा लग रहा था मानो देवाधिदेव महादेव के ताम्रवर्ण जटा-जाल में दिगन्त ढक गया हो। आत्मविस्मृत बनकर तरुण कर्मचारी इस महिमामय दृश्य को अपलक दृष्टि से देख रहे हैं।

अकस्मात् निर्जन पहाड़ी प्रदेश को कम्पित करती हुई ध्वनि हुई–"श्यामाचरण ! श्यामाचरण लाहिड़ी !" इस जनशून्य पहाड़ी इलाके में कौन उनका नाम लेकर पुकार रहा है ? श्यामाचरण को सरकारी तार मिला और वे एकाएक दानापुर से पाँच सौ मील दूर रानीखेत चले आये हैं। इस इलाके के किसी भी व्यक्ति से वे परिचित नहीं हैं। उनके मन में किंचित् भय हुआ साथ ही कौतूहल भी। जिधर से आवाज आई थी उसी ओर कुछ दूर आगे चलकर उन्होंने देखा कि पहाड़ की एक गुहा के द्वार पर तेजोदीप्तकलेवर जटाजूटधारी एक योगी खड़े हैं। ऐसा लगा कि वे श्यामाचरण की ही प्रतीक्षा में थे। उनकी सस्नेह दृष्टि से मानो अमृत धारा बरस रही थी। प्रसन्न मधुर कंठ से कहने लगे—"श्यामाचरण, अब तुम आ गये। बैठ जाओ, विश्राम कर लो। मैं ही तुमको पुकार रहा था।" शंका एवं सन्देह मन में धारण किये हुए श्यामाचरण योगी को प्रणाम करके एक बगल में खड़े हो गये।

संन्यासी ने तो आग्रह के साथ उन्हें बुलाया था, किन्तु श्यामा-चरण इस समय भी संशय में पड़े हुए थे। वे मन-ही-मन सोच रहे थे, साधु को मेरा नाम किस तरह मालूम हुआ ! हो सकता है कि किसी चपरासी या पहरेदार से मालूम कर लिया है। किन्तु और भी अधिक आश्चर्य तो तब हुआ जब कि मन में यह ख्याल उठते ही योगी ने श्यामाचरण के पिता-पितामह का नाम, धाम, परिचय सब कुछ बता दिया। केवल इतना ही नहीं, घनिष्ठ चिर-परिचित की तरह उनकी ओर देखते हुए वे मधुर मंद मुस्करा रहे थे।

योगी कहने लगे, "बेटा, तुम व्यर्थ अपने मन में संदेह कर

रहे हो। मैं तुम्हारा अपना आदमी हूँ। तुम्हारी ही प्रतीक्षा में इस दुर्गम गिरिशिखर पर अबतक बैठा था। एक बार अच्छी तरह विचार कर तो देखो कि तुम और कभी इस पहाड़ पर आये थे या नहीं।"

विस्मय-विमूढ़ श्यामाचरण को वे उस गुहा के अभ्यंतर में ले गये। उसके एक कोने में एक संन्यासी के व्याघ्रचर्म, धुनी, दंड, कमण्डलु आदि परित्यक्त अवस्था में पड़े हुए थे। रहस्यमय योगी ने श्यामाचरण से पूछा, "देखो तो, इन सब चीजों को तुम पहचानते हो या नहीं? ये सब तुम्हारे ही द्वारा परित्यक्त वस्तुएँ हैं, क्या इनमें एक का भी स्मरण नहीं हो आता?"

बार-बार स्मृति-मन्थन करने पर भी श्यामाचरण कुछ समझ नहीं सके। मन में कोई धारणा ही नहीं हो रही है। मुस्कराते हुए आगे बढ़कर योगी ने श्यामाचरण की पीठ पर हाथ रखकर मेरुदंड को स्पर्श किया। यह कौन सा इन्द्रजाल था! क्षणभर में ही श्यामाचरण के मन पर पड़ा हुआ पर्दा मानो हट गया। उनका सम्पूर्ण शरीर बार-बार इस तरह काँपने लगा जैसे बिजली का तार छू गया हो!

पूर्व जन्म के अध्यात्म जीवन का चित्र-पट श्यामाचरण के नेत्र के सामने सहसा उद्घाटित हो उठा। जन्म-जन्मांतर का व्यवधान शक्तिधर योगी के पुण्य कर-स्पर्श से क्षण में ही दूर हो गया। उन्हें बोध हुआ—यह दण्ड, कमण्डलु, व्याघ्रचर्म और पवित्र धुनी सब कुछ उन्हीं के पूर्वजन्म की व्यवहृत वस्तुएं हैं। सामने जो योगी खड़े हैं वे ही उनके पूर्वजन्म के गुरु हैं। ये ही उनके इहलोक-परलोक के पराश्रय हैं।

साष्टांग प्रणाम करके श्यामाचरण हाथ जोड़े हुए खड़े रहे। योगी ने मुस्कराते हुए कहा—"ये सब वस्तुएँ पूर्वजन्म की व्यवहृत है। उस समय तुम मेरे शिष्य थे। जिस समय तुम साधना के उच्च मार्ग पर अवस्थित थे तुम्हारा शरीरांत हो गया। इस जन्म में ईश्वर-निर्दिष्ट कार्य सम्पादन करने के लिए ही तुम्हें पुनः जन्म ग्रहण करना पड़ा है।

तुम्हारी साधन-सम्पद को एक धरोहर वस्तु के रूप में ही रक्षा करते हुए मैं अब तक तुम्हारी अपेक्षा कर रहा था। तुम्हें दीक्षा देने के लिए ही मेरा यहाँ आगमन हुआ है।"

श्यामाचरण को योगी से और भी बहुत सी बातें मालूम हुई। सब कुछ सुनकर वे आश्चर्य-चकित हो गये। योगी ने कहा—"तुम्हें दानापुर से यहाँ आने के लिए जो तार भेजा गया था, वह ऊपर वाले अफसर की भूल के कारण ही। एक स्थान के नाम पर उसने दूसरे स्थान का उल्लेख कर दिया था। मैंने ही उससे यह भूल करादी थी। जान, रखो, फिर सात दिनों के बाद तुम्हें आदेश मिलेगा - तुम्हें दानापुर लौट जाना होगा। इतने दिनों में मेरा काम भी पूरा हो जायगा।"

एक साधारण संसारी जीव श्यामाचरण के जीवन में यह कितना बड़ा आश्चर्य था! यह अलौकिक योग-विभूति-सम्पन्न महापुरुष उनका गुरु किस प्रकार हो सकते हैं? और उन्हीं की प्रतीक्षा में अबतक वे दिन गिन रहे थे। अस्त-राग-रंजित द्रोणगिरि के मध्य इस गुहाद्वार के सामने खड़े रहकर उन्होंने अपने मन में विचार किया, जन्म-जन्मांतर के इस गुरु की अपेक्षा घनिष्ठतर परम आत्मीय जन उनका और कोई नहीं हैं। आत्मीय, बन्धु-बान्धव, घर-गृहस्थी सब कुछ की मोह-ममता उनके अंदर से मानो मिट गयी। कातर कंठ से रोते हुए उन्होंने कहा, "बाबा, अब मुझे फिर संसार में लौट जाने के लिए नहीं कहिये। मैं आपकी चरण-सेवा में रहकर जीवन बिता देना चाहता हूँ। जिस संपद को मैं खो चुका था उसे फिर से प्राप्त करने के सिवा मेरे जीवन में और कोई महत्तर कामना नहीं हैं।'

योगी ने उनके संसार-त्याग के अनुरोध को किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया। श्यामाचरण को समझाकर बोले, जिस ईश्वरीय विधान के अनुसार उन्हें खोयी हुइ अध्यात्म-संपद पुनः प्राप्त हो रही है उसके निर्देशानुसार उन्हें संसार में रहकर कर्म करना होगा। योग-साधन के प्रचार के लिए वे एक विशिष्ट आचार्य हैं। परम गोपनीय

इस योग-साधन को उन्हें उपयुक्त पात्रों के बीच वितरण करने का दायित्व ग्रहण करना होगा।

योगी ने और भी जता दिया, "श्यामाचरण, याद रखो आफिस तुम्हारे लिए ही आज रानीखेत आया है, तुम आफिस के लिए यहाँ नहीं आये हो। ईश्वर-निर्दिष्ट कार्य के लिए तुम्हारा यहाँ आगमन हुआ है। इसलिए जबतक तुम यहाँ रहो, नित्य मुझसे मिलते रहना।"

श्यामाचरण के जीवन में उस दिन एक नया पट-परिवर्त्तन हुआ। अवश्य ही यह एक नाटकीय एवं चमत्कारपूर्ण घटना थी। नदिया जिले के एक अख्यात गाँव में उनका जन्म हुआ था। जीवन के टेढ़े-मेढ़े रास्ते पर अबतक वे साधारण मनुष्यों की तरह ही आगे बढ़ते आ रहे थे। इसके बाद कार्यवश रानीखेत आये और वहाँ उन्हें महा-योगी का आश्रय प्राप्त हुआ। यह अप्रत्याशित कृपा उनके जीवन में एक नूतन सौभाग्योदय की सूचक थी।

श्यामाचरण के पिता गौरमोहन लाहिड़ी ने कृष्णनगर के समी-पस्थ घूर्णी ग्राम के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-वंश में जन्म ग्रहण किया था। गौरमोहन धर्मनिष्ठ एवं योगमार्गी साधक थे। अपने गाँव में उन्होंने धूमधाम के साथ एक शिवमंदिर की स्थापना की थी। काल-क्रम से उनका यह मंदिर नदी-गर्भ में विलीन हो गया। बाद में शिव के आदेश से विग्रह का नदी-गर्भ से उद्धार किया गया और एक नया मंदिर निर्मित हुआ। आज भी वह स्थान घूर्णी में शिवतला नाम से प्रसिद्ध है। शिव-आराधना में गौरमोहन की पत्नी मुक्तकेशी देवी का अत्यंत अनुराग था। इस धर्मनिष्ठ दम्पति के गृह को ही आलोकित करते हुए श्यामाचरण ने १८२८ ई० में जन्म ग्रहण किया था। बचपन में ही इनकी माता का देहांत हो गया, जिससे पिता बालक को साथ लेकर काशी चले आये और वहीं स्थायी रूप से रहने लग गये।

निष्ठावान ब्राह्मण- वंश की संस्कृत-धारा श्यामाचरण के जीवन में प्रवाहित थी। पुण्य क्षेत्र काशी में बास करने के फलस्वरूप उसे और भी विकसित होने का सुयोग मिला। असंख्य मंदिर एवं

साधन-भजन का परिवेश, साधु महात्माओं का सान्निध्य इन सब के कारण बालक की धर्म संस्कृति की चेतना को सहज ही जाग्रत होने का अवसर मिला।

पिता गौरमोहन शास्त्रपाठ एवं धर्म-साधना में विश्वासी थे। निष्ठा के साथ वे प्रति दिन ऋग् वेद का पाठ किया करते थे। काशी में उस समय नागभट्ट नामक एक वेदज्ञ महाराष्ट्री ब्राह्मण की बड़ी प्रतिष्ठा थी। इन्हीं के शिक्षकत्व में श्यामाचरण ने कुछ समय तक वेद-पाठ का अभ्यास किया। गौरमोहन यद्यपि प्राचीन भारतीय संस्कृति के समर्थक थे तथापि अपने पुत्र की शिक्षा-व्यवस्था में उन्होंने आधुनिकता को भी स्थान दिया। श्यामाचरण को हिन्दी और उर्दू की शिक्षा दी गयी। स्कूल और संस्कृत कालेज में शिक्षा प्राप्त करके संस्कृत, फारसी और अंगरेजी भाषाओं पर उनका अच्छा अधिकार हो गया था। अपने सहपाठियों के बीच एक मेधावी नवयुवक के रूप में उनकी विशेष प्रतिष्ठा थी।

अठारह वर्ष की अवस्था में उनका विवाह हो गया। नववधू काशीमणि उस समय आठ वर्ष की थी। पंडित-वंश की यह कन्या अपने सुदीर्घ दाम्पत्य जीवन में पति की प्रकृत सहधर्मिणी बनी रही। परवर्त्ती जीवन में योगाचार्य के रूप में श्यामाचरण की जो ख्याति हुई उसमें काशीमणि देवी ने भी कम सहायता नहीं पहुँचायी थी।

लगभग २३ वर्ष की अवस्था में सरकारी इंजीनियरिंग कार्यालय में एक कर्मचारी के रूप में श्यामाचरण का कर्म-जीवन आरम्भ हुआ। इसके दो वर्ष के बाद उनके पिता का स्वर्गवास हो गया। अब गृहस्थी का सारा भार उनके ऊपर आ पड़ा। बाद में चलकर जब उनका योगी-जीवन आरम्भ हुआ उस समय भी उन्हें इसी प्रकार का दायित्व ग्रहण करते देखा गया। ये योगविभूति-संपन्न महापुरुष परम निर्लिप्तता के साथ गृस्थाश्रम के समस्त दायित्वों का पालन करते रहे। कर्म कोलाहलमय जगत् के हर्ष-विषाद के बीच भी योगी-

जीवन की प्रशांति को सहज भाव से धारण करते रहने में उन्हें कोई बाधा नहीं हुई।

इंजीनियरिंग विभाग में उत्तर भारत के विभिन्न स्थानों में कार्य करते हुए श्यामाचरण की बदली दानापुर हुई। उस समय उनकी अवस्था तैंतीस वर्ष की थी। इसी समय उन्हें सरकारी काम से रानीखेत आना पड़ा जहाँ उनके जीवन में अध्यात्म का रस-स्रोत उन्मुक्त होकर प्रवाहित होने लगा। भगवत्कृपा का अमृत-घट लेकर उनके पूर्वजन्म के गुरुदेव उनके सम्मुख आकस्मिक रूप में आविर्भूत हुए।

लाहिड़ी महाशय अपने योगी गुरुजी को बाबाजी कहा करते थे। अपरिमेय साधन-शक्ति एवं योग-विभूति के अधिकारी रूप में इन जीवन्मुक्त महापुरुष की ख्याति थी। कुछ साधकगण इन्हें 'तौम्बक बाबा' कुछ 'शिव बाबा' कहकर सम्बोधन किया करते थे। इन महायोगी को लेकर हिमालय अंचल और समग्र उत्तर भारत में बहुत-सी अलौकिक कहानियाँ प्रचलित थीं। कहते हैं कि कई सौ वर्ष की वयस हो जाने पर भी वे चिरयुवा जैसे प्रतीत होते थे। एक योगेश्वर महापुरुष के रूप में साधक-समाज में उनकी असाधारण प्रतिष्ठा थी।

लाहिड़ी महाशय को जो गुरु कृपा प्राप्त हुई थी उसके पीछे उनके पूर्व-जन्म का संचित फल ही वर्त्तमान नहीं था, इस जीवन की वंशानुक्रमिक धारा भी काम कर रही थी, जिससे उच्चतर योग-साधना का बीज अंकुरित हो उठा। उनकी इस निगूढ़ साधन धारा को उद्‌वुद्ध करके ही उनके गुरु ने उनसे कहा था—"श्यामाचरण यही तो तुम्हारी अपनी चीज है।"

प्रथम साक्षात् के दूसरे ही दिन लाहिड़ी महाशय ने गुरुदेव के पहाड़ के निकट डेरा डाला। आफिस का जो थोड़ा-बहुत काम होता उसे यहाँ से ही निबटाकर वे प्रतिदिन योगी की गुहा में उपस्थित होते। सारा दिन गुरु द्वारा निर्दिष्ट आहार करते।

दीक्षादान का दिन निश्चित हुआ। इससे एक दिन पहले लाहिड़ी

महाशय ने देखा कि गुहा के एक कोने में एक मिट्टी के बर्तन में कोई वस्तु ढाँक कर रखी हुई है। गुरु ने लाहिड़ी महाशय को उसे ग्रहण करने के लिए कहा। बर्तन को जब खोलकर देखा गया तो उसमें तेल जैसी जो कोई चीज भरी हुई थी। लाहिड़ी महाशय ने सोचा, हो सकता है कि खाने की चीज के बदले भूल से इसमें तेल रख दिया गया हो। उसे ग्रहण करने में उन्हें आगा-पीछा करते देखकर बाबाजी ने आदेश दिया, "क्या देखते हो, सब पी डालो।" इसके बाद लाहिड़ी महाशय ने बिना किसी हिचकिचाहट के सारा का सारा पी डाला।

इसके बाद उन्हें आदेश हुआ कि वे पास की गगास नदी की रेत पर लेटे रहें। उन्होंने यथावत् आदेश का पालन किया। लगातार कै-दस्त होने के कारण लाहिड़ी महाशय अत्यंत शक्तिहीन हो गये। कंकड़ और बालू से भरे हुए नदी तट पर एकांत सोये रहने में भी सुविधा नहीं थी। पहाड़ी नदी में एकाएक बाढ़ आ गई और उन्हें बहाकर कुछ दूर ले गई। नदी की प्रखर धारा के विरुद्ध लगातार जूझते रहने से उस दिन उनकी अवस्था मरणासन्न जैसी हो गयी थी।

दूसरे दिन प्रभात में बाबाजी के दर्शन हुए। उन्होंने बड़े उत्साह से लाहिड़ी महाशय को पुकारते हुए कहा, "श्यामाचरण, बहुत अच्छा हुआ, पेट में जो कुछ मल पदार्थ था सब दूर हो गया।" फिर उन्हें अधिक मात्रा में पूरी-हलुआ भोजन कराया गया। भोजन कर लेने पर बाबाजी महाराज ने उन्हें सूचित किया, "श्यामाचरण, आज संध्या में पवित्र एवं शुभ क्षण है। आज ही मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा।"

यथासमय दीक्षादान संपन्न हुआ। एक ओर उपयुक्त अधिकारी शिष्य, दूसरी ओर कृपा की वर्षा करनेवाले शक्तिधर सद्गुरु—दोनों का मणिकांचन संयोग। लाहिड़ी महाशय ने आश्चर्यजनक शीघ्रता के साथ योग-साधना की पद्धतियों को आयत्त कर लिया। गुरु की शक्ति से उद्दीपित साधक अतींद्रिय जगत् की अनेक दुर्लभ अनुभूतियों का आस्वादन करने में सक्षम हो गये।

बाबाजी महाराज ने एक दिन शिष्य का स्नेह आलिंगन करते हुए कहा,-"श्यामाचरण, तुम्हें और कुछ समय संसारी बनकर रहना होगा। मानव-कल्याण के लिए योग-साधना का प्रचार आवश्यक है। एक विशिष्ट आचार्य के रूप में, इस कार्य में, तुम्हारी महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी। अब तुम्हें रानी खेत से अपन पहले के कर्मस्थल को लौट जाना होगा।" आसन्न वियोग की आसंका से लाहिड़ी महाशय की आँखों से अश्रुपात होने लगा। गुरु महाराज ने आश्वासन देते हुए कहा, "श्यामाचरण, तुम दुःख मत करो। जभी तुम मेरा स्मरण करोगे तभी मेरे साथ तुम्हारा साक्षात् हो जायगा, इसे जान रखो।

लाहिड़ी महाशय ने इस समय बाबाजी से एक निवेदन किया। हाथ जोड़कर बोले, "बाबा, आप से मेरा एकांत अनुरोध है कि त्रितापसंतप्त अल्पायु मानव-समाज के लिए आप इस दुर्लभ योग-साधना को कृपा-पूर्वक सुलभ कर दें। अपने दिव्य करुणास्रोत को उन्मुक्त कर दें।' प्रिय शिष्य की इस आंतरिक प्रार्थना को बाबाजी ठुकरा न सके। बोले, "तथास्तु" बाद में चलकर योगी श्यामाचरण के द्वारा सचमुच बाबाजी महाराज की यह कृपाधारा अजस्त्र धाराओं में प्रवाहित होने लगी।

बाबाजी महाराज ने एक दिन श्यामाचरण को बुलाकर कहा; 'श्यामाचरण, अब अधिक दिन तुम्हारा यहाँ रहना नहीं होगा। एक सप्ताह के अन्दर ही बदली का आदेश आ रहा है। तुम्हें अब रानीखेत अंचल को छोड़कर चला जाना है। श्यामाचरण के दोनों नेत्र सजल हो गये। जिस गुरु के चरणों में उन्होंने सर्वस्वार्पण कर दिया, उन्हें छोड़कर किर तरह जायंगे? इसके सिवा साधन-सम्पद् भी तो अभी तक पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं हो सकी है?। मात्र सात दिन अब बाकी रह गये हैं। इतने अल्प समय में ही नये जीवन-पथ का सम्बल संग्रह कर लेना चाहिये। गुरु महाराज ने अपनी योगसिद्धि के कितने ही ऐश्वर्यों का मुक्तहस्त होकर उस दिन दान किया था, और शिष्य ने भी उसी प्रकार अपूर्व निष्ठा के साथ उन्हें ग्रहण किया था।

प्रतिदिन की साधना समाप्त होने पर लाहिड़ी महाशय बाबा के चरणों में उपस्थित होते और उनसे योग के नाना साधन-रहस्य श्रवण करते। योगी जीवन की नाना विचित्र कहानियों को सुनकर वे विस्मय से अभिभूत हो जाते । सिद्ध पुरुषों एवं योगियों की लीलाभूमि यह हिमालय है। इसके शिखर पर, गुहा-गुहा में अध्यात्म-लोक के कितने वैभव छिपे हुए हैं, यह कौन बता सकता है ? बाबाजी महाराज ने नाना अलौकिक कहानियों के साथ-साथ इस समय श्यामाचरण को स्थानीय महायोगी की बात भी सुनायी थी।

द्रोणगिरी की निर्जन गुहा से प्रायः पाँच मील दूर एक प्राचीन जीर्ण देवालय देखा जाता था। यह स्थान एक देवोपम सिद्ध महापुरुष का विचरणक्षेत्र था। साधु-संन्यासियों का विश्वास था, इन महापुरुष की आयु का कोई हिसाब नहीं है। स्थानीय जन इन्हें द्रोणगिरि का अभिभावकरूपी महात्मा समझते थे। कुछ लोग इन्हें पौराणिक युग का 'अस्वत्थामा' मानते थे। काठ की खड़ाऊँ पहने हुए यह योगी खट-खट शब्द करते हुए आधी रात में उस देवालय में प्रवेश करते थे—उनकी शरीर-ज्योति से दिशाएँ आलोकित हो उठतीं। योग साधन-पथ के पथिक लाहिड़ी महाशय को भी उनके गुरुदेव ने आधी रात में दूर से इस दिव्य पुरुष की ज्योति के दर्शन करा दिये। बाबाजी महाराज कहा करते थे, "कुछ लोग असाध्य मृतक-तुल्य रोगियों को इस महात्मा की कृपा के ऊपर भरोसा करके पहाड़ में छोड़कर चले जाते हैं। कृपालु रहस्यमय पुरुष की दृष्टि पड़ने से वे रोगमुक्त हो जाते हैं।' लाहिड़ी महाशय को स्वयं भी महात्मा के इस चमत्कार का एक दिन परिचय मिला।

एक दिन दो-तीन साधुओं के साथ वे भ्रमण के लिए बाहर निकले। उनमें किसी एक ने जंगली फल को खा लिया, जिससे वह अत्यन्त पीड़ित हो गया, कै-दस्त होने लगे। इधर रात्रि का अंधकार क्रमशः घनीभूत हो रहा था। उनके साथी इस आकस्मिक विपद् से घबड़ाकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन गये। सामने ही 'अश्वत्थामा' के भग्न

देवालय का शिखर दिखाई पड़ रहा था। दूसरा कोई उपाय न देखकर सब लोगों ने द्रोणगिरि के रहस्यमय महात्मा की शरण में ही उक्त रोगी को छोड़ देने का निश्चय किया। मृत्युपथ के उस यात्री को उन लोगों ने देवालय के समीप लाकर रख दिया।

दूसरे दिन वह पूर्ण स्वस्थ होकर वापस लौटा। उससे उक्त दिव्य पुरुष की कहानी और उनकी कृपा की बात सुनकर लाहिड़ी महाशय के आश्चर्य की सीमा नहीं रही। मरणासन्न रोगी अपने जीवन के सम्बन्ध में एकबारगी हताश हो गया था। इसी समय दिव्य महापुरुष उसके पास आये और गरजते हुए बोले, "यहाँ तू कौन है रे ?" इसके साथ ही पदाघात ! रोगी लुढ़कते-लुढ़कते पास के निम्न भूमि में गिर गया। कुछ समय के बाद ही उसके शरीर में नव बल का सचार हो आया। आश्चर्य की बात तो यह की वह पाँव-पैदल ही नीचे चला आया।

द्रोणगिरि अंचल के इन सब सिद्ध योगियों का सान्निध्य और उनके चमत्कार की कहानियों को सुनकर लाहिड़ी महाशय बहुत प्रभावित हुए। अतीन्द्रियजगत की नाना अलौकिक वार्त्ताओं को सुनकर वे साधना के मार्ग में उद्‌बुद्ध हो उठे। इस समय चमत्कारपूर्ण योग विभूतियों का प्रदर्शन करके उनके कतिपय गुरुभाइयों ने भी उन्हें चकित कर दिया था।

एक दिन लाहिड़ी महाशय अपने एक गुरुभाई और अन्य कई साधुओं के साथ पहाड़ी नदी गगास के उस पार शौचादि से निवृत होने के लिए गये हुए थे। लौटने में काफी देर हो गयी। तब तक पहाड़ी नदी में बाढ़ आ जाने से उसके दोनों तटों तक पानी लबालब भर गया। अब नदी को पार करना उनके लिए असंभव-सा हो गया। साथ में जो गुरुभाई थे—वे एक अष्टसिद्धि-प्राप्त योगी थे। अपने सिर से पगड़ी खोलकर उन्होंने उसी क्षण एक अलौकिक कार्य कर डाला। पगड़ी को जल में फेंक कर उन्होंने सब लोगों को उसके सहारे फौरन पार हो जाने के लिए कहा। शक्ति-संचारित इस बहते हुए वस्त्रखण्ड को पकड़कर ही सब लोग नदी को पार कर गये।

बाद में लाहिड़ी महाशय उस दिन की घटना का वर्णन कितने ही लोगों को सुनाया करते थे। अपने गुरु से भी इस रहस्य के सम्बन्ध में उन्होंने प्रश्न किया था। बाबाजी ने उत्तर दिया, अष्ट-सिद्ध प्राप्त होने के कारण ही उनके उक्त शिष्य ने यह योगशक्ति प्राप्त की है। उन्होंने यह भी बताया कि निर्दिष्ट साधन मार्ग का अनुसरण करने से लाहिड़ी महाशय भी शीघ्र इस प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर लेंगे। लाहिड़ी महाशय को यह समझने में देर नहीं लगी कि उस दिन गुरुभाई के इस आश्चर्यजनक योगशक्ति के प्रदर्शन के द्वारा स्वयं उनके गुरुदेव ने उनके अंतर में उद्दीपना का संचार किया था।

गुरुभाइयों के समीप बैठकर लाहिड़ी महाशय बाबाजी महाराज की योग-विभूति की अनेक कहानियाँ सुना करते थे। द्रोणगिरि में उन्हें स्वयं भी इसका कुछ कुछ परिचय मिला था।

एक दिन रानीखेत के समीपस्थ इलाके के एक धनी व्यवसायी ने बाबाजी महाराज तथा कई दूसरे साधुओं को अपने यहाँ भोजन के लिए निमंत्रित किया। यह सेठ बाबाजी का स्नेहपात्र था, किन्तु उसे अपने धन का बहुत बड़ा अभिमान था। बाबाजो महाराज ने उस दिन उसका अभिमान चूर्ण कर देने का निश्चय किया था। उन्होंने बता दिया कि अपने नये शिष्य लाहिड़ी महाशय को साथ लेकर वे आयँगे। यह भी तय पाया कि अन्यान्य अतिथियों के आगमन के पूर्व ही वे सशिष्य उपस्थित होंगे, और पहुँचते ही उन्हें भोजन करा दिया जायगा। इसमें बिलम्ब नहीं होना चाहिये।

यथासमय गुरु और शिष्य सेठ के घर पहुँचे। भोजन के लिए आसन ग्रहण करने पर लाहिड़ी महाशय ने जो दृश्य देखा उससे वे अवाक् रह गये। मिताहारी गुरुदेव में आज मानों सर्वग्रासी क्षुधा जाग पड़ी थी। थालों में भर-भरकर पूड़ियाँ, हलुआ, मालपूआ आते थे और बाबाजी उन्हें चट कर जाते थे और साथ ही पूछ बैठते थे, "और कुछ?" इधर सेठजी के मुख पर हवाइयाँ उड़ने लगी थीं। इस बीच निमंत्रित साधु-संत वहाँ पहुँच चुके थे। अब उनकी सेवा

किस प्रकार होगी ? भोज्य पदार्थ पर्याप्त परिमाण में प्रस्तुत किये गये थे, किंतु अब बहुत थोड़े बच गये थे।

सेठजी कातर भाव से बाबाजी के शरणापन्न हुए। लाहिड़ी महाशय भी कहने लगे, "गुरुजी, आप, क्या इस व्यक्ति का सर्वनाश करने पर उतारू हो गये हैं ? अब दया करके शीघ्र उठ जायँ।" आसन पर से उठते हुए बाबाजी बोले, "सामर्थ्य इतना कम—फिर भी इस व्यक्ति का गर्व तो देखो ! कहाँ तक वह भोज्य पदार्थ जुटा सकता है, यही देखने की आज मेरी इच्छा थी।"

अपने आश्रित शिष्यों की शिक्षा एवं अनुशासन के विषय में बाबाजी महाशय अत्यन्त सतर्क रहा करते थे। सदा कठोर भाव से उनके साधन-जीवन पर नियन्त्रण रखते थे। भूल-चूक होने पर अपने शिष्यों को धुनी की जलती लकड़ी से प्रहार करने में भी आगा-पीछा नहीं करते थे। लाहिड़ी महाशय ने अपनी आँखों से यह सब देखा था।

एक सप्ताह बीत गया। इस बीच लाहिड़ी महाशय को सामरिक इंजीनियरिंग विभाग से संवाद मिल गया है। अधिकारियों की भूल से उन्हें बदली का तार मिला था अब श्यामाचरण लाहिड़ी को रानी खेत में रहने की आवश्यकता नहीं – शीघ्र ही उन्हें दानापुर कार्यालय में लौट जाना होगा। गुरु की चरणवन्दना करके नवदीक्षित शिष्य ने सजल नेत्र द्रोणगिरि से प्रस्थान किया।

वापसी यात्रा में लाहिड़ी महाशय मुरादाबाद शहर में दो-तीन दिन ठहर गये। इस समय एक विचित्र घटना घटित हुई। वे अपने कई बंगाली मित्रों के साथ विभिन्न विषयों पर विचार-विमर्श कर रहे थे। उनमें एक ने बार्तालाप के प्रसग में कहा—"आधुनिक काल में पहले की तरह अलौकिक योग-विभूतिसंपन्न महात्माओं के दर्शन नहीं होते।"

श्यामाचरण ने दृढ़ता के साथ कहा, "ऐसी बात नहीं है। ऐसे महात्माओं के दर्शन आज भी असंभव नहीं हैं। आप यदि चाहें तो

मैं ध्यान बल से आकर्षण करके आप को यहीं दिखा सकता हूँ।"
मित्रों को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य एवं कौतुहल हुआ। उन्होंने लाहिड़ी महाशय से साग्रह अनुरोध किया, जिसे वे टाल नहीं सके। इसके सिवा, उन्होंने स्वयं अपने गुरुदेव के योगबल एव उनकी करुणा की चर्चा बात-चीत के सिलसिले में की थी। इसलिए यहाँ उस महापुरुष की मर्यादा रक्षा का भी प्रश्न था।

वे बोले, "अच्छा तुम लोग मुझे एक एकांत कमरा दो। उसके सब दरवाजे और खिड़कियाँ बाहर से बंद रहेंगी। मेरे ध्यान करने पर श्रीगुरुदेव अवश्य आविर्भूत होंगे।"

द्रोणगिरि के बाबाजी के निकट श्यामाचरण बहुत दिन नहीं रह सके। गुरु का वियोग असह्य होगा ऐसा सोचकर वे विह्वल हो उठे थे। उस समय बाबाजी ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा था, 'बेटा, तुम मेरे वियोग से दुःखी मत होओ। जान रखो, तुम जभी मेरा ध्यान करोगे, मैं तुम्हारे सामने प्रकट हो जाऊँगा।"

गुरुजी का यह वचन ही श्यमाचरण के लिए एक मात्र भरोसा था। आज इसीलिए एकांत कक्ष में बैठकर वे सद्‌गुरु का ध्यान करने लगे।

ध्यानयोग से आकृष्ट होकर बाबाजी महाराज की सुक्ष्मसत्ता शीघ्र ही उस कक्ष में मूर्त्त हो उठी। पास के आसन पर बैठकर महायोगी ने धीर-गम्भीर स्वर में कहा, "श्यामाचरण, तुम्हारे आह्वान पर मैं यहाँ पहुँचा हूँ। किंतु साधारण वार्तालाप के प्रसंग में, साधु दिखाने के उत्साह में, तुम इतनी दूर से मुझे आह्वान करके ले आये। तमाशा दिखाने के लिए ही क्या मैंने तुममें शक्ति संचारित की है, तुम्हें योगविभूति का अधिकारी बनाया है ?"

लाहिड़ी महाशय गुरुदेव के चरणों में साष्टाङ्ग दण्डवत् करते हुए वहाँ बैठ गये। गुरु ने जो उनका तीव्र तिरस्कार किया था, इससे उनके मुँह से कोई शब्द नहीं निकल रहा था। सिर झुकाये हुए वे चुपचाप बैठे थे। मन में सोच रहे थे, महायोगी द्वारा प्रदत्त

शक्ति का दुरुपयोग करके मैंने एक अक्षम्य अपराध किया है। अवश्य ही उनके द्वारा यह अति निन्दनीय कार्य हुआ है। सद्गुरु की जाग्रत दृष्टि को धोखा देने की शक्ति ही उनमें कहाँ हैं ?

बाबाजी महाराज ने दृढ़ स्वर में कहा, "सुनो, श्यामाचरण, अपने वचन और तुम्हारे सम्मान की रक्षा के लिए मैं यहाँ उपस्थित हुआ हूँ। किंतु, भविष्य में तुम स्वयं स्मरण करके मेरा साक्षात् नहीं पा सकोगे मैं ही जब आवश्यक समझूँगा, स्वेच्छा से प्रकट हो जाऊँगा।"

गुरुदेव के चरणों में गिरकर श्यामाचरण बार-बार क्षमा याचना करने लगे। वस्तुतः अविश्वासियों के मन में विश्वास उत्पन्न कराने के लिए ही उन्होंने यह काम किया था। इसलिए बाबाजी महाराज से उन्होंने सविनय निवेदन किया, "गुरुदेव, यदि कृपा करके यहा आ गये, तो सब लोगों को एक बार दर्शन देकर कृतार्थ करें।"

बाबाजी महाराज के इशारे पर कमरा के द्वार खोल दिये गये। लाहिड़ी महाशय के मित्रगण बाहर में अपेक्षा कर रहे थे, महायोगी के आविर्भाव का दर्शन करके उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। सबने साष्टाङ्ग प्रणाम किया। यह न तो कोई इन्द्रजाल है, और न मायामय शरीर का आविर्भाव, यह भी सबने अनुभव किया। इसके बाद पूड़ी-हलुआ तैयार कर के श्यामाचरण ने गुरु महाराज को भोग लगाया और सब लोगों ने मिलकर सानन्द उनका प्रसाद ग्रहण किया।

लाहिड़ी महाशय दानापुर लौटकर आफिस में कार्य करने लगे। बाबाजी द्वारा प्रदत्त योग साधना ही इस समय उनके जीवन का प्रधान अवलम्ब था। महायोगी की कृपा का स्पर्श पाकर आज उनके जीवन का रूपान्तर हो गया था। एक नया आनन्द एक नूतन आलोक। अध्यात्म-जीवन का शतदल एक-एक कर प्रस्फुटित होने लगा था। आफिस के नित्य के कार्य को समाप्त करके वे दिनान्त में मौन भाव से एकान्त में योगसाधना में निमग्न रहते। उनके जो सहकर्मी थे उन्हें भी उस समय उस महासाधक का वास्तविक परिचय मिलना कठिन था। आत्मभोला सदा तन्मय लाहिड़ी महाशय के इस रूपा-

न्तर का यथार्थ स्वरूप यद्यपि वे समझ नहीं रहे थे, फिर भी कुछ लोगों को उनका रंग ढंग अस्वाभाविक जैसा प्रतीत होता था। आफिस के ऊपरवाले साहब अपने इस उदासीन कर्मचारी को "पगला बाबू" कहकर पुकारते थे।

एकबार की घटना से श्यामाचरण की अलौकिक योगविभूति कुछ प्रकट जैसी हो गई। आफिस के साहब कई दिनों से बहुत उदास देखे जा रहे थे। श्यामाचरण ने उनसे इस उदासी का कारण पूछा। सुना, इंगलैंड में उनकी मेम कठिन रोग से पीड़ित हैं और उनका बचना कठिन है। कुछ दिनों से उनका कोई समाचार भी नहीं मिला है. इसलिए बहुत चिन्ताग्रस्त थे। लाहिड़ी महाशय का हृदय करुणा से भर गया। उन्होंने साहब को आश्वासन दिया, मैं आज ही मेम साहब का कुशल समाचार मँगा देता हूँ। अपने अधीनस्थ कर्मचारी के इस कथन पर साहब को सहज ही विश्वास नहीं हुआ। फिर भी श्यामाचरण ने साहब के प्रति जो समवेदना प्रकट की थी, उसका प्रभाव उनपर अवश्य पड़ा। उदास दृष्टि से लाहिड़ी महाशय की ओर देखते हुए वे चुप रहे।

समीप के एक एकांत कक्ष में जाकर वे ध्यानाविष्ट हो गये। उसके बाद वहाँ से बाहर निकल कर साहब को सूचित किया, आपकी स्त्री चंगी हो गई हैं और वह शीघ्र ही अपने हाथ से आपको पत्र लिखेंगी। इतना ही नहीं, उन्होंने उस पत्र की भाषा और विषयवस्तु भी हू-बहू बतला दी।

साहब ने भारतीय योगियों की कितनी ही अलौकिक विभूतियों की कथाएँ सुन रखी थी। किन्तु, उनके आफिस का 'पगला बाबू, शक्ति के अधिकारी हैं इस पर विश्वास करने का उनका जी नहीं करता था। फिर भी श्यामाचरण के कथन से उनके मन की उद्विग्नता उस दिन दूर हो गई। इसके कई दिनों के बाद ही मेम साहब का पत्र आ गया। लाहिड़ी महाशय ने पत्र की जो भाषा बतायी थी उसके साथ इसकी आश्चर्य जनक मेल देखकर साहब स्तंभित हो गये।

कई महीनों के बाद साहब की स्त्री इंगलैंड से भारत आकर दानापुर में अपने पति से मिली। सहसा एक दिन लाहिड़ी महाशय को देखकर उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। साहब को वह दृढ़ स्वर में कहने लगीं, "इन महात्मा को ही इंगलैंड रहते समय मैंने देखा था, मेरी रोगशय्या की बगल में ये खड़े थे। जीने की जब कोई आशा नहीं रह गई थी, तब इन्हीं की कृपा से अलौकिक रूप से मैं रोगमुक्त हुई थी—मुझे पुनर्जीवन प्राप्त हुआ है।" पगला बाबू की इस अपूर्व योग-विभूति की बात सुनकर साहब को असीम आश्चर्य हुआ।

योग-साधना के एक-एक स्तर को पार करते हुए लाहिड़ी महाशय आगे बढ़ रहे थे। योगी सद्गुरु की कृपा से उन्हें नाना अध्यात्म-अनुभूति एवं यौगिक विभूतियाँ प्राप्त हो रही थीं। गुरु की योगशक्ति से शक्तिमान होकर वे अपने जीवन के पूर्णतर रूपांतर पथ पर अग्र-सर हो रहे थे। कुछ दिनों के बाद शीघ्र ही एक बार बाबाजी महाराज अपने प्रिय शिष्य की आवश्यकता समझ कर स्वेच्छा से वहाँ आविर्भूत हुए।

एक दिन लाहिड़ी महाशय अपने घर के निकट टहल रहे थे। उन्होंने देखा कुछ ही दूर पर एक वटवृक्ष के नीचे एक साधु गाँजे का दम लगा रहे हैं। उनके चेहरे में कोई भी आकर्षण नहीं था। शरीर पर जो वस्त्र था वह फटा-चिटा और गंदा था। देखने से उनके प्रति किसी प्रकार की श्रद्धा नहीं होती थी बल्कि मन में नाना सन्देह होने लगते थे। पहले जब लाहिड़ी महाशय इस प्रकार के किसी साधु को देखते थे, तो उन्हें वे ठग या चोर, बदमास समझ लेते थे।

किंतु यह कैसा आश्चर्य! वे स्वप्न तो नहीं देख रहे हैं? साधु के समीप पहुँचने पर उन्होंने देखा, उनके पूज्यपाद गुरुदेव एकांत निष्ठा के साथ उस गंजेड़ी साधु का लोटा माँज रहे हैं।

बाबाजी महाराज यहाँ? दानापुर आप कब आये और किस उद्देश्य से? और आपकी यह सोचनीय अवस्था क्यों? निकट पहुँच कर साष्टांग प्रणाम किया। खेद के साथ बाबाजी से प्रश्न किया,

"बाबा यह क्या ; आप यह हीन काम क्यों कर रहे हैं ? यह गँजेड़ी साधु कौन है ?"

हाथ के लोटा को माँजते हुए गुरुजी ने प्रशांत कंठ से उत्तर दिया, "श्यामाचरण; मैं साधु सेवा जो कर रहा हूँ। सब घटों में मेरे नारा-यण विराजमान हैं। तुम भगवान के इस सर्वव्यापी चैतन्यमय रूप की उपलब्धि करने की चेष्टा क्यों नहीं करते ?"

लाहिड़ी महाशय को यह समझने में देर नहीं लगी कि सब जीवों और सब भूतों में परिव्याप्त परमात्मा के अस्तित्व को उनकी चेतना में जाग्रत करने के उद्देश्य से ही उनके सद्गुरु ने यह अपूर्व लीला की है। योगी शिष्य को वे महा प्रेमिक के रूप में रूपांतरित करना चाहते हैं। श्यामाचरण के चेतन एवं अवचेतन मन में जो भेद-ज्ञान आज भी सूक्ष्म रूप से वर्त्तमान था, बाबाजी महाराज उसका मूलो-च्छेद करने के लिए कटिबद्ध थे। लाहिड़ी महाशय के चैतन्य में उस दिन एक विराट् आलोड़न जाग उठा।

बाबाजी महाराज को अपने घर ले जाकर उन्होने उनका आदर, सत्कार ऐवं सेवा की। योग-साधना के संबंध में आवश्यक निर्देश प्रदान करके गुरुदेव वहाँ से विदा हुए।

इसके बाद से लाहिड़ी महाशय के मनोभाव में एकबारगी परिवर्त्तन हो गया। अब वह सब जीवों में नारायण के दर्शन करने लगे। दुष्ट एवं पापीजनों को भी ईश्वर समझ कर वे मन ही मन प्रणाम करने से नहीं चूकते। दर्शनार्थी एवं भक्तजनों के प्रणाम करने पर वे भी प्रत्याभिवादन करते।

दानापुर में रहते हुए वे धीरे-धीरे योगाचार्य के रूप में अपने को प्रकट करने लगे। दो-चार जिज्ञासु मोक्षकामी भक्त भी उनके समीप क्रमशः उपस्थित होने लगे। वृन्दाभगत नामक एक सिपाही उनका परम दीक्षित शिष्य था। योग साधना द्वारा लाहिड़ी महाशय के उस निरक्षर शिष्य ने जो सफलता प्राप्त कर ली थी, वह आश्चर्य-जनक थी।

एक बार बाकीपुर के जमींदार के यहाँ विशिष्ट शास्त्रज्ञ पंडितों के बीच धर्म-तत्त्व विषय को लेकर शास्त्रार्थ चल रहा था। वृन्दा भगत भी उस दिन अपने कई साथियों के साथ श्रोतारूप में उपस्थित था। पंडितों की कतिपय भ्रमपूर्ण उक्तियों का प्रतिवाद करते हुए उसने एकाएक धर्म के मूल तत्त्व की व्याख्या आरम्भ कर दी। उसकी यह व्याख्या साधन लब्ध अनुभूति से पूर्ण और अनुभूत सत्य की दीप्ति से उज्वल थी। उस निरक्षर सिपाही के उस दिन के भाषण ने पंडित मंडली को चकित कर दिया। लाहिड़ी महाशय के आश्रय में रहकर वृन्दा भगत बाद में चलकर एक सार्थक योगी के रूप में प्रसिद्ध हो गया। लाहिड़ी महाशय उस समय अपने इस शिष्य के सम्बन्ध में सस्नेह कहा करते थे, "वृन्दा सच्चिदानन्दसागर में उतरा रहा है।"

रानीखेत में दीक्षा ग्रहण करने के बाद लाहिड़ी महाशय लगभग पचीस वर्ष नौकरी में रहे। आफिस के कार्य से जब जहाँ वे रहते दो-चार प्रकृत अधिकारी पुरुषों को निगूढ़ योगसाधन की शिक्षा प्रदान करते। इस समय बिहार के मुंगेर और भागलपुर तथा बगाल के विष्णुपुर, बाँकुड़ा और कृष्णनगर से योगसाधन की शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से एक शिष्य-दल उनकी सेवा में उपस्थित हुए।

१८८५ ई० में लाहिड़ी महाशय सेवा-निवृत हुए। इन महासाधक के चरणों में इस समय से ही दल-के-दल साधक मुमुक्ष जन एकत्र होने लगे। सिद्ध योगी के आचार्य-जीवन की वृहत्तर भूमिका इस समय से ही आरम्भ हुई।

लाहिड़ी महाशय अपनी गुरु-प्रदत्त योगसाधना की शिक्षा-दीक्षा प्रधानतः गृहस्थाश्रम के साधक जनों को ही दिया करते थे। बाबाजी महाराज ने उन्हें आदेश किया था, "श्यमाचरण, तुम संसार में लौट जाओ। वहाँ रहकर योग-युक्त साधु गृहस्थ-समाज को प्रतिष्ठा करो, प्राचीन योगसाधन की निगूढ़ धारा को पुनरुज्जीवित करो।" इसीलिए लाहिड़ी महाशय चाहते थे कि उनके शिष्यगण आध्यात्मिक

मार्ग में उन्नति करके गृहस्थाश्रम में ही रहें। साधनेच्छु जनों को संन्यास ग्रहण करने से वे मना करते थे। उनको सावधान करते हुए कहा करते थे, "संन्यास-जीवन बड़ा कठिन और दायित्वपूर्ण है। जान रखो गृहस्थाश्रमी की भूल-चूक के लिए कुछ क्षमा हो सकती है, किन्तु संन्यासी की भूल-चूक के लिए कोई क्षमा नहीं।' किन्तु वस्तुतः इन सब गृहस्थ भक्तों एवं शिष्यों के अतिरिक्त उनके कितने ही सर्वत्यागी, ब्रह्मचारी एवं दण्डी संन्यासी शिष्य भी थे।

'काशी का बाबा' या 'योगीराज' के रूप में अब वे जनसाधारण में अभिहित होने लगे थे। ऊँच-नीच, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सब सम्प्रदायों के मुमुक्षु जनों के लिए योगिराज का कृपा-द्वार निरन्तर खुला रहता था। निरक्षर सिपाही वृन्दा भगत जिस प्रकार उनके आश्रय में रहकर एक योगसिद्ध महापुरुष बन गया उसी प्रकार अब्दुल गफूर खाँ नाम का एक गरीब मुसलमान भक्त भी उनसे योगसाधन की शिक्षा प्राप्त करके योग की उन्नतावस्था को प्राप्त हुआ। दरिद्र काशीवासी से लेकर काशी-नरेश ईश्वरी नारायण सिंह जैसे प्रभावशाली व्यक्ति दीक्षा लाभ के लिए योगिराज के शरणागत होते देखे जाते थे। गृहस्थ भक्तों के साथ-साथ विशिष्ट संन्यासी साधकों का भी उनके समीप आना-जाना लगा रहता था। संन्यासी साधकों में जो लोग उनके समीप आया-जाया करते थे, उनमें देवघर के श्री बालानन्द ब्रह्मचारी एवं काशी के श्री भास्करानन्द सरस्वती के नाम उल्लेखनीय है।

समाज के विभिन्न वर्गों के बहुसंख्यक शिष्यों से घिरे रहकर लाहिड़ी महाशय अब काशी में बास करने लगे थे। उनके सिद्ध जीवन के अन्तिम दस वर्ष आश्चर्यजनक योग-विभूतियों एवं करुणा के अनुपम माधुर्य से परिपूर्ण थे। काशीपुरी जैसे भारत के श्रेष्ठ अध्यात्म-केन्द्र में रहते हुए योगिराज की अलौकिक लीलाएँ एक-एक कर प्रकट होने लगीं। उन लीलाओं की अद्‌भुत कहानियाँ आज भी लोगों के मुख से सुनी जाती हैं।

लाहिड़ी महाशय उस समय काशी के गरुड़ेश्वर मुहल्ला में रहा करते थे। उनके अन्तरङ्ग शिष्य युक्तेश्वर प्रायः नित्य गुरु के दर्शन के लिए जाया करते थे। राम उनके एक घनिष्ठ मित्र थे, जो प्रायः उनके साथ हो लिया करते थे। योगिराज का सत्संग-लाभ और उनके उपदेशों को सुनकर दोनों के दिन बड़े आनंद से व्यतीत हो रहे थे। अचानक एक दिन राम हैजा रोग से आक्रांत हुआ। रोग भयानक था। युक्तेश्वर घबराये हुए दौड़कर गुरुदेव के निकट पहुँचे। लाहिड़ी महाशय ने रोग की चिकित्सा के लिए कुशल डाक्टरों को बुलाने की सलाह दी। ऐसा ही किया गया।

शहर के दो प्रसिद्ध अनुभवी डाक्टर रोगी की शय्या के पास तत्पर थे, फिर भी चिकित्सा से कोई लाभ नहीं हो रहा था। डाक्टरों ने हताश होकर युक्तेश्वर को बता दिया कि रोगी अधिक-से-अधिक दो घंटे तक जीवित रह सकता है। युक्तेश्वर फिर दौड़कर गुरुदेव के पास गये और रोगी की गंभीर अवस्था से उन्हें परिचित कराया। आसन पर बैठे हुए योगी के चेहरे पर किसी प्रकार का उद्वेग नहीं देखा गया। उन्होंने युक्तेश्वर से केवल इतना ही कहा; "जाओ, भय मत करो। डाक्टर तो देख ही रहे हैं!"

लौटकर आने पर युक्तेश्वर को मालूम हुआ कि रोगी के बचने की कोई आशा नहीं है। यह कह कर दोनों डाक्टर चले गये हैं। मृत्यु के पूर्व क्षण राम एक बार क्षीण स्वर में बोला, "भाई गुरुदेव से जाकर कहो, मैं अब चला। एक बात और, अंत्येष्ठि क्रिया के पूर्व मेरे इस शरीर को वे आशीर्वाद दें।" राम के निष्प्राण शरीर को घर में रखकर युक्तेश्वर उसी समय दौड़कर गुरु के समीप गये। लाहिड़ी महाशय ने पूछा "क्यों, राम का क्या हाल है ?" शोकातुर युक्तेश्वर रो पड़ा। रोते हुए उत्तर दिया "गुरुदेव, स्वयं चलकर देख लें, वह कैसा है। उसके मृत शरीर को श्मशान ले जाने का उद्योग हो रहा है।"

"शांत होओ।' इतना कहकर योगिवर ने आँखें मूँद ली। उनकी ध्यानाविष्ट मूर्त्ति कुछ समय तक नीरव एवं निश्चल रही। इसके बाद

जब बाह्यज्ञान लौट आया, उन्होंने सामने जलते हुए दीप से थोड़ा सा, रेड़ी का तेल निकाल, उसे युक्तेश्वर के हाथ में देते हुए कहा, जाओ इसे तुरत राम को पिला दो।"

युक्तेश्वर को बड़ा आश्चर्य हुआ। किसको पिलाया जायगा? राम की मृत्यु तो उसकी आँखों के सामने ही हो चुकी थी। और गुरुदेव को भी तो यह मालूम ही है, उनसे तो कभी कोई भूल नहीं हो सकती।

फिर भी आदेशानुसार उसे कार्य करना ही होगा। इसलिए वह शीघ्र लौट कर घर आ गया। उस समय तक राम का शरीर एकदम शीतल हो गया था, जीवन का कोई लक्षण नहीं। किसी प्रकार मुँह के अंदर कई बूँद तेल डाल दिया गया। इसके बाद जो अलौकिक घटना देखी गई, उससे जितने लोग वहाँ उपस्थित थे विस्मय-विमूढ़ हुए बिना नहीं रहे।

सब लोगों के समक्ष ही राम के निःस्पंद शरीर में धीरे-धीरे प्राण संचार होने लगा और वह होस में आने लगे। स्वस्थ होने पर उन्होंने उस दिन की विचित्र अभिज्ञता का इस प्रकार वर्णन किया– मुझे दिखाई पड़ा कि एक ज्योतिर्मय पुरुष के रूप में लाहिड़ी महाशय मेरे सिरहाने खड़े हैं। मुखमण्डल पर मधुर हँसी विखेरते हुए शांत स्वर में योगिराज कह रहे हैं, "राम और कितना सोओगे? जाग पड़ो, और तब शीघ्र मेरे समीप आ जाओ।" युक्तेश्वर कहा करते थे, इसके बाद में जो घटना घटित हुई उसे यदि मैं अपनी आँखों से नहीं देखता, तो सब मुझे एक गप जैसा प्रतीत होता। उन्होंने आश्चर्य के साथ देखा कि सचमुच राम कपड़ा पहनकर अपने गुरु-देव के समीप जाने के लिए तैयार हो गया है। इसके बाद दोनों मित्र एक साथ गाड़ी पर सवार होकर गुरु महराज के पास पहुँचे।

रहस्यपर्ण भाव से हँसते हुए योगिराज बोले, "युक्तेश्वर, आगे से किसी मृत शरीर को देखते ही फौरन एक बोतल रेडी का तेल जुटा-कर रखना। प्रत्यक्ष देखा तो इस तेल की कई बूँदों ने यम को भी परास्त कर दिया।"

लाहिड़ी महाशय का यह परिहास सुनकर जितने लोग वहाँ

उपस्थित थे, सब हँसने लगे। किंतु युक्तेश्वर को असल बात उसी समय समझ में आ गई। योगिराज लौकिक रीति के अनुसार वैज्ञानिक चिकित्सा में व्याघात उत्पन्न करना नहीं चाहते थे, इसलिए डाक्टरों को मौका दिया गया। और यह रेड़ी का तेल वस्तुतः कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु नहीं था वह तो उपलक्ष्य मात्र था। युक्तेश्वर के मन में यह छिपी हुई आकांक्षा थी कि एक रोगनाशक औषधि दी जाय। इसलिए उसके संतोषार्थ उस दिन गुरुदेव ने तेल प्रदान किया था। यही चीज उस समय वहाँ सुलभ थी, इसलिए गुरुदेव ने सहज ही उसका व्यवहार किया था। मृत देह में प्राण-संचार तो उनके योगबल से ही हुआ था, इसमें जरा संदेह नहीं।

योगिराज श्यामाचरण अपने आश्रित शिष्यों के योग-क्षेम के संबंध में सदा सतर्क रहा करते थे। अभया नाम की उनकी एक प्रिय शिष्या थी। उसके पति कलकत्ते में एक नामी वकील थे। इस दम्पति की आठ संतानें थीं, जिनमें एक-एक कर सभी क्रूर काल द्वार कवलित हो चुकी थीं। इसलिए जब अभया संतानसंभवा हुई, उसने गुरुदेव के चरणों को पकड़ कर अपनी नवीं सन्तान की प्राण-रक्षा के लिए विनती की और कहा कि आपको इतनी कृपा करनी होगी। आश्रित-वत्सल लाहिड़ी महाशय ने कहा, "अच्छा,अच्छा ऐसा ही होगा! इस बार तुमको एक कन्या होगी और वह अच्छी तरह जीवित रहेगी। किंतु मेरा एक विशेष आदेश है, जिसके पालन में तुम से त्रुटि नहीं होना चाहिये! शिशु का जन्म रात्रि में होगा। उस समय से लेकर सूर्योदय तक घर में एक तेल का दीप जलते रहना चाहिये। किंतु सावधान। प्रसूतिगृह में जो लोग हों, वे सो न जायँ और दीप कभी बूझे नहीं।"

अभया के गर्भ से एक कन्या का जन्म हुआ। आदेशानुसार घर में दीप जलाये रखने की व्यवस्था की गयी। किंतु रात के अंतिम पहर में प्रसूति और धाई दोनों सो गयीं। दीप का तेल भी समाप्त होने पर है—लौ बुझने-बुझने पर है। इसी बीच में प्रसूत-हि मेगृ

एक अलौकिक कांड हो गया। कमरे का बंद दरवाजा एकाएक हवा के झोंके से खुल गया। अभया की नींद टूट गयी और उसने विस्मय-विस्फारित नेत्रों से देखा कि लाहिड़ी महाशय कमरा के दरवाजे पर खड़े हैं। टिमटिमाते चिराग की लौ की ओर अंगुली से इशारा करते हुए वे नव प्रसूती को कह रहे हैं, "अभया ! इधर देखो बत्ती बुझती जा रही है।" वह हड़बड़ा कर उठी और दीप में तेल ढाल दिया। उसी क्षण गुरुदेव की करुणाधन मूर्त्ति न मालूम कहाँ अदृश्य हो गयी।

यह महिला एक बार गुरुदेव श्यामाचरण के दर्शनों के लिए उत्कंठित होकर कलकत्ता से काशी जा रही थी। हावड़ा स्टेशन पर पहुँचने के साथ-साथ बनारस एक्सप्रेस छूट गयी, और वह गाड़ी पर सवार न हो सकी। उनका हृदय दुःख से व्याकुल हो उठा। योगिराज की पवित्र मूर्त्ति का स्मरण करके वह रोने लगीं।

इसी समय अचानक देखा गया कि प्लेटफार्म से कुछ दूर पर गाड़ी रुक गयी है ; ड्राइवर और इंजीनियर को इस प्रकार ट्रेन रुक जाने का कोई कारण मालूम नहीं हो रहा है। महिला दौड़कर अपने सामान के साथ ट्रेन के डब्बे में सवार हो गयीं। आश्चर्य, उनके स्थिर होकर बैठने के साथ-साथ गाड़ी चल पड़ी। काशी पहुँचकर जब वे गुरुदेव को प्रणाम करने गईं, उन्होंने मुस्कराते हुए कहा, "गाड़ी पकड़ने के लिए कुछ और पहले चलना होता है। तुमलोग मुझे कितनी परेशानी में डाल देती हो ! बोलो तो यदि बाद की गाड़ी से काशी पहुँचती, तो इससे क्या क्षति होती ?"

काशी में उस समय तैलंग स्वामी के योगैश्वर्य की बड़ी ख्याति थी। स्थानीय जनता तथा तीर्थयात्री उन्हें अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। स्वामी जी महाराज एक दिन गङ्गाघाट पर आसन लगाये बैठे थे। उनको घेर कर भक्तगण बैठे हुए थे। इसी समय धोती कुर्त्ता पहने हुए एक बंगाली सज्जनअपने दो साथियों के साथ उन्हें प्रणाम करने के लिए वहाँ पहुंचे।

आगत सज्जन का मुखमण्डल आनंदोत्फुल्ल था। धीर-गंभीर पद से उन्हें आगे बढ़ते हुए देखकर स्वामीजी सहर्ष उठकर खड़े हो गये। उस समय ऐसा लगा मानो योगसाधना का मूर्त्त मैनाक पर्वत किसी जादू के स्पर्श से सचल बन गया हो। स्वामीजी ने आगे बढ़कर नवागन्तुक को अपनी विशाल छाती से लगा लिया। उस समय श्रेष्ठ योगी तैलंग महाराज का सर्वाङ्ग आनंद के आवेग मे उच्छलित हो रहा था।

आगन्तुक सज्जन कुछ क्षणों तक उनके समीप रहे, उसके बाद श्रद्धाभाव से प्रणाम करके अपने साथियों के साथ चले गये।

तैलंग स्वामो के अंतरङ्ग भक्त अबतक विस्मित होकर इस दृश्य को देख रहे थे। इन गृहस्थ सज्जन की अभ्यर्थना करके स्वामोजी कितने उल्लसित हो रहे थे। इस प्रकार हर्षोत्फुल्ल भाव से उन्हें कभी किसी का प्रेमालिंगन करते नहीं देखा गया था इस प्रकार का दृश्य उनके भक्तों ने अबतक कदाचित् ही प्रत्यक्ष किया था। आगन्तुक के चले जाने पर सबने उत्सुक होकर स्वामोजी से पूछा, "बाबा, ये व्यक्ति क्या इतने बड़े साधक थे कि आपने इतने उत्साह के साथ उनके प्रति सम्मान प्रदर्शित किया ?"

स्वामीजी ने प्रशांत कंठ से उत्तर दिया, 'योग-साधना की जिस उन्नतवस्था पर पहुँचने के लिए साधकों को लंगोट तक छोड़नी पड़ी है, गृहस्थी में रहते हुए भी इस पुरुष ने उस पद को प्राप्त कर लिया है।"

उपस्थित भक्तमंडली को इसके बाद पता चला कि ये असाधारण योग-विभूति के अधिकारी श्यामाचरण लाहिड़ी हैं। भारत के अन्यतम श्रेष्ठयोगी 'बाबाजी माहराज' की निगूढ़ साधन पद्धति को इन्होंने आयत्त किया है। गृहस्थाश्रम में रहकर प्रधानतः गृहस्थों में योग-साधना का प्रचार करना इनका व्रत है। काशी के अध्यात्म-मंडल में उस दिन से लाहिड़ी महाशय के संबंध में विशेष रूप से चर्चा होने लगी। योगिश्रेष्ठ महाब्रह्मज्ञानी तैलंग स्वामी की स्वीकृति मिल जाने पर साधक समाज के एक नेता के रुप में शीघ्र ही उनकी प्रसिद्धि हो गयी।

लाहिड़ी महाशय के एक दीक्षित शिष्य स्वामी केवलानन्द भास्करानन्द सरस्वती से वेदांत पढ़ा करते थे। भास्करानन्द जी ने किस प्रकार योगिराज श्यामाचरण से योगसाधन की कुछ शिक्षा प्राप्त की थी, इसका विवरण केवलानन्द जी ने दिया है। श्यामाचरण महायोगी बाबाजी महाराज के शिष्य और उनकी निगूढ़ योग-साधन के अधिकारी थे। स्वामी भास्करानन्द जी से यह बात छिपी हुई नहीं थी। उनसे योग की कई विशेष पद्धतियों की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उत्कंठित होकर उन्होंने लाहिड़ी महाशय को अपने आश्रम में पधारने के हेतु आमंत्रित किया। लाहिड़ी महाशय केवलानन्द जी से आमंत्रण की वात सुनी। इसके बाद रहस्यात्मक ढंग से उन्होंने जो उत्तर दिया, वह बड़ा तात्पर्यपूर्ण था। उन्होंने कहा, "प्यास लगने पर प्यासा मनुष्य कुंए के पास दौड़कर जाता है। कुँआ कभी उसके लिए अपना स्थान छोड़ता है ?'

वाद में चलकर एक निर्जन उद्यान में अकस्मात् दोनों एक दूसरे से मिले। कृपालु लाहिड़ी महाशय ने उस समय भास्करानन्द जी को योग की कतिपय गूढ़ शिक्षा प्रदान की।

योगिराज की धर्मपत्नी काशीमणि देवी अपने पतिदेव के योगैश्वर के सम्बन्ध में कितनी ही कहानियाँ सुनाया करती थीं। बाद में आचार्य योगानन्द न उनमें से कुछ तथ्यों का संकलन किया था। एक दिन बहुत रात बीते काशी देवी की निद्रा अचानक भंग हो गयी। उन्होंने जगकर देखा, 'सारा कमरा एक उज्वल प्रकाश से भर गया है, और घर के एक कोने में पद्मासन लगाये हुए योगिराज भूमि से ऊपर उठ कर शून्य में अवस्थान कर रहे हैं।' काशीमणि तो यह दृश्य देखकर स्तम्भित हो गयी। वह मन-ही-मन सोचने लगीं, मैं स्वप्न तो नहीं देख रही हूँ ? योगिराज पत्नी को और भी विस्मित करके मृदु गंभीर कंठ से कहने लगे, "नहीं ! यह तुम्हारा भ्रम नहीं है या एक स्वप्न में देखा हुआ कोई दृश्य नहीं है। तुम तामसी निद्रा से जाग उठो—चिरकाल के लिए जाग्रत हो जाओ !" इसके बाद उनका

शरीर धीरे-धीरे शून्य से अवतरण करके भूमि पर आसीन हो गया। पतिदेव के चरणों में साष्टाङ्ग प्रणत होकर काशीमणि ने उनसे साधन की प्रार्थना की। इसके बाद ही योगिराज ने उन्हें दीक्षा एवं योग-साधना प्रदान की।

एक बार लाहिड़ी महाशय की एक भक्तिमती शिष्या ने उनसे एक फोटो की माँग की। फोटो देते समय उन्होंने कहा, "यदि सचमुच भक्ति-विश्वास करो और मानो तो यही एक परम अवलम्ब होगा, नहीं तो एक साधारण फोटो मात्र।"

इसके कुछ समय बाद की घटना है। एक दिन संध्या समय यह महिला एक गुरुबहन के साथ बैठ कर शास्त्र ग्रन्थ पाठ कर रही थी। सामने टेबुल पर लाहिड़ी महाशय की तस्वीर रखी हुई थी। उस दिन एकाएक बड़े जोरों का आँधी-पानी शुरू हुआ और उस घर के ऊपर बिजली गिरी। महिलाएँ जिस ग्रन्थ का पाठ कर रही थीं, वह बिजली से आहत हुआ, किंतु दोनों महिलाएँ आश्चर्यजनक रूप में गुरुकृपा से बाल-बाल बच गईं। दुर्घटना के समय उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि कोई अदृश्य कल्याण-शक्ति एक बर्फ की दीवार द्वारा बिजली के आघात से उनकी रक्षा कर रही है।

लाहिड़ी महाशय के एक शिष्य काली कुमार राय ने गुरुदेव के सम्बन्ध में कितनी ही मनोज्ञ कहानियों का विवरण दिया है। उन्होंने लिखा है, "मैं ठाकुर के काशी स्थित घर पर बार-बार जाया करता था और वहाँ कई सप्ताहों तक ठहरता था। उस समय देखता था। बहुत से साधु, सन्त, दण्डी, संन्यासी मध्य रात्रि में नीरव भाव से उनके चरणों में उपस्थित होते। उच्चतम ज्ञान-तत्त्व एवं दुरूह योग-साधन की विभिन्न पद्धतियाँ वे श्रद्धा के साथ गुरुदेव से शिक्षा के रूप में ग्रहण करते। और, ये सब आगंतुक तड़के ही चुपचाप न मालूम कहाँ चले जाते। लगातार कई सप्ताहों तक मैंने ठाकुर को सोते नहीं देखा।"

योगिराज लाहिड़ी महाशय उस समय विराट् अध्यात्म-शक्ति

के उच्चासन पर अधिष्ठित हो चुके थे। साधना एवं शक्ति का दिव्य भांडार जन कल्याण के लिए उन्मुक्त करदेने को वे बैठ थे। भक्त, मुमुक्षु, योग-साधन-प्राप्त शिष्यगण, जो कोई भी इस महापुरुष के दर्शन करते, अपार्थिव आनन्दधारा में अभिषिक्त हुए बिना नहीं लौटते। लाहिड़ी महाशय के दरस-परस में ही न मालूम कितने संसारी जनों का तत्काल आध्यात्मिक रूपान्तर हो गया था।

दर्शनार्थियों में कुछ अविश्वासी लोग भी हुआ करते थे। इनके आवागमन से लाहिड़ी महाशय के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं पड़ता। किन्तु व्यंग्यविरूप करनेवाले दुष्ट प्रकृति के अविश्वासी व्यक्तियों को बीच-बीच में वे शान्ति प्रदान किया करते थे। योगमार्ग की मर्यादा—रक्षा के लिए सदा निर्लिप्त ध्यान-तन्मय योगिराज को बीच बीच में सतर्क होते भी देखा जाता था। उनके शिष्य काली कुमार राय ने इस सम्बन्ध में एक कहानी का उल्लेख किया है।

काली कुमार बाबू को दीक्षा ग्रहण किए हुए अभी कुछ ही दिन हुए थे और गुरु द्वारा निर्देशित साधन-पथ पर वे अग्रसर हो रहे थे। उनके आफिस का जो बड़ा बाबू था, उसे यह सब अच्छा नहीं लगता था। लाहिड़ी महाशय के विरुद्ध प्रायः व्यग्यपूर्ण वाक्यों का प्रयोग करता रहता था। एक बार काली कुमार बाबू का पीछा करते हुए वह भी लाहिड़ी महाशय के गरुड़ेश्वर महल्लावाले वासस्थान पर आया। उसका उद्देश्य था योगिराज के धर्माचरण को ढोंग सिद्ध करना और उनका अपमान करना।

कमरे के अंदर लाहिड़ी महाशय के दस-बारह जन बैठे हुए थे। आगंतुक उनके सामने आकर बैठ गया। उसके आसन ग्रहण करने पर योगिराज ने धीर-गंभीर भाव से सब लोगों से पूछा, 'तुमलोग क्या आज एक विचित्र दृश्य देखना चाहते हो?" सब ने सोत्साह 'हाँ' कहा। कमरे को तुरंत अँधेरा कर दिया गया। योगिराज के संकेत से उस समय भक्तों के सम्मुख धीरे-धीरे एक अलौकिक दृश्य प्रकटित होने लगा।

सब लोगों ने देखा, एक सुंदरी युवती लाल किनारे की साड़ी पहने हुई वहाँ खड़ी है। फिर कान्ती कुमार बाबू के आफिस का जो बड़ा बाबू था उसे पुकार कर लाहिड़ी महाशय ने तीक्ष्ण स्वर में पूछा, 'देखो तो, इस रमणी को पहचानते हो या नहीं ?' इस समय तक इस आगंतुक की बहादुरी और व्यंग्य का उत्साह कुछ ठंडा पड़ चुका था। डरी हुई आवाज में उसने कहा, "जी हाँ यह मेरी परिचिता है।'

भय और लज्जा से उसका चेहरा फक हो गया। उसने सब कुछ निश्छल भाव से स्वीकार किया। वह स्त्री उसकी रखेल थी। अपनी पत्नी और पुत्र के होते हुए भी इस स्त्री के पीछे मूर्ख की तरह वह धन खर्च कर रहा है। योगिराज का अध्यात्म प्रभाव, उनकी योग-विभूति के इस विचित्र प्रकाश को देख कर उसके मन में बड़ा अनुताप हुआ। आँसू से रुँधे हुए गले से उसने निवेदन किया "बाबा, मुझे क्षमा करें, इस पाप-मोह से मेरी रक्षा करें। मुझे भी दीक्षा प्रदान करके अपने श्रीचरणों में शरण दें।"

किंतु सर्वज्ञ योगेश्वर की दृष्टि में उसके अनुताप एवं दुःख वास्तविक नहीं थे। दीक्षा प्राप्त करने की जिसकी पूरी तैयारी नहीं है और जो उसका अधिकारी नहीं है, उसे वे किस प्रकार ग्रहण करते ? उत्तर दिया "अच्छा, आगामी छह मास तक यदि आप संयत होकर रहेंगे, तो मैं आपको दीक्षा दूँगा। "

उक्त उच्छृंखल व्यक्ति को यह सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। किसी प्रकार तीन महीनों तक संयत जीवन व्यतीत करने के बाद फिर उस रमणी के साथ उसका संपर्क हुआ और उसके दो महीने के पश्चात् उसकी मृत्यु हो गई। योगिराज ने उस दिन क्यों उसका अनुरोध टाल दिया और छह मास के बाद दीक्षा देने की बात कही थी, इसका रहस्य अब लोगों की समझ में आया।

विशाल योग-विभूति के ऐश्वर्य को लाहिड़ी महाशय सहज ही स्वच्छन्द भाव से धारण किये हुए चल रहे थे। बिना विशेष प्रयोजन के उन विभूतियों को प्रकट करते हुए उन्हें नहीं देखा जाता था। कभी

दुष्टजनों को दंड देने के लिए और कभी लीला के रूप में वे अपनी योग-शक्ति का लोगों के सामने बीच-बीच में प्रकट किया करते थे। मुमुक्षु भक्तों के विश्वास को दृढ़तर करने के लिए भी वे कभी-कभी अपनी विभूति-लीला का प्रदर्शन करते थे।

लाहिड़ी महाशय का पड़ोसी एक युवक एक दिन उन्हें प्रणाम करने के लिए आया। उसका नाम चन्द्रमोहन दे था। कुछ ही समय पहले डाक्टरी परीक्षा पास करके वह बाहर निकला था। योगिराज ने उसे आशीर्वाद दिया और आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की उन्नति के सम्बन्ध में उससे कुछ प्रश्न पूछने लगे। नया डाक्टर चन्द्रमोहन उनके प्रश्नों से बहुत उत्साहित हुआ और आधुनिक शरीर-विज्ञान के विभिन्न तत्त्वों को उन्हें समझाने लगा।

प्रसंगक्रम में योगी ने डाक्टर से पूछा. "तुम्हारे चिकित्सा-विज्ञान में मृतक की क्या परिभाषा है, कहो तो ?" इसके बाद परिहास करते हुए बोले, 'अच्छा, तुम मेरी परीक्षा करके बोलो तो, मैं सचमुच मृत हूँ या जीवित ?'

चन्द्रमोहन उनकी देह की परीक्षा करके एकबारगी अवाक् हो गया। श्वास प्रश्वास की क्रिया का कोई भी लक्षण नहीं हृदयपिंड नि.शब्द निश्चल। सारे शरीर में प्राण का कोई भी चिह्न ढूँढ़े नहीं मिलता। कुछ क्षणों के बाद आँखें खोलकर उन्होंने डाक्टर से कहा, "देखो चन्द्रमोहन, एक बात स्मरण रखो। स्थूल जगत् के ज्ञान के बाहर अतीन्द्रिय सूक्ष्म लोक के अनेक तत्त्व एवं तथ्य हमारे लिए ज्ञातव्य हैं। तुम्हारा आधुनिक विज्ञान अपना सीमित ज्ञान लेकर वहाँ तक नहीं पहुँच सकता, किंतु भारतीय साधकों की योग-शक्ति सहज ही वहाँ पहुँच सकती है।'

चंद्रमोहन का उस दिन का विस्मय सदा के लिए श्रद्धा में परिणत हो गया। बाद में चलकर वे एक यशस्वी चिकित्सक के रूप में ख्यात हुए। किंतु लाहिड़ी महाशय ने उस दिन उसके सामने जो योग-

लीला प्रकट की थी, उसके आधार पर उनका जीवन धीरे-धीरे रूपांतरित होने लगा और अध्यात्म-साधना के पथ वे अग्रसर होने लगे ।

योगिराज कभी अपना फोटो खिचवाने के लिए राजी नहीं हुए । एक बार उनके भक्त एवं शिष्यगण उनका फोटो लेने के लिए बहुत आग्रह दिखाने लगे । काशी के नामी फोटोग्राफर गंगाधर बाबू को बुलाया गया और योगिराज को बहुत अनुनय विनय के बाद राजी किया गया। केमरा के सामने जाकर योगिराज बालक के समान उसके यंत्र-कौशल तथा उसकी क्रिया के संबंध में कौतूहल प्रकट करने लगे । फोटोग्राफर भी उत्साहित होकर उन्हें केमरा के कल–पूर्जों और उसकी कार्यप्रणाली के संबंध में बहुत कुछ बताने लगा।

फोटो लेते समय फोटोग्राफर बड़ी मुश्किल में पड़ गया। योगिराज की छवि न मालूम क्यों केमरा के 'विउ फाउडर' में प्रतिफलित नहीं हो रही है। बार-बार परीक्षा करके देखी गयी, कल पुर्जे में कोई गड़बड़ी नहीं थी। और, इससे भी बढ़कर आश्चर्य का विषय तो यह कि अन्य कोई व्यक्ति यदि केमरा के सामने आता. तो उसकी छवि ज्यों-की-त्यों प्रतिफलित हो उठती। किंतु योगिराज का प्रतिरूप उसमें दृश्यमान नहीं हो रहा है। किसी भी सम्भव कारण का पता नहीं लगने पर फोटोग्राफ़र विमूढ़ हो गया।

कौतुकी लाहिड़ी महाशय इतने समय तक चुपचाप बैठे हुए मुसकरा रहे थे। अब उन्हेंाने पूछा, 'क्यो जी ! इस विषय में तुम्हारा विज्ञान क्या कहता है, बोलो तो ?" कुशल फोटोग्राफर इस अभूतपूर्व घटना का कोई कारण निर्णय नहीं कर सका और वह हतास हो गया। योगिराज से उसने कातर स्वर में कहा, "जहन्नुम में जाय हमारा विज्ञान ! मैं आपकी शरण ले रहा हूँ । आप अपने भक्तों की मनोकामना पूर्ण करें – और आपको तस्वोर खींचकर मैं भी अपने मन की रक्षा कर सकूँ । आप एक बार दया करें।"

लाहिड़ी महाशय मुसकराते हुए फिर अपना फोटो उतरवाने के

लिए तैयार होकर बैठ गये। इस बार सब लोगों ने आश्चर्य के साथ देखा, उनकी छवि हू-ब-हू केमरा में प्रतिफलित हो गई है। उस दिन जो फोटो लिया गया था, उससे ही उनका बहुप्रचारित तैलचित्र अंकित किया गया था।

साधनहीन पंडितों की निःसार धर्मालोचना में योगिराज ने कभी उत्साह नहीं दिखाया। आसन, मुद्रा, प्राणायाम एवं ध्यान आदि की गूढ़ यौगिक क्रियाओं पर वे विशेष जोर दिया करते थे। ''ध्यानलोक की प्रत्यक्ष अनुभूति का आस्वादन करो और परमात्मा का दर्शन प्राप्त करके उद्‌बुद्ध हो'' - दर्शनार्थियों को वे बराबर यही उपदेश दिया करते थे। जिस इंद्रियातीत राज्य में वे स्वयं विचरण किया करते थे, शिष्य-भक्तों में उसी के रहस्य का उद्‌घाटन करने में उन्हें सदा तत्पर देखा जाता था। गुरुदेव की प्रत्यक्ष अनुभूतियों का विभिन्न रूपों में परिचय प्राप्त करके उनके भक्तों के हृदय में आध्यात्मिक चेतना उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती।

एक दिन योगिराज भक्तमंडली से घिरे हुए बैठे थे। वार्तालाप के प्रसंग में वे गीता के कतिपय श्लोकों की व्याख्या कर रहे थे। सहसा वे रुक गये। केवल इतना ही बोले, 'तुम सब लोग चुप रहो। मैं अनुभव कर रहा हूँ कि बहुत से नर-नारियों के जीवन एवं चेतना के साथ जड़ित होकर मैं स्वयं जापान के समुद्र में डूब कर मर रहा हूँ।' सब लोग भय एवं विस्मय से स्तब्ध हो गये। कुछ क्षण बीतने पर देखा गया योगिराज धीरे-धीरे पुनः स्वाभाविक अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं।

दूसरे दिन शिष्यों ने समाचार पत्र में पढ़ा—एक जापानगामी यात्री-जहाज समुद्र के किनारे आकर डूब गया। इस दुर्घटना के कारण कितने ही यात्री मर गये। सब लोगों ने अनुमान किया, इस डूबते हुए सामुद्रिक जहाज के यात्रियों का आर्त्तनाद कल योगिराज की अंतर-सत्ता पर अकस्मात् प्रतिफलित हो उठा था। सब जीवों एवं भूतों का जो अस्तित्व महाचैतन्य में अनस्यूत है, योगिराज के

साथ उसी का समन्वय हो गया है। इस अलौकिक घटना के द्वारा योगिराज ने अपने शिष्यों के बीच उस दिन इसी सत्य को स्पष्ट कर देना चाहा था।

योगिवर श्यामाचरण द्वारा प्रचारित योग-साधना में कभी साधक को लौकिक कर्म से च्युत होने के लिए नहीं कहा गया। उनके गुरुदेव का आदेश था कि गृहस्थ-जीवन के क्षेत्र में ही वे योग-साधन का बीज वपन करें। इसीलिए प्रायः देखा जाता कि योगिराज के समीप आकर उनके गृहस्थ शिष्यगण जब साधन-मार्ग के बाधा-विघ्नों की चर्चा करते तब वे हँसकर उनको उड़ा देते। समय का अभाव, जीवन-सग्राम की तीव्रता—इसी प्रकार की अन्य असुविधाओं की बात वे कभी मानने के लिए तैयार नहीं होते। गृहस्थाश्रम में रहकर दीर्घ काल तक नौकरी करते हुए वे स्वयं इस प्रकार के जीवन में योग-साधना का आदर्श दिखा गये हैं।

स्त्री-पुत्र के भरण-पोषण से लेकर वाराणसी में जन-कल्याण कर शिक्षण संस्था की स्थापना इत्यादि कोई लौकिक कार्य ऐसा नहीं था जिसकी उन्होंने उपेक्षा की हो। इन सब विषयों में उनकी कर्मतत्परता में कभी कोई भी त्रुटि नहीं देखी गयी। वर्त्तमान युग के परिवेश में गार्हस्थ्य जीवन को अक्षुण्ण रख कर गुप्त रूप से योग-साधन करने का उपदेश वे सब लोगों को दिया करते थे। उनके द्वारा निर्दिष्ट साधन-मार्ग पर चलकर कितने ही लोगों ने अपूर्व योगशक्ति प्राप्त की और समाज के विभिन्न स्तरों के न मालूम कितने नीरव साधकों ने अपने जीवन को धन्य बनाया। योगिराज के साधन-मार्ग की एक और विशेषता थी। वे किसी को स्वधर्म का परित्याग करने नहीं देते थे। चाहे जिस धर्म या जिस वर्ग का साधक हो, उनके योग-साधन का आश्रय ग्रहण कर सकता था। इसलिए किसी को अपने आचारित धर्म या सामाजिक आचार-विचार का परित्याग करना नहीं पड़ता था। आध्यात्मिक जीवन के पथ-प्रदर्शक की भूमिका ग्रहण करके ही वे संतुष्ट हो जाते थे।

योगिवर श्यामाचरण के आचार्य जीवन की समाप्ति अब क्रमशः सन्निकट होती जा रही थी। महाप्रयाण के प्रायः छह मास पूर्व अपनी पत्नी काशीमणि देवी को एक दिन बुलाकर उन्होंने कहा, 'देखो, मेरे शरीरत्याग का समय अब निकटवर्त्ती हो रहा है। तुम लोग मेरे लिए शोक नहीं करना।" अपने कई अंतरंग भक्तों को भी उन्होंने दो-तीन मास पूर्व अपने आसन्न देह-त्याग की बात कही थी। इसके बाद वे एक विषाक्त घाव से पीड़ित हुए और इस रोग द्वारा ही अंत में उनके नश्वर शरीर का अवसान हुआ।

योगिराज के देहावसन के पूर्व उनके एक शिष्य स्वामी प्रणवानंद जी काशी से बाहर रह रहे थे। गुरुदेव की अंतिम अवस्था का हाल सुनकर वे अत्यंत उद्‌विग्न हो उठे। व्यस्त होकर काशी की यात्रा के लिए तत्पर होने लगे। इसी समय योगिराज की एक अलौकिक मूर्त्ति उनके सामने आविर्भूत हुई। मूर्ति ने उनसे कहा, "प्रणवानंद काशी जाने के लिए इतना व्यस्त क्यों हो रहे हो? वहाँ तुम मुझे नहीं पा सकोगे। तुम्हारे वहाँ पहुँचने के पूर्व ही मेरा देहांत हो जायगा।" शिष्य प्रणवानंद शोक-विह्वल होकर रोने लगे। कृपामय योगिराज ने उन्हें अभयदान देते हुए कहा, "यह क्या? भय किस बात का? रोते क्यों हो? मैं तो बराबर तुम्हारे साथ रहा हूँ। देह त्याग करने पर भी सद्‌गुरु की सत्ता तुम लोगों को मिलती रहेगी—जब आवश्यकता होगी, मिलेगी।"

योगी श्यामाचरण के एक दूसरे शिष्य स्वामी केशवानन्दजी ने इस समय की एक अलौकिक घटना का वर्णन किया है। गुरुदेव के तिरोधान के कई दिन पूर्व एक दिन वे (केशवानंद) हरिद्वार की कुटिया में बैठे हुए थे। अकस्मात् योगी श्यामाचरण की ज्योतिर्मय मूर्ति उनके सामने उद्‌भासित हो उठी। दिव्य मूर्त्ति उनसे कहने लगी, "वत्स, तुम शीघ्र चले आओ।" इतना कहने के साथ-साथ वह मूर्त्ति अदृश्य हो गयी। केशवानन्द अविलम्ब काशी पहुँच

गये। वहाँ देखा, गुरुदेव के लीला-संवरण में अब देर नहीं है। सेवानिष्ठ भक्त शिष्यगण उन्हें दिन-रात घेरे रहते थे।

१८९५ ई० की २६ सितंबर। योगिराज श्यामाचरण के कक्ष में उनके कतिपय अंतरंग भक्त बैठे हुए हैं। अस्वस्थ अवस्था में ही वे गीता के कई श्लोकों की धीरे-धीरे व्याख्या कर रहे थे। कुछ क्षणों के बाद सहसा शिष्यों की ओर देखते हुए शांत स्वर में बोले, "तभी तो, मुझे इस बार अपने स्थान को लौट जाना होगा।" शोकाभिभूत शिष्यों एवं भक्तों की साश्रु दृष्टि के सम्मुख ही धीरे-धीरे पद्मासन लगा कर बैठे। इस अवस्था में ही समाधिमग्न योगी ने महाप्रयाण किया।

पूर्ण समारोह के साथ योगिवर श्यामाचरण के नश्वर शरीर को गंगा-तट मणिकर्णिका घाट पर भस्मीभूत किया गया। गुरु के चिर वियोग में उनके भक्तगण अधीर होकर क्रंदन कर रहे थे। ज्योतिमय लोक के उस पार से भी विदेही योगिराज को इस समय अपनी अलौकिक लीला का विस्तार करते देखा गया। एक ही समय में भारत के विभिन्न स्थानों में तीन विशिष्ट शिष्यों ने अपने गुरुदेव की दिव्य मूर्त्ति को प्रत्यक्ष किया। जीवन एवं मृत्यु के दुर्लंघ्य व्यवधान को दूर करके शक्तिधर महायोगी इसी प्रकार अमृतलोक के विस्मयकर चित्र अपने आत्मीय जनों के समक्ष उद्घाटित कर गये।

द्रोणगिरि की एक पर्वत-गुहा में, एक अलौकिक लीला के बीच बाबाजी महाराज की योग-साधना का बीज रोपा गया, उसमें शक्ति का संचार किया गया। उन्हीं के उत्तर साधक के रूप में समाज एवं गार्हस्थ्य-जीवन के स्तर-स्तर में योगिराज श्यामाचरण ने उक्त बीज को विस्तारित कर दिया। ईश्वर-निर्दिष्ट महाव्रत का उनके माध्यम से उद्यापन किया गया।

श्री भोलानंद गिरि

कुरुक्षेत्र प्रांतर को घेरकर संध्या का अंधकार धीरे-धीरे उतर रहा है। अस्तमान सूर्य की अंतिम किरणें भी विलीनप्राय हो गई हैं। पथचारी संसार-विरागी भोलादास द्रुत गति से चले जा रहे हैं। अंधकार सघन होने से पहले ही उन्हें पस्ताना ग्राम पहुँचना है। उन्हें महायोगी गुलाब गिरिजी के प्रसिद्ध आश्रम में जाना है और उन महापुरुष का चरणाश्रय पाना ही उनका उद्देश्य है।

सर्वमय परमेश्वर को पाने की आशा में भोलादास ने सब कुछ त्याग दिया है। जीवन के प्रथम काल से ही जिस वैराग्य का अदृश्य इंगित उनके अंतर को निरंतर उद्वेलित करता रहा है, उसी का आह्वान आज उन्हें बुला रहा है। इसे टालने का उपाय कहाँ।

पंजाब के मलेरकोटला के पास खुरदा ग्राम में भोलादास का निवास है। वहाँ से पैदल ही सारा रास्ता पार कर वह आ रहे हैं। पस्ताना अभी भी अढ़ाई कोस दूर है। वहाँ पहुँचकर योगिवर के चरणों में चिर दिन के लिए आत्म-समर्पण किये बिना उन्हें शान्ति कहाँ ?

गिरिजी महाराज प्रासादोपम अट्टालिका में निवास करते हैं। चौदह सौ गायों और पाँच सौ भैंसों के साथ इस विस्तृत क्षेत्र के वे मालिक हैं। उनके भक्त और साधक शिष्यों की संख्या भी कम नहीं। शिवकल्प और महातपस्वी गुलाब गिरि की समग्र कुरुक्षेत्र अंचल में बड़ी ख्याति है। योग और भोग के युग्म सूत्र को यह अध्यात्म-महारथी नितांत सरलता से धारण किये हुए थे। अध्यात्म-साधना के लिए अधीर भोलादास ने उस रात्रि को इस राज-संन्यासी के दरबार में कम्पित हृदय से प्रवेश किया।

गुलाब गिरि महाराज की वयस अस्सी पार कर गयी है, किंतु योगोद्दीप्त देह में बार्धक्य का कोई आभास नहीं। दीर्घायत, सुन्दर, सुगठित शरीर में लावण्य-श्री झलमल कर रही है। परम प्राप्ति की महिमा से उनका मुखमंडल सर्वदा हास्योज्ज्वल रहता और दोनों नेत्रों से दिव्य ज्योति सतत विच्छुरित होती रहती। साष्टांग प्रणाम कर भोलादास उठ खड़े हुए और दोनों हाथ जोड़कर योगिवर से परमाश्रय की प्रार्थना करते हुए हृदय की आकुलता प्रकट की। महा-पुरुष की प्रसन्न उज्ज्वल दृष्टि तत्काल इस अनिंद्य सुंदर तरुण की देह और मन पर सांत्वना का अमृत प्रलेप लगाने लगी।

गुलाब गिरि महाराज ने मुमुक्षु भोलादास को ग्रहण किया। उनकी दिव्य दृष्टि से यह अगोचर नहीं रहा कि साधन-ग्रहणेच्छु बीस वर्ष का यह तरुण एक भस्माच्छादित वह्नि है अनर जीवन में इसकी आलोक-रश्मियाँ अगणित अध्यात्म-पथचारियों का मार्ग प्रकाशित करेंगी।

भोलादास ने योगिगुरु के निकट संन्यास ग्रहण किया। उनका नया नाम हुआ नारायण गिरि। किंतु उत्तरकाल में भोला गिरि के नाम से ही वे सर्वसाधारण में परिचित रहे।

आश्रम में प्रवेश करने के साथ ही भोलादास को गुरु की आज्ञा हुई कि वे आश्रम की गाय-भैंस चरायें। आश्रम की बहुसंख्यक गायों और भैंसों का पालन युवक-शिष्यों को ही करना पड़ता था। इस तरह के कर्त्तव्य-पालन के द्वारा ही गुलाब गिरिजी अपने शिष्यों की निष्ठा और त्याग तितिक्षा का मूल्य-निरूपण करते थे।

गुरुदेव ने उनकी साधना के लिए एक निर्दिष्ट कर्म सूची तैयार कर दी। तीन बजे रात से ही शय्या त्याग कर यह तरुण शिष्य साधना में लग जाते। आश्रम की शिव-पूजा का भार उन पर ही सौंपा गया। शिव-पूजा के बाद गुरु महाराज एवं आश्रम के शिष्यों और अतिथियों के लिए भोजन भी उन्हें ही तैयार करना पड़ता। इसके अलावे उनके जिम्मे एक बड़ा काम था, एक मन दूध का मंथन कर मक्खन

निकालना। इसी तरह रात्रि के लिए पूजा, आरती और साधना-भजन का कार्य-क्रम भी इनके लिये निर्दिष्ट था।

प्रगाढ़ श्रद्धा और निष्ठा के साथ भोलानन्द अपने इन कर्त्तव्यों को पूरा करते। परन्तु इतने पर भी गुरुदेव की शासन-कठोरता में कमी होने के लक्षण नहीं दिखाई पड़े। बिन्दु मात्र शिथिलता के लिये भी किसी तरह क्षमा नहीं मिलती। वे भर्त्सना और अपमान द्वारा शिष्यों का शासन करते। गुलाब गिरि जी के इन कठोर वाह्य व्यवहार के अभ्यंतर में एक परम शुभेच्छा की अन्तःसलिला धारा संगोपित थी। साधक भोलानन्द को यह समझने में देर नहीं लगी कि गुरु का यह कठोर शासन और तिरस्कार था भक्तों और शिष्यों की परिशुद्धि के निमित्त ही। इस ढ़ंग के निग्रह को गुरु का अनुग्रह मानते और नितांत अम्लान भाव से उसके कठोर आदेशों को सिर आंखों पर धारण करते।

गुरु-शासन की कहानियों के प्रसंग में भोला गिरिजी अपने उत्तर जीवन में कहा करते —"मैं शिष्यों का वैसा शासन कहाँ करता हूँ ? ये दुर्बल साधक हैं। एक सामान्य कटु वाक्य से ही इनका मन खिन्न हो जाता है। मेरे गुरुदेव अकारण ही सर्वदा क्या मेरी कठोर भर्त्सना नहीं करते ? प्रारम्भ के दिनों में मन में बड़ा कष्ट होता, किन्तु पीछे समझ पाया - मेरी भक्ति की दृढ़ता और गुरु-निष्ठा की परीक्षा के लिए ही गुरुदेव का यह रूढ़ आचरण था। कठोर व्यवहार के आवरण में उनकी कृपा प्रच्छन्न थी। इसके अलावा मैंने यह भी सोचा, कटु शब्द भी तो हैं मिथ्या—माया ही, इससे क्यों अपने हृदय की शांति को नष्ट होने दूँ ? इसीसे गुरु महाराज के कठोर वाक्यों को सुनकर मैं मन-ही-मन हँसता। किंतु आश्चर्य का विषय यह कि मुझे हँसते देखकर गुरुदेव ने कटु वाक्यों का प्रयोग करना छोड़ दिया !"

एक बार कड़ाके का जाड़ा पर रहा था। उस शीत-रात्रि में गुलाब गिरिजी भोलानन्द के ऊपर न जाने किस कारण से अकस्मात कुपित

हो गये। क्रुद्ध कंठ से उन्होंने तरुण शिष्य से कहा—'भोला तू इसी मुहूर्त्त में एक कौपीन पहन कर आश्रम से दूर हो जा. तुम्हारे समान निकम्मे शिष्य से मेरा कोई काम नहीं। आज से मेरे आश्रम के साथ तुम्हारा कोई सम्पर्क नहीं - याद रखना।'

यह आदेश बिना मेघ का वज्राघात था। अपनी जानकारी में भोलानन्द ने गुरु के चरणों में कोई अपराध नहीं किया था। जो भी हो आदेशालंघन करने का दुस्साहस करनेवाले वे नहीं थे। 'जय गुरुजी, जय गुरुजी' कहते हुए भोलानन्द आश्रम की सीमा त्याग कर रास्ते में खड़े हुए।

हड्डियों को कँपानेवाली माघ की सर्दी। संन्यासी भोलानन्द के शरीर पर मात्र एक पतला कौपीन है। ओढ़ने का सामान साथ में नहीं था। आँसू संवरण कर भोला गिरिजी विचारने लगे कि जिसके लिये वह सर्वस्व छोड़ आये थे, आज उनके ही चरणाश्रय से विच्युत होना पड़ा। अब वह कहाँ जाँय ? सभी सांसारिक बन्धनों को अपने हाथ से काटकर वह घर से बाहर हुए थे। अब उनके जीवन-मरण के प्रभु हैं ये ही गुरुदेव। उन्हें छोड़कर इस विशाल जगत् में उनका अपना कहने को और कौन है ? इसीसे आश्रम के सीमा के बाहर जाकर उनके पैर अपने आप रुक गये। अनावृत देह से शीत में काँपते-काँपते वह वहाँ ही सारी रात अपेक्षा करते रहे। अन्तर में चिन्ता चल रही थी—'यह देह तो गुरु को समर्पित है उनके ही आदेश से इस प्राणांतक शीत में वह बाहर हुए हैं। इसकी रक्षा करनी हो, तो गुरु ही करेंगे। इसके अलावा यह देह यदि विनष्ट ही हो जाय, तो इसमें क्षति ही क्या है? इस रक्त-मांस के पिंजरे के लिए ममत्व वोध व्यर्थ है।

दुःसह शीत की रात्रि किसी तरह बीत गयी। प्रभात हुआ। भोलानन्द की देह उस समय ठंढक से अकड़ गई थी। प्रातःकाल आश्रम की सीमा के बाहर आकर गुलाब गिरिजी ने शिष्य को दोनों हाथ जोड़े खड़ा पाया। उन्होंने गम्भीर कंठ से कहा, "जाओ, आश्रम में जाकर कपड़ा पहन. शिव पूजा करने बैठ जाओ।

बहुत भक्तों और शिष्यों के बीच साधक भोलानन्द उत्तरोत्तर गुरुदेव का अधिकतर स्नेह एवं कृपा प्राप्त करने में समर्थ हुए। साधना, शास्त्र-अध्ययन और गुरु सेवा में भोलानन्द ने बारह वर्ष का लम्बा काल पस्ताना आश्रम में बिताया। इसके बाद गुरु ने एक दिन उन्हें बुलाकर कहा, "भोला, एक बार अपनी जन्म–भूमि जाकर जननी को प्रणाम कर आ तो—किंतु याद रखना माता के पास जैसे परिचय न खुले।"

भोला के अंतर में भूली हुई पुरानी स्मृतियाँ उमड़ आईं। बहुत दिन पहले उनके प्रपितामह भक्तप्रवर भाई साबन खुरदा ग्राम में बस गये थे। वे सारस्वत ब्राह्मण थे। इसी वंश के परम निष्ठावान ब्रह्मदास के द्वितीय पुत्र थे भोलानन्द गिरि। भक्तप्रवर ब्रह्मदासजी एवं उनकी पत्नी नन्दा देवी की शिव-आराधना में बड़ी निष्ठा थी। संसार में किसी भी दिन उन्हें आर्थिक सुविधा प्राप्त नहीं हुई। फिर भी साधु-संन्यासियों की सेवा में शिथिलता नहीं हुई।

इस शुद्धसत्व ब्राह्मण-गृह की संतान की विशेषता भी बहुत चमत्कारिक थी। प्रथम संतान का नाम रतनदास। माता-पिता के परम प्रिय थे। परंतु, जैसे वैराग्य-संस्कार लेकर ही उनका जन्म हुआ। किशोरावस्था को पार करने के साथ ही विषय-विरक्त रतनदास एक रात गृह त्याग कर कहीं चले गये! इसके बाद फिर उनका पता नहीं चला। द्वितीय पुत्र महापुरुष भोलागिरि महाराज थे। तीसरे का नाम था शंकर दासजो इन्होंने भी अल्प वयस में ही संन्यास ग्रहण कर लिया। पीछे चल कर यह स्वामी शंकरानन्द के नाम से परिचित हुए। वे एक विशिष्ट मठ के अधिकारी थे। तात्पर्य यह कि वैराग्य-प्रवणता इस परिवार की विशेषता थी। महायोगी भोलानन्द की प्रवणता इस परिवार की विशेषता थी। महायोगी भोलानन्द के अंतर में जन्म से ही वैराग्य और मुमुक्षा के बीज छिपे थे।

प्रथम पुत्र रतनदास के संसार त्यागकर कहीं चले जाने से ब्रह्मदास और नन्दा देवी के हृदयों में सदा ही तीव्र अशान्ति की ज्वाला जल

रही थी। सारा संसार श्मशान-सा लगता। शिव की आराधना में निरत रहने पर भी संतान-विच्छेद से जननी का अंतर आकुल-व्याकुल रहता। इष्टदेव के चरणों पर माथा पटक-पटक कर वह विलाप करतीं। इसी समय एक निशीथ में नन्दा देवी ने एक विचित्र स्वप्न देखा। जैसे देवाधिदेव शंकर उनके सामने खड़े हो कर कह रहें हैं-"मैं तुम्हारी और तुम्हारे स्वामी की भक्ति और निष्ठा से अत्यंत प्रसन्न हुआ हूँ। पुत्र रतनदास संन्यासी हो गया है इसके लिए इतना शोक क्यों करती हो ? यह तो गौरव की बात है। मैं प्रसन्न हो वरदान देता हूँ—तुम्हें और तीन पुत्र होंगे। इनमें प्रथम महान वैरागी होगा. दूसरा इसी के पद-चिह्नों का अनुसरण करेगा। केवल तीसरे को तुम अपने बीच संसार में रख सकोगी।"

शिव की ज्योतिमंडल मूर्त्ति उपर्युक्त बातें कहकर अन्तर्धान हो गयी। नन्दा देवी घबराई हुई शय्या पर उठ बैठी। उसी समय स्वामी को जगाकर स्वप्न का वृत्तांत सुना दिया। १८३२ खृष्टाब्द में ब्रह्मदास और नन्दा देवी के घर में एक अत्यन्त सुन्दर पुत्र का जन्म हुआ। यही नवजात शिशु हैं हम लोगों के भोला गिरि महाराज। देवाधिदेव का वरदान पूरा पूरा फलित हुआ। भोलानन्द के परवर्त्ती भ्राता ने भी अपने बड़े भाइयों के समान संन्यास ग्रहण किया। केवल कनिष्ठ भ्राता सुंदरदास जी ने ही गृहस्थ-जीवन में रहकर माता-पिता की सेवा में अपने को लगाया।

श्रीगुरु का आदेश—गर्भधारिणी जननी की चरण वंदना और जन्म-भूमि का दर्शन कर आना होगा। संन्यासी भोलानन्द अविलंब खुरदा ग्राम जा पहुँचे। बाल्य, किशोर और यौवन की नाना स्मृतियों से विजड़ित उनका यह चिरप्रिय ग्राम था। धीरे-धीरे वह ब्रह्मदास के घर पहुँचे। 'शिव शंकर,' 'शिव शंकर' का उच्च स्वर से उच्चारण करते हुए उन्होंने भिक्षा-याचना की। वैसे ही माता नन्दा देवी सामने आकर खड़ी हुईं।

भिक्षा-ग्रहण के बाद दंड-कमंडलुधारी संन्यासी ने एक अद्भुत

कांड कर दिया। नन्दा देवी के चरणों पर गिरकर वह साष्टांग प्रणाम कर बैठे। भीत संत्रस्त हो नन्दा देवी अभियोग के स्वर में बोलीं, "छिः-छिः बाबा, आप संन्यासी, सर्वजन-प्रणम्य हैं। प्रणाम कर क्यों आपने मेरे सिर पाप चढ़ा दिया ?" भिक्षार्थी संन्यासी ने उत्तर में कहा, "भय नहीं माँ! मैंने मातृ भावना से ही आपको प्रणाम किया है, इससे आपको पाप नहीं लगेगा।" यह कहते हुए संन्यासी जोरों से पाँव बढ़ाते हुए वहाँ से चल पड़े। बहुत दिनों के बाद माँ के इतने निकट आकर भोलानन्द ने अपना सच्चा परिचय नहीं दिया। अंतर की उठती हुई भाव-राशि को दबा, गुरुजी की आज्ञा मात्र पालन कर वह उस दिन वहाँ से चले गये।

सौम्य, प्रियदर्शन यह तरुण साधु नन्दा देवी को बहुत अच्छा लगा। अपूर्व ममत्व-बोध और आनन्दमय अनुभूति से उनका मातृ हृदय जैसे भर उठा। संन्यासी की उपस्थिति न जाने क्यों; इतनी देर उनके हृदय को मोहग्रस्त किये रही। उसके जाने के साथ ही एक अज्ञात कारण से उनका समस्त अंतर आलोड़ित हो उठा। खोये हुए प्रिय पुत्र भोलादास का चेहरा ही आज स्मृति-मंथन कर मानस-पट पर बार-बार उठने लगा। नन्दा देवी अकस्मात् चौंक पड़ी—कौन था यह युवक संन्यासी, जो उनकी सारी सत्ता को इस तरह हिलाकर चला गया? वह उनकी आँखों की पुतली, भोलादास तो नहीं? अब उनके मन में यह भाव उठने लगा कि इस संन्यासी के साथ उनके भोलादास के चेहरे का बहुत सादृश्य है। पुत्र की वियोग-व्यथा आज मातृ हृदय में दुगने वेग के साथ प्रवाहित होने लगी—शोकाभिभूत जननी आँगन में मूर्छित हो गिर पड़ीं।

पस्ताना आश्रम में, गुरु के आश्रम में, भोलानन्द को बारह वर्ष कृच्छ्र व्रत और कठिन साधना में काटने पड़े। इसके बाद गुलाब गिरिजी ने एक दिन उन्हें बुलाकर कहा, "भोला अब तुम कहीं अन्यत्र जाकर अपना आसन लगा, कठोरतर साधना के व्रती होओ। तुम्हारी गुरु-भक्ति की दृढ़ता और आंतरिकता देखकर मैं सत्य ही बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। मैं आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हें योग और भोग

दोनों लाभ हों।" परम प्राप्ति के साथ ऋषि-सिद्धि प्रभृति सभी योग-विभूतियाँ समय पाकर शिष्य भोलानन्द को करतल-गत होंगी, यही उस दिन गुरुदेव ने उन्हें वरदान दिया।

दीर्घ काल गुरु के सान्निध्य में रहने के बाद आज विच्छेद का कष्टप्रद काल आया। विषाद-खिन्न हृदय से तरुण साधक ने गुरुदेव की चरण-वंदना कर पस्ताना आश्रम से बिदा ली। उनका गंतव्य स्थल था—मुक्ति-कामी साधकों का परमाकांक्षित साधन-स्थल, देवात्मा हिमाचल। गुरु के आदेशानुसार अन्य कई गुरु-भ्राताओं के साथ भोलागिरिजी नवीन तपस्या के पथ पर चल पड़े।

हिमाचल पहुँच कर भोलागिरिजी ने साथी साधकों से अपने को अलग कर लिया। निभृत पर्वत-कंदरा में रहकर कठोर तपस्या करने का उन्होंने दृढ़ संकल्प लिया। उत्तराखंड में उस समय तीव्र शीत पड़ना शुरू हो चुका था। उत्तुंग पर्वत-माला बर्फ जमने से दुरभिगम्य हो गई थी। नीचे के अंचलों में भी शीत के प्रकोप से मनुष्यों की गतिविधि बंद सी हो रही थी।

सांसारिक कोलाहल से दूर यह निर्जन, परम शांत पार्वत्य प्रदेश स्वभावतः ही मनुष्य को अंतर्मुखी कर देता है—आकाश की ओर दृष्टि लगाये मौन गिरिमाला के साथ साधक की एकात्मता स्थापित होने लगती है। नवीन योगी ने एक पर्वत-गुहा में अपना ध्यानासन लगाया। कृच्छ्र व्रत और कठोर तपश्चर्य्या के बीच भोलागिरि की साधना धीरे-धीरे अग्रसर हो चली।

चारों ओर बर्फ पड़ रही है। तुषार-शीतल पहाड़ी हवा का वेग सहन करना अत्यंत कठिन हो रहा है। ऐसे समय में कठोर तपस्वी भोलानन्द के शरीर पर नाम मात्र को ही वस्त्र है, कमर में एक कौपीन मात्र। शीत के प्रचंड कोप से अकस्मात् एक दिन वह न्यूमोनिया रोग से आक्रांत हो पड़े। साथी वा परिचर्य्या करनेवाला निकट में कहीं कोई नहीं। रोग की यंत्रणा से भोलानन्द एक दिन मूर्छित हो गिर पड़े। होश आने पर प्यास के मारे वह छटपट करने

लगे पानी के लिए। उनके प्राण ओठों पर आ गये। पास पड़े हुए कमंडलु को उठाकर देखा उसमें एक बूँद भी जल नहीं ! गुहा के पास ही एक पहाड़ी झरना था भोलानन्द किसी तरह रेंगते-रेंगते उसके किनारे पहुँचे। दोनों हाथ जोड़कर अंजलि में पानी भर वह पीते ही जा रहे थे कि भयानक विपत्ति घट गयी। कमजोर तो थे ही, पैर फिसल गया और वह जल-स्रोत में पड़ गये।

ब्रह्म-ज्ञान लौटने पर भोलागिरि जी ने देखा एक पहाड़िया उनकी सेवा शुश्रूषा में रत है। पार्वत्य नदी के एक स्रोत में बहकर इतनी देर में वह बहुत दूर चले आये थे। महाराज की सेवा में वह पहाड़िया आश्रयदाता जी-जान से लग रहा था। अपूर्व सहृदयता के साथ उसने उनके लिए औषधियों का संग्रह किया और पथ्यादि भी तैयार किया। इस पहाड़िये की सेवा-शुश्रूषा से भोलानन्द धीरे-धीरे आरोग्य-लाभ करने लगे।

यह सरल प्रकृति पहाड़ी गिरिजी के साथ अज्ञेय प्रीति-बंधन में बंध गया। दैवानुग्रह से जिस नवीन संन्यासी से उसकी भेंट हुई थी उनसे दीक्षा लेने का उसने निश्चय कर लिया। सरल, श्रद्धावान इस आश्रयदाता के अनुरोध को भोलानन्द किसी तरह भी टाल नहीं सके। बाध्य हो उन्होंने इसे दीक्षा दी। यही भोला गिरि जी का प्रथम शिष्य हुआ।

शरीर कुछ स्वस्थ होने पर भोलानन्द पस्ताना आश्रम लौट आये। नवदीक्षित पहाड़िया शिष्य भी उनके साथ आया। पस्ताना आश्रम आने का प्रधान उद्देश्य था गुरुदेव का चरण-दर्शन। इसके बाद टूटे हुए स्वास्थ का पुनरुद्धार कर फिर तपस्या के लिए हिमाचल की दिशा में यात्रा करेंगे, यही उनका आंतरिक अभिप्राय था।

गुरुदेव गुलाब गिरिजी ने अपने प्रिय शिष्य की दुर्घटना की कहानी सुनी। पहाड़िया की आंतरिक सेवा और यत्न से पुत्र-सम प्रिय भोलानन्द की जीवन-रक्षा हुई है, यह जान कर वह बहुत प्रसन्न हुए। तुरत उन्होंने उस व्यक्ति को पाँच सौ रुपये का पारितोषिक प्रदान

किया। पहाड़ी भक्त पहले तो किसी तरह ये रुपये लेने को राजो नहीं हुआ। भोलानन्द के बहुत समझाने-बुझाने पर उसने गुलाब गिरि का प्रसाद-स्वरुप मान इसे ग्रहण किया।

कुछ दिनों के बाद भोलानन्द जी फिर तश्चर्य्या के पथ पर बाहर हुए। कभी कनखल हरिद्वार के सन्निकट विल्वकेश्वर पर्वत पर, कभी हिमालय के गुहा-गह्वर में नवीन तपस्वी अपनी योग-साधना में निरत रहने लगे। अनाहार-अनिद्रा में दिन और रात किस तरह कट रहे हैं, इसका ध्यान उस कठोर तपी संन्यासी को नहीं था। वह योग-क्रिया और ध्यान में तन्मय रहते।

अपनी अनुष्ठित दुष्कर तपस्या की चर्चा करते हुए उत्तर काल में अपने भक्तों का भोलागिरिजी कहते—"शिष्य की तपस्या सर्वदा गुरु-कृपा को आकर्षित करती है। बिना कठोर तपस्या किये गुरु-कृपा कभी प्राप्त नहीं होती। यही देखो न, मुझे कितनी कठोर तपस्या करनी पड़ी, तब कहीं जाकर गुरु-कृपा मिली। चाहिए तीव्र वैराग्य, और गुरु-उपदिष्ट प्रणाली से एकनिष्ठ तपस्या, नहीं तो परम वस्तु की प्राप्ति कभी होती नहीं। संसार में तो देखते हो, माँ-बाप पुत्र का लालन पालन करते हैं शिक्षा-दीक्षा देकर विवाहादि कर देते हैं। उसके बाद उनका कार्य शेष हो जाता है। इस अध्यात्म-जीवन में गुरु का काम भी बहुत दूर तक इसी तरह का है। शिष्य को दीक्षा-दान देने के बाद वे साधन-दान करते हैं। इस साधना रूपी पत्नी का पाणिग्रहण किये बिना—कठोर तपस्या के व्रती हुए बिना- मोक्ष रूप पुत्र-लाभ से वंचित ही रहता है। इसकी असली जिम्मेदारी रहती है स्वयं शिष्य पर— उसके गुरु पर नहीं !'

"साधक-जीवन कितना कठोर था, आज वह याद आती है। उस विल्वकेश्वर पर्वत की गुहा में ही मेरे कितने वर्ष तपश्चर्य्या में कट गए हैं। उस समय हरिद्वार को रेल नहीं गयी थी—पहाड़ और वन में कितने बड़े-बड़े बाघ और भालू दीख पड़ते। इन गुहाओं में जब तपोमग्न रहता, कितनी ही रातें अनिद्रा में ही कट जाती।

साधनावस्था में कभी भी मैं निद्रा के वशीभूत नहीं हुआ, रात-दिन जप और ध्यान में डूबा रहा।'

एक बार भोलागिरि महाराज अन्य तीन गुरु भ्राताओं के साथ हिमालय में रहकर योग-साधन कर रहे थे। धुनी के पास एक दिन हठात् एक वृहदाकार व्याघ्र आ पहुँचा। भोलानन्द ने अपने साथियों को साहस देते हुए कहा, "आओ हम सभी इस हिंस्र की उपेक्षा कर अपने बीज–मंत्र के जप में डूबे रहें। जप की शक्ति अमोघ है, इससे असाध्य-साधन होता है।" साधक-दल ने व्याघ्र की उपस्थिति भूल कर मंत्र जप में मन को अभिनिविष्ट किया। दुर्भाग्यवश एक साधु ने आतंकित हो भयानक कांड कर दिया। किसी तरह भी अपने मन को शांत रखने में अक्षम हो वह जैसे ही त्रस्त-व्यस्त हो पलायन करने लगा कि व्याघ्र एकाएक उसपर झपटा और गला पकड़कर खींचते-खींचते उसे जगल में ले गया।

गुरु भ्राता की ऐसी सोचनीय मृत्यु से सभी शोकाकुल और अस्थिर हो उठे। साहसी साधक भोलानन्द ने इस समय उन्हें बुला कर कहा "बन्धुगण, मंत्र जप में साथी का विश्वास नहीं था, इसी से आज उसकी यह दुर्दशा हुई। हम सर्वत्यागी संन्यासी हैं - मृत बन्धु या स्वजन के लिए मोह रखना हमलोगों के लिए उचित नहीं। इस कारण जो हुआ उसके लिए शोक न कर, आओ हमलोग फिर पूर्ववत् साधना में लीन रहें।" उनकी बातों से अनुप्राणित हो सभी फिर ध्यान में मग्न हो गये।

एक बार भोलागिरिजी निःसंग हिमालय के एक दुरभिगम्य अंचल में योग-साधना कर रहे थे। इस समय एक दिन उन्हें एक विचित्र अनुभव हुआ। अरण्यवेष्ठित पहाड़ की गुफा में वह ध्याना-विष्ट बैठे थे कि हठात् एक भालू ने गुफा में प्रवेश कर उन्हें जोरों से पकड़ लिया। असावधानी में आक्रमण के फल से भोलागिरि महाराज का ध्यान सहसा भंग हो गया। किंतु इस विपद् में वह जरा भी न घबड़ाये। साहस और उपस्थित-बुद्धि का आश्रय ले उन्होंने भालू की नाक और मुँह को जोरों से धर दबाया और इसके बाद

उसे आलिंगनबद्ध किये हुए पहाड़ से नीचे उतार लाये। निकट ही एक स्थान पर पहाड़ एकदम सीधा नीचे चला गया था। भोलागिरिजी ने इसके किनारे खड़े हो भालू से कहा "भाई, अब तुम अपना रास्ता लो, मैं भी अपना रास्ता लेता हूं!" यह कहने के साथ-साथ आक्रमण-कारी भालू को नीचे गिराकर फिर वह ध्यान गुहा में वापस लौट आये।

कठोर तपस्या और गुरु-कृपा के फल से जैसे-जैसे नाना आध्यात्मिक अनुभूति-लाभ करने लगे, परम प्राप्ति का संकल्प भी उनके मन में दृढ़तर होने लगा। कृच्छ् साधन से उस समय उनका शरीर एकदम शीर्ण और शुष्क हो उठा। ध्यान-तन्मयता के कारण देह-बुद्धि उनकी विलुप्त-सी हो गई। किंतु इस कठोर तपस्या का फल अंत में एक दिन फलित हुआ। अंधकाराच्छन्न पर्वत-गुहा उद्भासित कर एक दिन देवाधिदेव शंकर उस तरुण साधक के सामने आविर्भूत हुए। इष्ट-दर्शन और तत्त्व-ज्ञान के स्फुरण से भोलागिरिजी की साधन-सत्ता में उस दिन अपूर्व रूपांतर हो गया।

तीर्थ-परिक्रमा और देश पर्यटन की नाना विचित्र कहानियाँ उत्तर-काल में वह स्वयं सुनाते। भारतवर्ष के दूर-दूर के तीर्थ स्थानों का ही नहीं, अन्य देशों के नाना दुर्गम अंचलों का भी एक समय वह परिभ्रमण कर आये थे। भारत, तिब्बत और साइबेरिया के नाना अंचलों में घूमते हुए बारबार विपदों में पड़े और उबरे। ये रोमांचक कहानियाँ वे बीच-बीच में अपने शिष्यों को सुनाते।

सामाजिक जीवन में रहने के समय बीच-बीच में जिन अनुभवों का संचय गिरिजी महाराज ने किया था वे भी कम कौतूहलोद्दीपक नहीं थे। एक बार घूमते-घूमते वह बम्बई शहर पहुँचे। मधुकरी कर वह प्रतिदिन अपना आहार-संग्रह करते। एक दिन भिक्षा के लिए वह वहाँ के एक धनी व्यक्ति के प्रासाद में घुस गये। न मालूम क्यों, इस संन्यासी को देखते ही उस धनी व्यक्ति और उसकी स्त्री के अंतर में एक विलक्षण ममत्व-बोध जाग्रत हो उठा। वे दोनों विचारने लगे, गौरतनु, दिव्यकांति इस संन्यासी को यदि स्नेह

बंधन में बाँधकर बराबर के लिए रखा जा सके तो बहुत सुन्दर हो। उनको विवाह-योग्य एक सुन्दरी कन्या थी। संन्यासी के संग उसका विवाह कर देने के लिए दोनों आतुर हो उठे। उस घर में भोला गिरिजी के आदर-स्वागत की सीमा न रही। विवाह के प्रस्ताव का उत्थापन करते हुए उस सज्जन ने संन्यासी से कहा कि इस प्रस्ताव से उनके सम्मत होने पर स्वामी और स्त्री दोनों निश्चित हो तीर्थ वासी हो जायँगे। इस विपुल सम्पदा का भोग करने में गिरिजी के पथ में कोई बाधा न रहेगा।

भोलागिरिजी महाराज नीरव रह सारी बातें सुनते रहे उसके बाद हँसते हुए कहने लगे, "आप लोगों का प्रस्ताव बहुत ही सहृदता-पूर्ण है। किंतु यह विपुल ऐश्वर्य त्यागकर आपलोग तीर्थवासी क्यों होना चाहते हैं? इतने दिन संसार में बिताकर क्या आपलोगों को शांति और आनंद का लाभ नहीं हुआ?'

उत्तर आया "बाबा सत्य ही इस विषय सुख में हमलोगों को अबतक सच्चा आनन्द कभी नहीं मिला। इसीसे तो इसकी खोज में आज जीवन के शेष काल में हम बाहर जाना चाहते हैं।'

भोलानन्द ने स्मित हास्य से कहा, तब विचारिये तो, जो पार्थिव सम्पदा आपलोगों को सुखी नहीं कर सकी वह मुझे आनन्द देगी, इसका क्या भरोसा? मुझे आपलोग क्षमा करें, मेरे जीवन का पथ चिर दिन के लिए विह्नित हो चुका है।' विस्मित धनी के प्रासाद से वह धीरे-धीरे बाहर हो गये।

और, एक दिन भोलागिरिजी शहर में भिक्षा के लिए निकले। एक सम्पन्न गृहस्थ के घर में प्रवेश करते ही वह तीव्र भाषा में गाली-गलौज करने लगा—'साला पाखंडी साधु कहीं का! लोगों को ठगने के लिए तुम्हें दूसरी जगह न मिली? पढ़ने-लिखने में कभी मन नहीं लगा, काम-धाम को धोखा दे, घूमता फिरता है! इसीसे अब साधु का वेश धरकर लोगों को ठगता फिरता है। दूसरों के घरों में मुफ्त का खाना खा-खाकर कैसा मोटा-तगड़ा हो गया है। इस धोखेबाजी

का व्यवसाय छोड़ सत् उपाय से परिश्रम कर अपनी जीविका उपार्जन नहीं कर सकते ? यहाँ से अभी निकल जाओ ।"

किंतु स्वामीजी खड़े-खड़े बड़े प्रेम से इन कटु वाक्यों को सुनते रहे। अंत में गृहस्वामी से हँसते हुए कहा, "क्यों चुप हो गये ! आपके गाली-गलौज का भण्डार क्या इतने में खाली हो गया । आगंतुक संन्यासी के चरणों में साष्टांग प्रणाम कर अब वह अपने अपराध के लिए क्षमा-याचना करने लगा । भोलागिरिजी के इस विपरीत आचरण के लिए प्रश्न करने पर उन्होंने उत्तर दिया, "महाराज, मैं इस तरह तिरस्कार कर साधुओं की परीक्षा करता हूँ। कठोर वाक्य सुनकर काई उत्तेजित वा क्रुद्ध हो जाता है तो मैं समझता हूँ कि वह निम्न स्तर का संन्यासी है। राग-द्वेष को वह अबतक जीत नहीं सका। आप के आचरण से अच्छी तरह समझ गया हूँ कि आप समदर्शी - यथार्थ संन्यासी हैं। इसीसे जमीन पर गिरकर आप से क्षमा प्राथंना कर ली ।"

गिरि महाराज ने शांत कंठ से कहा, "देखिये, सच्चे साधक वा संन्यासी के पहचान करने की क्षमता क्या आपके पास है ? तब यह मिथ्याभिमान क्यों ? छद्मवेश में बहुत-से उच्च कोटि के संन्यासी जन-समाज में विचरण करते रहते हैं। उनके निकट आपका कितना बड़ा अपराध होता है, एक बार विचार कर के देखें तो ? इसके अलावा कटु वाक्यों से भी किसी के हृदय पर आघात करना तो महापाप है। आप इससे परहेज करें, इसी में आपका कल्याण है। अनुतप्त गृहस्वामी ने इसके बाद सानुनय स्वामीजी से तत्त्वोपदेश करने की प्रार्थना की। स्वामीजी की कृपा से इनके जीवन में आमूल परिवर्त्तन हो गया।

भोलानन्द एक बार गुजरात प्रदेश में भ्रमण कर रहे थे। इस समय में स्थानीय एक विख्यात धनी के घर में वह अतिथि हुए। बड़े

समारोह से उनका आदर-सत्कार होने लगा। इसी समय इस घर की एक रूपसी तरुणी उनकी दिव्य कांति देख कर मोहित हो गई और उनसे प्रणय की याचना करने लगी। भोलानन्द ने उसे धीर कंठ कहा, "आपका प्रेम मेरी देह ही से है, इसका ही संग करने की लिप्सा आप के अंतर में जगी है। किंतु मैं भी अपनी देह को प्यार करता हूँ। इसके ब्रह्मचर्य्य और शुद्धता की रक्षा के लिए मैं भी सदा सचेष्ट रहता हूँ! इससे पता चलता है कि इस देह के लिए हम दोनों प्रतिद्वन्द्वी हैं! ऐसी हालत में हमलोगों का मिलन कैसे सम्भव हो सकता है?' रमणी लज्जा से सर झुका गिरि महाराज के निकट से चली गई!

तीर्थ-परिक्रमा और विभिन्न अंचलों का परिभ्रमण समाप्त हुआ। इस काल में भोलानन्द की साधन-लब्ध अनुभूतियों और सिद्धियों की वाह्य जीवन की कसौटी पर जैसे बार-बार परीक्षा ली गयी। अब वह गुरुदेव के चरण-दर्शन के लिए पस्ताना ग्राम पहुँचे। दीर्घ काल बाद गुरु-शिष्य के पुनर्मिलन से आश्रम में आनन्द की हिलोरें उठने लगीं। आप्त-काम सिद्ध साधक भोलानन्द को गुलाब गिरिजी बार-बार अपना स्नेह-भरा आशीर्वाद जताने लगे।

वृद्ध गुलाब गिरिजी इस समय कुछ दिनों के लिये एकांतवास के उद्देश्य से आश्रम छोड़कर बाहर जाने की तैयारी कर रहे थे। श्री गुरु-सेवा की अभिलाषा से भोलानन्द भी इस समय उनके साथ चले। अमृतसर के निकटवर्ती गहन अरण्य में एक पर्णकुटी बनाकर गुरु-शिष्य वास करने लगे। इस समय महायोगी गुलाब गिरिजी सदा अध्यात्म अनुभूति के शिखर पर अधिष्ठित रहते। ध्यान-तन्मयता और समाधि में वह दिवा-रात्रि वाह्य ज्ञान शून्य हो पड़े रहते। किसी-किसी समय गुरुदेव के समाधि-भंग की प्रतीक्षा में भोलानन्द के प्रायः दस-बारह दिन भी कट जाते।

भोलागिरिजी भिक्षा के लिए एक दिन अरण्य के निकटवर्ती ग्रामांचल में गये। वृद्ध गुलाब गिरिजी महाराज अपनी पर्णकुटी के

सम्मुख धुनी जलाकर ध्यानाविष्ट थे। ऐसे समय कुछ दुष्टों की दृष्टि उनके प्रति आकृष्ट हुई। उन लोगों ने मन में सोचा, यह साधु सच ही कोई शक्तिधर योगी है अथवा पाखंडी, इसकी परीक्षा कर देखना चाहिए। धुनी में से एक खंड ज्वलंत काठ उठाकर दुष्टों के दल ने वृद्ध स्वामीजी के जंघे पर रख दिया और दूर हट कर कौतुक देखने लगे। ध्यान-मग्न आत्म-समाहित योगी का जैसे उस ओर कोई भ्रूक्षेप ही नहीं। निस्पंद भाव से वह आसन पर बैठे रहे, उधर जंघा का मांस अग्नि के उत्ताप से धीरे-धीरे दग्ध हो रहा है!

यहाँ भिक्षारत भोलानन्द का हृदय एक अज्ञात कारण से हठात् चंचल हो उठा। जो कुछ भिक्षान्न संग्रह हो पाया था उसे ही लेकर वह तेजी से गुरुदेव की पर्णकुटी की ओर चल पड़े। साधु के शिष्य को आता देख दुष्टों का दल तुरत वहाँ से भाग चला। धुनी के सामने पहुँचकर भोलानन्द के विस्मय और क्रोध की सीमा न रही। गुरुदेव की जंघा पर उस समय भी ज्वलंत काष्ठ-खंड प्रज्वलित था और महायोगी निर्विकार निश्चल ध्यान-मग्न बैठे हैं!

तुरत उस जलती लकड़ी को फेंक कर भोलानन्द गुरु की शुश्रुषा में लग गये। दुष्टों का दल, किंतु दूसरे दिन ही लौटकर आया और अपने कुकृत्य को स्वीकार कर रोने लगा। पिछले दिन के दुष्कार्य के बाद से ही उनके ऊपर दैव का चरम आघात होने लगा। किसी के निकट सम्बन्धी की मृत्यु हो गई, कोई स्वयं ही व्याधि आक्रांत हो मरा-मरा हो गया। भीत और त्रस्त हो ये बारम्बार क्षमा-प्रार्थना करने लगे। गुलाब गिरिजी ने बहुत मधुर भाषा में उन दुर्वृत्तों को आश्वासन दिया कि अपनी ओर से इनके ऊपर उनका जरा भी क्रोध नहीं। दैव-कोप से जो होना था हो गया। अब उन लोगों की कोई क्षति नहीं होगी। अब सब निर्भय हो घर जा सकते हैं। योगिवर ने और भी कहा, "सर्वदा यह बात स्मरण रखना, तुम लोगों के किसी भी अन्याय या दुराचार से समदर्शी योगियों के अन्तर पर लेश मात्र भी असर नहीं पड़ता। किंतु जिस चैतन्यमय महाशक्ति से योगियों

की समग्र सत्ता ओत-प्रोत रहती है, उसमें प्रतिक्रिया होना अनिवार्य है – उसे रोकने का कोई उपाय नहीं। परन्तु मैं अभय-दान देता हूँ, इस दोष के लिये तुमलोग अब और किसी दुर्घटना में नहीं पड़ोगे।

गहन अरण्य में निभृत वास के छः महीने बीत गये। भोलानन्द प्राणों की ममता छोड़ शिवकल्प महायोगी की सेवा में निरन्तर लगे रहे। गुरुदेव की साधना-सत्ता उस समय चरम उत्कर्ष पर थी। इस कारण भोलानन्द के जीवन में गुरुदेव के उस समय के सान्निध्य और एकांत अरण्यवास ने अपूर्व कल्याण का सृजन किया। इसके परिणाम-स्वरूप गुरुमय हो गुरुदेव की आत्मिक महिमा से वह मंडित हो उठे।

गुरुदेव ने एक दिन अपने शिष्य को बुलाकर कहा, 'भोला करीब छह महीने हमलोगों को आश्रम छोड़े हो गये। अब मुझे पस्ताना वापस जाना होगा। इस शरीर का भोग अब शेष होने पर आया। शीघ्र ही इस शरीर का मैं त्याग करूँगा।" गुरु-शिष्य, दोनों पस्ताना-आश्रम लौट आये। इसके बाद समस्त शिष्य मंडली को शोक-सागर में डुबाकर अध्यात्म-जगत् के इस महापुरुष ने मृत जगत् के अपने बंधनों को छिन्न कर दिया! गुलाब गिरिजी के अन्तिम निर्देश के अनुसार उनके गुरुदेव द्वादसी गिरि महाराज के समाधि-स्थल पर बड़ समारोह से इन्हें समाधि दी गई।

इसके बाद पस्ताना आश्रम त्यागकर भोलानन्दजी पुण्य-भूमि हरिद्वार पहुँचे। पवित्र गंगाजल से प्रक्षालित लालतारा बाग में स्वामीजी अपना साधन-आसन लगा कर बैठ गये। इसी वायुमंडल में और इसी आसन पर भारत विख्यात भोला गिरि महाराज के आचार्य-जीवन की भूमिका क्रमशः पूर्ण से पूर्णतर हुई।

लालतारा बाग में न केवल उत्तराखंड अंचल के लोग, बल्कि भारत के कोने-कोने से, तीर्थयात्री और भक्तगण इस दिव्य-कांति शक्ति-धर महापुरुष के दर्शन के लिए आने लगे। इस समय दर्शनार्थीगण श्रद्धा से स्वामीजी को सब भेंट चढ़ाते, इनका अल्पांश भी

वह संचय करते। अर्थ और भोजन सामग्री ज्यादा परिमाण में मिलते ही परम उत्साह से वह साधुओं का भण्डारा कर उन्हें खिला देते। हरिद्वार, कनखल, हृषीकेश, भीमगोड़ा प्रभृति अंचलों के बहुत से साधु इस समय लालतारा बाग में आकर भिक्षा ग्रहण करते। भूखे और गरीबों में भी भोजन तथा अर्थ वितरण करने में स्वामीजी को बड़ी प्रसन्नता होती।

भोलागिरिजी की विशिष्टता थी, उनकी अपरिमेय योग-शक्ति और तत्वोज्ज्वल बुद्धि। इन्हीं के कारण हरिद्वार के साधु-समाज में उनकी असामान्य प्रतिष्ठा हुई और धीरे-धीरे उनके भक्तों और दर्शनार्थियों की संख्या भी बढ़ती गयी। इसी समय कैलास-आश्रम के प्रतिष्ठता ब्रह्मविद् धनराज गिरि और हरिद्वार के सर्वजन-श्रद्धेय साधु, स्वामी इलायची गिरिजी के साथ भोलागिरि महाराज की घनिष्टाता हुई। प्रबल अनुरोध से भोला गिरिजी को मजबूर हो, अपने आश्रम की स्थापना करनी पड़ी। शुरु में थोड़े से संन्यासी और साधक यहाँ रहकर शास्त्र-पाठ और साधन-भजन करते। लालतारा बाग का वह आश्रम कालांतर में 'भोलागिरि-आश्रम' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

१८९३ ईस्वी की बात है। प्रयाग में पूर्ण कुम्भ मेले का अनुष्ठान हो रहा था। दूर-दूर के प्रदेशों से लक्ष-लक्ष तीर्थ यात्री नर-नारी और साधु-संन्यासी वहाँ इकट्ठे हुए थे। इस विराट् धर्म-मेला के एक प्रमुख आकर्षण भोलागिरिजी महाराज थे। क्या साधु-सन्तों का दल, क्या विभिन्न 'अखाड़ाओं' के मंडलीश्वर और महन्तों की जमात—सर्वत्र स्वामीजी का प्रभाव था। संन्यासी गण बड़े समारोह के साथ स्नान-यात्रा के जुलूस में गिरिजी महाराज को ले गये। एक अपूर्व दृश्य था। उस समय गौरकांति, सौम्य दर्शन यह महायोगी साधु-मण्डली में एक उज्ज्वल सितारे के समान दीख पड़ते थे।

इस कुम्भ-मेला में प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी को लेकर संन्यासियों के बीच मतभेद और वादानुवाद पैदा हो गया। गोस्वामीजी

अपने लिए निश्चित स्थान पर जब तम्बू लगाने गये, तो बहुत-से संन्यासियों ने आपत्ति की। सामाजिक दृष्टि से देखने पर वह गृही थे। इस कारण मेला में आये संन्यासियों के एक दल ने विरोध किया। दिव्यदृष्टि-सम्पन्न महापुरुष भोला गिरिजी ने ऐसे समय में स्वयं अग्रसर हो विरोधियों का भ्रम निवारण किया। गोस्वामीजी एक समर्थ महा-पुरुष हैं यह बात गिरि महाराज के मुख से सुनकर साधु लोग शांत हुए और उन्होंने गोस्वामीजी को सानन्द वहाँ ठहरने की अनुमति दी।

विजयकृष्ण गोस्वामी की दृष्टि में भी श्रद्धास्पद भोलानन्द गिरिजी का परिचय अज्ञात नहीं था। इनके सच्चे स्वरूप के सम्बंध में शिष्यों द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने शिष्यों को कहा था, "भोला गिरि बाबा के समान महापुरुष आजकल भारतवर्ष में दुर्लभ है। यह शक्तिधर महायोगी समग्र जगत् को ध्वंस कर फिर नये सिरे से उसकी सृष्टि कर दे सकते हैं। किंतु कितने आश्चर्य का विषय है कि ऐसी अपरिमेय शक्ति के अधिकारी होने पर भी इनका व्यवहार नितांत विनयशील है। यह असीम करुणा के आधार—स्वयं साक्षात् शिव स्वरूप हैं।"

भोला गिरिजी महाराज विजयकृष्ण गोस्वामी को 'मेरे आशुतोष' कह पुकारते। प्रयाग कुम्भ मेला के बाद, गोस्वामी प्रभु विजयकृष्ण से प्रशस्ति सुनकर, बंगाल के बहुत-से लोग गिरि महाराज का शिष्यत्व ग्रहण करने को उत्कंठित हुए। इनके विनती-भरे आमंत्रण के उत्तर में भोलागिरिजी कहते, "आशुतोष (विजयकृष्ण) के रहते तुम्हारे बंगाल देश में अभी मेरा कुछ करने का नहीं। आशुतोष साक्षात् शिव-स्वरूप हैं, वही तुमलोगों को आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर ले जायँगे। उनके निकट ही तुमलोग साधन और उपदेश ग्रहण करो।" सचमुच देखा गया है कि प्रभुपाद की जीवितावस्था में भोलानन्द महाराज ने बंगाल में बहुत कम लोगों को दीक्षा दी।

गोरखपुर के सुविख्यात योगी गंभीरनाथजी के साथ भी भोलानंद जी

का मधुर संबन्ध था। गिरिजी के निकट विजयकृष्ण गोस्वामीके शिष्यों के समान गम्भीरनाथ जी के शिष्य भी अतिशय आदर के पात्र थे। इसी से हरिद्वार कुंभ-मेला के समय अपने आश्रितों को बुलाकर कहते, "तुम भी बराबर यह याद रखना कि मेरे इस आश्रम में आशुतोष और गंभीरनाथजी के शिष्यों का स्थान सब से आगे है। इसके बाद यदि सुविधा हो तभी मेरे शिष्यों के लिए स्थान का प्रबंध करना।"

उत्तराखंड के साधु, योगी और वेदांती आचार्यों के समाज में भोला गिरिजी की महान् मर्यादा और प्रतिष्ठा थी। एक बार हृषीकेश के बहु-विश्रुत कैलास-आश्रम के महंत और निरन्जना अखाड़ा के मण्डलेश्वर ने महासमाधि लाभ की। नये मंडलेश्वर के निर्वाचन के लिए विशिष्ट धर्मनेताओं को आमन्त्रित किया गया। विभिन्न मठ, अखाड़ा और मण्डलों के विशिष्ट साधु और आचार्यगण से परिवृत हो भोला गिरि जी महाराज सभा के केन्द्र-स्थल में विराजे। स्वामीजी के ज्योतिर्मय आनन और दिव्य कांति के दर्शन कर सभी उस दिन अभिभूत-जैसे हो गये।

अभिषेक का लग्न आ गया। किंतु सभास्थ सभी व्यक्ति एक महान संकट में पड़ गये। नव-निर्वाचित मण्डलेश्वर और महंत स्वामी गोविंदानन्दजी किसी तरह भी यह दायित्वपूर्ण पद ग्रहण करने को राजी नहीं हो रहे थे। आश्रम के एक आचार्यरूप में अधिष्ठित रह कर एकांत भाव से अपनी ज्ञान-साधना में रत रहना ही उन्हें ज्यादा पसन्द था।

अनन्योपाय हो सभास्थ सभी लोगों ने भोलागिरि की शरण ली। इस कार्य्य में उनके हस्तक्षेप किये बिना इस संकट से उबरने का कोई उपाय न था। कैलास-आश्रम के प्रतिष्ठाता ब्रह्मविद् आचार्य धनराज गिरिजी महाशय भोलागिरिजी के अकृत्रिम सुहृद् और सहपाठी थे। इस आश्रम के शिष्य-वर्ग इस कारण से भोलानन्द महाराज को अपरिसीम श्रद्धा की दृष्टि से देखते। भोलानन्दजी ने गोविन्दानन्द को बुलाकर एक बार इतना ही कहा, "देखिये, मेरी आंतरिक इच्छा है कि

इस आश्रम का महंथ-पद और निरंजनी अखाड़े के मंडलेश्वर का पद आप ही ग्रहण करें।" गोविंदानन्द जी के निकट यह अनुरोध नहीं— आदेश था! नत-शिर कुछ देर चुप रहकर उन्होंने सर्वजन्य-श्रद्धेय महापुरुष भोला गिरिजी को कहा, "महाराज, आप मेरे गुरु-स्थानीय है। आपका आदेश पालन किये बिना मेरा उद्धार कहाँ?" उत्तराखंड के आश्रम-समूह और साधु-समाज के बीच ऐसी ही थी भोला गिरिजी महाराज की प्रतिपत्ति।

लालतारा बाग-स्थित भोला गिरिजी का अपना आश्रम नितांत आडंबरहीन था। जभी कुछ अन्न और अर्थादि वहाँ इकट्ठा हो जाता, वैराग्यवान महापुरुष उसी समय उसे साधु संतों के भोजन में व्यय कर परम निश्चितता से बैठे रहते। एक बार प्रसिद्ध दानी सेठ झुनझुनवाला ने भक्तिपूर्ण हृदय से स्वामीजी से निवेदन किया कि आश्रम-भवन-निर्माण के लिए दो लाख रुपये देने की उनकी बड़ी अभिलाषा है। गिरि महाराज ने इसके उत्तर में कहा, "किंतु मैं कमंडलु और कौपीन लेकर आश्रम-भवन के बाहर वट-वृक्ष के नीचे ही वास करूँगा।" इस निःस्पृह महापुरुष का मंतव्य सुन सेठ जी को आगे बढ़ने का साहस नहीं हुआ।

गिरिजी महाराज लालतारा बाग में एक रात्रि सोये हुए थे। निद्रितावस्था में उन्होंने एक विचित्र स्वप्न देखा। देवाधिदेव महादेव ज्योतिर्मयरूप में चारों दिशाओं को उद्‌भासित करते हुए उनके सम्मुख खड़े हैं। भोलानन्द को सस्नेह पुकार कर कहने लगे, "भोला-नन्द मेरा एक विग्रह इसी आश्रम के एक हिस्से में मिट्टी के नीचे दबा हुआ है। तुम मुझे वहाँ से उठाकर आश्रम में प्रतिष्ठित करो। तुम्हारे समान भक्त की पूजा का मैं अभिलाषी हूँ।'

गिरि महाराज की नींद खुल गई। घबड़ाये हुये वह उसी समय रात में ही निर्दिष्ट स्थान की ओर दौड़े हुए गये। वहाँ की थोड़ी-सी मिट्टी खोदते ही स्वप्न-कथित शिवलिंग दिखाई पड़ा। गिरि महा-राज ने विस्मय के साथ देखा कि इस पवित्र शिला-प्रतीक का वेष्टन कर एक वृहदाकार विषधर सर्प वर्त्तमान है। किंतु अपने आप ही

यह सर्प धीरे-धीरे वह स्थान परित्याग कर चला गया। भोलानंद जी अपने आश्रमिकगण के साथ इस नव-लब्ध शिवलिंग को बार बार भक्ति-आप्लुत हृदय से प्रणाम करने लगे। इसके बाद बड़े समारोह से विग्रह-पूजा सम्पन्न होने पर, इसे आश्रम गृह में स्थापित किया। भोलागिरि महाराज ने इसका नामकरण किया गौरीशंकर। वह स्वयं प्रतिदिन इस शिवलिंग की पूजा करते। इसके अलावा शिष्यों से कहते, "देखो; तुम सभी याद रखना, यह शिवलिंग पूर्ण जाग्रत है। भक्ति के साथ पूजा करने से मनुष्य की सभी कामनाएँ सिद्ध होंगी।"

१९०८ साल की बात है। भोलानन्द महाराज की आँखों में दुरारोग्य व्याधि हो गई। फलस्वरुप उनकी दोनों आखें बेकाम हो गईं। भक्तगण ने उन्हें कलकत्ता लाकर बहुत चिकित्सा कराई, किंतु कोई लाभ न हुआ। गिरिजी अपनी दोनों आँखों की दृष्टि खो बैठे। हरिद्वार वापस आकर स्वामी भोलानन्द जी लालतारा आश्रम के शांत परिवेश में पुनः वास करने लगे। इस समय एक तरुण मारवाड़ी संन्यासी एकनिष्ठ भाव से उनकी सेवा में लगे रहते थे। उनका भी नाम था भोलागिरि। यह शिष्य प्राणपण से स्वामीजी की शुश्रूषा करते, परन्तु साथ-ही-साथ गुरुदेव की दृष्टि-हीनता के लिए वह मन-ही-मन अत्यन्त व्यथित रहते। किंतु भोलानन्द जी के अंतर में इसके लिए तिलमात्र भी खेद नहीं था। उनका पूर्ण अंतर और सर्वसत्ता उस समय अंतर्मुखीन हो गई थी। आत्मानन्द में सतत निमज्जित रहने के कारण दिन-रात वह हर्षोत्फुल्ल रहते।

आश्रमवासी सभी भक्तों को बुलाकर इस समय वह प्रायः ही कहते, 'तुम लोग मेरे लिए जो इतनी मर्म-वेदना भोग करते हो यह मैं समझ नहीं पाता हूँ। मैं स्वयं तो परमानन्द में रहता हूँ। खाने, पीने, सोने आदि में मुझे कोई असुविधा नहीं। मेरा प्रिय सेवाव्रती भोला सर्वदा मेरी सेवा में तत्पर रहता है। पुत्र से भी ज्यादा ममता के साथ सेवा करता है। फिर मेरे लिए तुमलोग क्यों दुःख करते हो?' जीवन-मृत्यु, लाभ हानि सब कुछ इस परम निर्लिप्त महायोगी

के निकट उस समय समान हो उठा था। किंतु आश्रम के शिष्यों के अंतर में गुरुदेव की इस दृष्टिहीनता के लिए जैसे क्षोभ का अंत न हो।

शिष्य भोलागिरि के अन्तर में तो गुरुजी की पीड़ा की वेदना तीर की तरह चुभती रहती थी। दिन-रात ही वह गिरि महाराज की दृष्टिहीनता के लिए शोकाकुल रहता। इसके कुछ दिन बाद वह शिष्य स्वयं ही एक दुःसाध्य रोग से आक्रांत हो गया। उसकी प्राण-रक्षा के लिए आश्रम वासियों की सारी सेवा और चिकित्सा व्यर्थ गई। किंतु अंतिम शय्या पर सोये हुए भी वह अपने गुरु की दृष्टिहीनता की ही चिंता करता रहा। बार-बार खेद के साथ वह कहने लगा, "मेरा सबसे बड़ा दुःख यह रह गया कि मैं गुरुदेव को अंधता से मुक्त होते नहीं देख पाया। हे शिव, तुमसे मेरा यही आकुल निवेदन है कि तुम कृपा कर गुरुदेव को दृष्टि-शक्ति प्रदान करो। मेरी दोनों आँखों के बदले में गुरुदेव की दृष्टि-शक्ति लौटा दो। मैं यही कामना लेकर अपना अन्तिम निःश्वास त्यागना चाहता हूँ।"

परम भक्त और सेवक शिष्य ने इसके बाद ही देह-त्याग किया, किंतु गुरुदेव के लिए उसकी आकुल प्रार्थना उसके परलोक-गमन के बाद भी आश्रम के आकाश और हवा को आलोड़ित करती रही।

कई दिन बाद की बात है। भोलागिरिजी लालतारा बाग में एक दिन अपने आसन पर ध्यान-मग्न बैठे थे। हठात् सुन पड़ा, मधुर कंठ से कुछ अज्ञात लोग जैसे उन्हें पुकार रहे हैं, "भोला आँख खोलकर देखो तो हमलोग कौन हैं?" आँखें खोलते ही गिरि महाराज के आनंद और विस्मय की सीमा न रही। देखा, चारों ओर आलोक-ही-आलोक भर रहा है और बीच में हर-पार्वती खड़े हैं। आशुतोष ने अपने वराभयदानकारी हाथ को ऊपर उठाकर आशिर्वाद दिया, आज से तुमने अपनी एक आँख की दृष्टि प्राप्त की।" भोलागिरि ने रोमांचित देह से आराध्य देव देवी को साष्टांग प्रणाम किया। धीरे-धीरे यह दिव्य युगल-मूर्त्ति अदृश्य हो गई। इसके बाद ही भोलागिरि महाराज ने एक नेत्र की दृष्टि-शक्ति फिर से प्राप्त की।

संन्यासी शिष्यों के जीवन-गठन की ओर भोलानन्दजी की बराबर तीक्ष्ण दृष्टि रहती। किंतु. वाह्य संन्यासी की अपेक्षा वे सच्चे वैराग्य को ही अधिक महत्त्व देते। 'संन्यास के बिना ईश्वर-प्राप्ति क्या संभव है ?' गृही लोगों के इस प्रश्न के उत्तर में वह ऋषि वशिष्ठ के सौ पुत्रों का उल्लेख करते। सांसारिक कर्मों में रत गृही लोगों को वह भक्ति-पथ पर रह कर दान और परोपकार में लगे रहने को कहते। संन्यासी शिष्यों के दिखावटी वैराग्य को देखकर वह क्षुब्ध होते।

एक बार एक नवीन संन्यासी की माता ने स्वामीजी से शिकायत की कि उनके लड़के ने बहुत दिनों से चिट्ठी नहीं दी। भोलानन्द महाराज ने शिष्य को बुलाकर इस विषय में पूछा। शिष्य कह बैठे, "वह तो संन्यासी है। पिता-माता का भार तो वह त्यागकर आया है। अब पत्र लिखने की झंझट कैसी ?"

भोलानन्द उत्तेजित हो कहने लगे, "अरे, तू नया-नया संन्यासी बना है, परन्तु देखता हूँ अभी ही आचार्य शंकर की अपेक्षा ज्यादा ज्ञानी हो गया है। शंकर ने अपने हाथ से माँ का श्रद्धादि पार-लौकिक कार्य सम्पन्न किया था, और तू इतना बड़ा ज्ञानी हो गया कि माँ का एक चिट्ठी भी नहीं लिख सकता है ? सावधान, फिर कभी ऐसा न करना। नकली ज्ञानी न होकर सच्चा ज्ञानी होने की चेष्टा करो। कठोर वैराग्य और तपस्या के साथ मन को इष्टदेव में लगाकर रखो। वाह्य व्यवहार ठीक रखो। किन्तु सजग मन से अपने अन्तर को देखते रहो कि किसी प्रकार आसक्ति तो जन्म नहीं ले रही है।'

आश्रम कार्य को स्वामीजी बहुत महत्त्व देते। नये युवकों को बुलाकर अक्सर कहते, 'तुमलोगों की उम्र कम है खूब निष्ठा के साथ आश्रम के लिए परिश्रम करना, इसे तपस्या-भाव से लेना। क्यों रे, सुनता हूँ कि आश्रम का काम करना तुमलोगों को बहुत अच्छा नहीं लगता। मिट्टी काटना, कुएँ से जल भर कर लाना, बाजार से सब सामान खरीदकर माथे

पर ले आना—यह सब करते शायद तुमलोगों को संकोच मालूम होता है। ऐसा होने में कोई आश्चर्य नहीं। तुम सब तो बाबू थे अब इस खेतिहर गुरु के पास आकर तुमलोगों को किसानों की तरह खटना पड़ता है। किंतु अब दूसरा उपाय क्या है? किसी विद्वान पंडित या आचार्य के निकट दीक्षा ली होती तो संभवतः इतना कष्ट सहन न करना पड़ता। दिन-रात शास्त्र-पाठ करने में समय कट जाता।" कोई-कोई शिष्य हँसी में कहता, 'गुरुजी, कृषक आप ठीक ही हैं—वरन् उतम कृषक हैं। बहुत-सी परती जमीन को आबाद कर सत्य ही आप सोने की फसल उगा रहे हैं।

कर्म के भीतर अध्यात्म-साधना का अनुष्ठान करने और प्रत्येक अनुभूति की जाँच करते रहने में ही शिष्यों का कल्याण है यही थी गिरि महाराज की निर्धारित व्यवस्था। यही उनके आश्रमिक कर्म-अनुष्ठान का प्रधान उद्देश्य था। वह नव-दीक्षित संन्यासियों के लिए इसे विशेष कल्याणकर और आवश्यक मानते। किंतु, मूल उद्देश्य को छिपाकर वह शिष्यों को समझाते, "नहीं बेटा, कर्म में आलस्य करना उचित नहीं। बिना कुछ किये बैठे-बैठे खाने से पाप होता है। देखो गृहस्थ लोग कितने कष्ट से अन्न पैदा करते हैं, फिर उसमें से बचाकर साधुओं को दान देते हैं। बिना काम किये खाने से तपस्या का फल कम हो जाता है। देखते तो हो, मैं स्वयं भी कितनी मेहनत कर खाता हूँ। क्या मुझ किसी वस्तु का अभाव है? फिर भी इस वृद्ध शरीर से तुमलोगों के साथ कितना काम करता हूँ।"

आश्रम के बाग में बड़ी-बड़ी घास उग जाती थी। इन्हें काट-छाँटकर गायों के लिये सुखाकर रखना पड़ता था। भोलानन्दजी एक दिन आँगन में बैठकर घास को छाँट रहे थे। हठात् वह कहने लगे, "हाँ भाई, तुमलोगों की दृष्टि में सत्य कहाँ है, बोलो तो? घास छाँटने का काम करते समय लगता है—तुम सभी इसे घास के रूप में देखते हो। नहीं भाई, इस भाव से कभी नहीं देखना। कर्म में ब्रह्म-दर्शन करना होता है। मन-ही-मन यह भाव करना

कि असल घास तो ब्रह्म या परमात्मा है, और करकट हैं जैसे शरीर, इन्द्रिय आदि। करकट रूपी शरीर और पंचेंद्रिय प्रभृति से पृथक कर तुम सब घास रूपी ब्रह्म को जानना। इसी भाव से हर समय विचार करते रहना। इसी का नाम है कर्म में ब्रह्म-दर्शन। हाथ से काम करना और साथ-साथ प्रत्येक काम में तत्व-ज्ञान खोजते रहना।

शिष्य ध्रुवानन्दजी के साथ गिरि महाराज एक दिन आश्रम गोशाला की नाली साफ कर रहे थे। कुछ देर काम करने के बाद दुर्गन्ध के चलते शिष्य का दम घुटने लगा। कपड़े से नाक बाँधें बिना उनके लिए काम करना असंभव हो गया। इसे देख भोला गिरि महाराज कहने लगे, "बेटा, मैं इस वृद्धावस्था में दोनों हाथों से मैला-कचड़ा ठेलकर दुर्गन्ध सह रहा हूँ और तुमसे पार नहीं लगता।

शिष्य ने उसी समय कहा, 'आपकी बात अलग है। आप हैं ब्रह्मज्ञ पुरुष और समदर्शी। सुगंध-दुर्गन्ध तो आपके लिये एकाकार है। हम-लोग तो अभी वैसे हो नहीं पाये।"

गिरि महाराज ने स्मित हास्य के साथ उत्तर दिया, 'नहीं बेटा इन सब कामों में किसी तरह का घृणा-भाव मत रखना। गौएँ तो हमलोगों की मातृ स्थानीया हैं दूध पिलाकर हमलोगों की जीवन-रक्षा करती है। माँ की सेवा में कभी घृणा की जाती है? यही देखो न, मुझे बूढ़ा कहकर बड़े बड़े साधु लोग कभी भी सेवा करने नहीं देते। इसीसे तो मैंने इस तरह अपने को गोमाता की सेवा में लगाया।"

भोला गिरिजी उत्तरा-खंड के साधुओं को बीच- बीच में अपने लाल-तारा बाग-आश्रम में निमंत्रण देकर खिलाते। एक बार हरिद्वार कन-खल, भीमगोडा प्रभृति स्थानों के बहुत से विशिष्ट साधु-संन्यासी आमंत्रित हुए। लड्डू, पूरी, कचौरी प्रभृति वस्तुओं की तैयारी में आश्रम के लोग लग पड़े। रात में भोजन समाप्त होने पर स्वामीजी स्वयं अपने शिष्यों के साथ दो मन आलू का छिलका उतारने बैठे। रात्रि ज्यादा बीतने पर वह स्वयं तो बिस्तर पर सोने चले गये,

किंतु निर्देश दे गये कि कोई व्यक्ति रात में काम छोड़कर न उठे। दूसरे दिन प्रायः चार-पाँच सौ साधुओं को आश्रम में भोजन कराना था।

किंतु, गिरि महाराज के चले जाने के बाद ही परिश्रांत आश्रम-वासी धीरे धीरे अपने-अपने विस्तार पर जाकर सो गये। रात्रि-शेष में स्वामीजी फिर हठात् उठकर देखने आये। काम में शिष्यों की इस शिथिलता को देख क्रोध से पागल जसे हो गये। तीव्र भर्त्सना और उच्च चीत्कार से शिष्यों की नींद खुल गई और उन्होंने समझ लिया कि आज उद्धार पाना कठिन है। भय से कोई पलंग के नीचे, कोई घर के बाहर जाकर छिप रहा। एक मद्रासी संन्यासी आश्रम में अभी आया ही था। स्वामीजी का चीत्कार सुन वह भीत-त्रस्त हो शय्या पर उठ बैठा। क्रोधोद्दीप्त भोलानन्द इस नवागत साधु की पीठ पर सहसा एक लाठी मार बैठे और उत्तेजित कंठ से कहने लगे, "तुम लोगों में से किसी को अक्ल ठीक नहीं रहा? इतने साधु-महात्मा कल आश्रम में भिक्षा ग्रहण करेंगे—और तुम सब निश्चिंत सो रहे हो?" धीरे-धीरे सभी आश्रमवासी पुनः काम में लग गये। मद्रासी संन्यासी को लक्ष्य कर इस समय एक आश्रमवासी कहने लगे, "कितने दुःख की बात है, आप तो शिष्य नहीं, आश्रम में नये-नये आये अतिथि हैं। परन्तु स्वामीजी आपको ही मार बैठे।"

सन्यासी ने हँसते हुए "कहा, "भाई इस महापुरुष के निकट क्या अपना और पर का भेद रह गया है? शिष्य और गैर शिष्य की भेद-रेखा का मूल्य इनके पास कुछ नहीं है। इनके हाथों से मार खाने का सौभाग्य पाकर मैं अपने को धन्य मानता हूँ। इसके अलावा, वह मुझे अपना नहीं मानते तो क्या कभी मारते? ये लोग कभी तो वज्र की तरह कठोर हो जाते है और कभी कुसुम को तरह एकदम कोमल। रुद्र और बालक-भाव का समन्वय हैं। आज महाराज का रुद्र-भाव देख मुझे तो बहुत आन्नद हुआ।"

शिष्यों के ऊपर कब किस भाव से इस महापुरुष का क्रोध बरस पड़ेगा, इसे समझने का कोई उपाय नहीं था। एक दिन संध्या-आरती के समय भोलागिरि महाराज मंदिर-विग्रह के सम्मुख घंटा

बजाने को तैयार हुए खड़े थे। वृद्ध गुरु महाराज को कष्ट होगा, यह विचार कर तरुण संन्यासी ध्रुवानन्द उनके हाथ से घंटा लेने लगे। गिरि महाराज इस साधारण सी बात से नितांत क्रुद्ध हो जो काम कर बैठे उससे सभी विस्मयाभिभूत हो पड़े। एक बड़ा-सा बाँस का टुकड़ा ले गिरि महाराज ने खूब जोर से ध्रुवानन्द के माथे पर दे मारा। कहना व्यर्थ है कि उस दिन शिष्यों के लिए गुरुदेव के इस कठोर और अप्रत्याशित व्यवहार का मर्म समझना नितांत असंभव था।

दूसरे दिन प्रातःकाल दोनों की देखा-देखी हुई। स्वामीजी ने बड़े स्नेह के साथ ध्रुवानन्दजी को बुलाकर पास बैठाया। कहने लगे, "बेटा, कल तुम्हारे माथे पर मैंने बहुत जोर से डंडा मारा था। निश्चय ही तुम्हें बहुत चोट लगी होगी।"

शिष्य ने जवाब देते हुए कहा कि जरूर ही कोई अपराध मुझसे हुआ होगा, नहीं तो कृपालु गुरुदेव इतने कठोर नहीं हो गये होते। ऐसे ही विचार के कारण उनके अतर में क्रोध का उद्रेक नहीं हुआ, यह भी उन्होंने बताया। गिरि महाराज ने तब स्नेह भरे कंठ से कहा 'अच्छा देखो बेटा, गुरु के शासन करने पर कभी क्रोध मत करना। गुरु जो भी कहते हैं, शिष्य के मंगल के लिए ही—यह बात सदा याद रखना। लुहार जैसे तपा-तपा कर कच्चे लोहे को यंत्र में परिणत करता है, साधन पथ में सद्गुरु भी वैसे ही कठोर शासन और कठोर नियंत्रण द्वारा शिष्य को सार्थक और सफल यंत्र के रूप में परिणत कर तैयार करता है।

एक दिन की बात है अभी-अभी भोर हुआ है। गिरिजी आश्रम के एक ब्रह्मचारी की कोठरी में हठात् उपस्थित हो उस पर पदाघात कर बैठे। हक्के-बक्के ब्रह्मचारी द्वारा इसका कारण पूछने पर स्वामजी महाराज ने अत्यन्त उत्तेजित कंठ से कहा, तुम्हें लाठी न मारूँगा तो क्या तुम्हारी पूजा करूँगा ? सात बजने का समय हो आया-अभी तक तू बिस्तर पर पड़ा हुआ है। वाह रे मेरे ब्रह्मचारी ! लगता है—घर में खाना नहीं था, इसी से इस आश्रम में आकर मजे से

भोलागिरि की पतली रोटी और घी बैठे बैठे उड़ा रहा है। उठ यहाँ से अभी बाग में जाकर काम कर।" अभिमानी ब्रह्मचारी की दोनों आँखों से झर-झर आँसू गिरने लगे। करुण कण्ठ से वह कहने लगे, "बाबा-आप ऐसी कठोर बात मुझसे कह बैठे। आप तो स्वयं अच्छी तरह जानते हैं कि मेरे घर खाने का कोई अभाव नहीं।"

गिरि महाराज ने उसे और भी नाना प्रकार के मर्म-भेदी वाक्य वाणों से विद्ध करते हुए कहा,-"तुम्हारे घर पर न खाना है, न पेट में विद्या। तभी तो आश्रम की रोटी खाने के लिए जुट गया है।" वह जितना ही कठोर व्यंग्य का प्रयोग करते ब्रह्मचारीजी उतने ही आहत अभिमान मे फूलते जाते। बार-बार उन्होंने गुरुदेव को बताया कि वहाँ का काम पूरा कर उसी रात में उन्होंने हृषीकेश के किसी छत्र में चले जाने का दृढ़ प्रण कर लिया है। बाग के काम में वह अविलंब लग अवश्य गये, किंतु दोनों नेत्रों से अनवरत अश्रुधारा झरती रही।

पदाघात और कटु वाक्य से आहत अभिमानी ब्रह्मचारी का हृदय रह-रह कर टुकड़ा-टुकड़ा होने लगा। अब आया भोलागिरि महाराज के नरम होने का अवसर। बार-बार आश्रमवासियों को सुना-सुना कर वह ब्रह्मचारी की नाना भाँति प्रशंसा करने लगे—ऐसा विद्वान, धीर, स्थिर और गुरु-भक्त युवक तो अपने जीवन में कभी नहीं देखा, इस आश्रम का तो वह एक महान रत्न है, आदि।

तरुण ब्रह्मचारी का क्षोभ इतने पर भी मिटा नहीं। वह उत्तेजित हो कहने लगे, "बाबा, आप अब मेरी कितनी भी खुशामद क्यों न करें, किंत इस प्रकार का दुर्व्यवहार भोगने के बाद यहाँ पर किसी तरह भी मैं रह न सकूँगा। हृषीकेश के छत्र से साधुओं का दैनिक आहार अच्छी तरह जुट जाता है। आज मैं निश्चय ही चला जाउँगा। अब मैं आपके भुलावे में नहीं पड़ूँगा।' स्वामीजी भी इधर-उधर घूम-फिर कर वही मिन्नत-मनौती का अभिनय किये जा रहे हैं। किंतु ब्रह्मचारी एकदम दृढ़-संकल्प हैं कि आज निश्चय ही वह लालतारा बाग-आश्रम को छोड़कर कहीं अन्यत्र चले जायँगे।

इस बार भोलागिरि महाराज का अपार प्रेमैश्वर्य सबके सामने प्रकट हो पड़ा। प्रस्थानोद्यत शिष्य ब्रह्मचारी की ओर एकटक वह देख रहे हैं और अविराम धारा में उनके नेत्रों से आँसू बह रहे हैं। परम शांत महायोगी इस बार करुणा से विगलित हो गये—ग्रीष्म उत्तप्त धरती की व्यथा से व्याकुल हो, मानो उत्तुंग शिखर का जमा हुआ तुषार गल-गल कर झरने लगा। आश्रमस्थ साधु संन्यासिओं का दल स्वामीजी महाराज की अपरूप प्रेमघन मूर्ति और करुणालीला के दर्शन से अभिभूत हो पड़ा। ब्रह्मचारी के हृदय की सारी अशांति और क्षोभ की उसी समय एकदम समाप्ति हो गई। रोते-रोते वह दौड़ और स्वामीजी के चरणों पर गिर पड़े। गिरि महाराज ने स्नेहार्द्रस्वर में केवल इतना ही कहा, "बेटा स्नान-पूजा समाप्त कर जल्दी से कुछ खा लो। तुमलोग यह नहीं समझ पाते कि तुम लोगों की तैयारी और परीक्षा के लिए ही मुझे हृदय-हीन के समान ऐसा दुर्वाक्य कहना पड़ता है।

सेवक शिष्यगण ही गुरु महाराज की शय्या को सँवारते। इस काम को लेकर रोज ही बहुत झंझट होती। जरा सा नीचा ऊँचा रहने पर स्वामीजी भीषण हल्ला मचाने लगते। स्पष्ट है कि इसका प्रकृत उद्देश्य रहता, इस उपलक्ष्य से शिष्यों के हृदय में गुरुसेवा एवं एकनिष्ठा को दृढ़ करना।

एक दिन ब्रह्मचारी ललित ने गुरुदेव का बिछौना तैयार किया। भोला गिरि महाराज उसे देखते ही उत्तेजित भाव से कहने लगे "किसी काम में किसी की निष्ठा नहीं देख तो बिछौना के बीच में कितनी जगहें ऊँची – नीची रह गई हैं।" शिष्य ने सविनय इसका प्रतिवाद किया। फिर क्या था भोलानन्द एकदम क्रोध से गरज उठे "गदहा, देख नहीं पाता कि कहाँ काम में त्रुटि रह गई है? थोड़े से भी मनो-योग के साथ गुरुसेवा नहीं कर सकता ? कर भी कैसे सकता है ? बाप-माँ की सेवा तो जीवन में कभी की नहीं, गुरु की सेवा तुमसे कैसे हो सकती है ?"

दो-एक बातें इस तरह बोलकर स्वामीजी उत्तेजित भाव से सेवक ब्रह्मचारी की उँगलियाँ लोहे के पलंग से रगड़ने लगे। वेदना से अधीर हो शिष्य चीत्कार कर उठे। मुहूर्त्त भर में भोलागिरि के इस रोषाभिनय में पट-परिवर्त्तन हो गया। जैसे वह एक नये मनुष्य हो गये हों। शांत और दृढ़ कंठ से वह शिष्य को कहने लगे, "अरे, वेदना किसे होती है? जिस शरीर को होती है, तू क्या वही है? रक्त-मांस, मेद मज्जा से निर्मित है यह शरीर। इसे आघात लगने से क्या तुझे लगा? तुमलोगों के ध्यान ज्ञान वास्तव में किस दिशा में हैं—बता तो? केवल मुख से 'मैं शरीर नहीं यह घोषणा करने से ही क्या कोई ज्ञानी हो जाता है? इसके लिए, जरूरत है—शरीर की नश्वरता की उपलब्धि कर देह-बुद्धि का एकदम परित्याग। सर्वस्व छोड़कर तुम सभी संन्यासी हुए हो, फिर देह के कष्ट से विचलित क्यों होते हो? मैं शरीर नहीं, इद्रिय नहीं, इनसे पूर्णतः पृथक वस्तु—आत्मा हूँ, इसी भाव को सर्वदा धारण करना होगा। तभी तो साधना की सार्थकता है।"

स्वामीजी के एक दूसरे शिष्य महेशानन्द गिरिजी ने अवधूत-वृत्ति का अवलम्बन किया। मात्र एक कौपीन धारण कर वह विभिन्न स्थानों पर घूमते-फिरते। एक बार वह लालतारा बाग के आश्रम में आये। इस समय प्रवल ज्वर के आक्रमण से वह मूर्च्छित हो पड़े। आश्रम के एक सन्यासी के आग्रह से महेशानन्दजो एक कम्बल ओढ़-कर चटाई पर सो रहे।

स्वामीजी हठात् उनके कक्ष में उपस्थित हुए। रोग-क्लिष्ट शिष्य के ज्वर की हालत पूछते समय उनकी दृष्टि कम्बल पर गई। बस क्या था, वह गरज उठे, "अवधूत वृत्ति ग्रहण करने के बाद कम्बल काम में लाने का प्रयोजन क्यों बोध होता है? रास्ते या जंगल में जब ज्वर होगा तब क्या तुम्हारी माँ या मौसी तुम्हारे लिए कम्बल लेकर वहाँ बैठी रहेगी? और इस तरह कम्बल के व्यवहार को यदि इच्छा ही रहे, तो अवधूत बनने का ढकोसला नहीं कर अपने अन्य

संन्यासी गुरु-भाइयों के समान कपड़ा आदि पहन कर क्यों नहीं रहता ? इसमें मुझे आपत्ति नहीं। या तो अवधूत-वृत्ति का त्याग करो अथवा कम्बल छोड़ो।"

भोलागिरि महाराज की तथ्यपूर्ण बातें शिष्य के अन्तर में तत्क्षण लग गईं। गुरुदेव को अत्यन्त भक्ति-भाव से प्रणाम कर उन्होंने कम्बल को दूर फेंक दिया ! और स्वामीजी के उस कक्ष से बाहर आते ही महेशानन्द रोगमुक्त हो गये।

आश्रमस्थ एक पंजाबी संन्यासी एक दिन एक सादा बहिर्वास पहन कर आँगन में चहल-कदमी कर रहे थे। उनके ऊपर दृष्टि पड़ते ही जैसे गिरि महाराज की क्रोधाग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी। क्रुद्ध कंठ से उन्होंने कहा 'फिर तुम सादा कपड़ा पहन कर घूम रहे हो ? जिसका त्याग कर दिया, उसे फिर से धर रखना क्यों चाहते हो ? तुम्हें क्या लाज-शर्म कुछ भी नहीं है ? अभी इन्हें उतारो। हाँ, और एक बात ! मैंने लक्ष्य किया है, तुम बीच में बहिर्वास छोड़ कर केवल कौपीन धारण किये यहाँ घूमते रहते हो। आगे फिर कभी ऐसा न हो। केवल कौपीन पहन कर रहना इस आश्रम में नहीं चलेगा। ऐसी जगह चले जाओ जहाँ स्त्रियों और बच्चों का आगमन एकदम नहीं होता हो।" संन्यासी शिष्यों के आचार-व्यवहार और साधन-जीवन को भोलानन्द महाराज की सजग दृष्टि इसी तरह सदा सतर्क पहरे में घेरे रहती।

एक बार एक शिष्य ने कातरता के साथ स्वामीजी से निवेदन किया, "बाबा, आपके निकट मैंने दीक्षा ग्रहण की है। कई वर्ष घनिष्ठ सान्निध्य में भी रहा। किंतु बाबा, मेरे साधन-जीवन में कोई भी सुस्पष्ट उन्नति अभी तक नहीं हुई। लगता है जैसे मेरा सम्पूर्ण जीवन एकदम ही व्यर्थ हो गया हो।" इस तरह की दो-एक बात कहते-कहते शिष्य तीव्र भावावेग से क्रंदन करने लगे।

सहसा गिरि महाराज ने एक विचित्र एवं करुण दृश्य की अवतारणा कर दी। वह शिष्य की व्यथा से स्वयं विगलित हो रोने

लगे। दोनों आँखों से अविरल अश्रु-राशि गिर रही है और वह एक कपड़े से उसे बार-बार पोंछ रहे हैं। कुछ देर बाद थोड़ा स्थिर होकर वह प्रशांत कंठ से साधक शिष्य को समझाने लगे, "पुत्र- तुम्हारे प्राणों की व्यथा ने आज मुझे रुला दिया। किन्तु, बोलो मैं करूँ ? साधनारूपी धर्मपत्नी मैंने तुम्हें दे दी है उससे युक्त होकर तुम्हें ज्ञान रूपी पुत्र-लाभ करना है। यह कर्त्तव्य तो तुम्हारा ही है। इसके लिए चाहिए तीव्र तपस्या का अनुष्ठान। इस तपस्या की भित्ति है—वैराग्य। केवल सांसारिक वस्तु-समूह के प्रति वैराग्य होने से काम नहीं चलेगा; देह के प्रति सच्ची आसक्ति-हीनता लानी होगी। देह के प्रति तुम्हारी आसक्ति जितने दिनों तक रहेगी, सांसारिक वस्तुओं के प्रति उतने दिनों तक वितृष्णा नहीं आयेगी—इसे याद रखना। देह के प्रति अनासक्ति जब आ जाय तब समझना कि सच्चे वैराग्य का उदय हुआ है। उसी समय तपस्या भी ठीक होगी। बेटा, तीव्र तपस्या के बिना कभी ज्ञान प्राप्ति नहीं होती। हताश न हो, तपस्या में लग पड़ो; शांति अचिर ही मिलेगी। भय क्या रे ? मैं तो हूँ ही ! गुरु पर निष्ठा रख साधना करता जा।"

आत्माराम-महाज्ञानी भोलानन्द की दृष्टि में संसार के शोक, ताप, जन्म और मृत्यु सब कुछ एकाकार हो गये थे। अथच व्यावहारिक जीवन-क्षेत्र में खड़े रहकर मानुषिक दुःख दैन्य को वह अपनी अपार करूणा-भावना से ग्रहण करना भी जानते थे। परम कारुणिक ब्रह्मपुरुष के प्रेम और संवेदना के द्वारा अगणित संसार-क्लिष्ट आश्रित मनुष्य अपनी प्रार्थित शांति पाने में समर्थ हुए थे।

गिरि महाराज एक दिन शिष्यों के साथ बगीचा में कार्यरत थे ! बगीचे के द्वार से इसी समय एक व्यक्ति भीतर आने लगा। दूर से ही उसे देखकर वह खेद के साथ धीमी आवाज में कह उठे, "हाय बेटा ! क्या तुमने दुःख ही पाया है।" शिष्यों ने उत्सुक होकर जानना चाहा कि बात क्या है। बाबा ने कहा, "जो व्यक्ति मेरे निकट आ रहा है, वह अपने प्रिय भाई की मृत्यु होने के बाद एकदम टूट गया है।"

आगत सज्जन स्वामीजी के चरणों पर लोटकर रोते-रोते कहने लगे, "बाबा, मेरा सर्वनाश हो गया है।" उनके दुःख से विगलित हो गिरि महाराज ने उन्हें दोनों हाथों से पकड़कर छाती से लगा लिया। उनकी आँखों से भी अजस्र धारा में शोकाश्रु निर्गत होने लगे। महापुरुष की ऐसी सहृदयता के स्पर्श और नयन जल ने आगंतुक के शोक संतप्त हृदय को धीरे-धीरे शांत कर दिया।

इसके बाद प्रेमपूर्ण भाषा में स्वामीजी ने इस व्यक्ति को कुछ उपदेश दिया। उन्होंने कहा, "आपके भाई इस समय अन्य लोक चले गये हैं। उनके प्रति आपका जैसा आर्कषण है, वैसा आपके प्रति उनका नहीं है।' इस प्रसंग में उन्होंने पुराण तथा अन्य शास्त्रों मे समयोपयोगी नाना कहानियों और परलोक तत्त्व की चर्चा की। भ्रातृ-वियोग-विधुर सज्जन का शोक मिट गया। अखंड ज्ञान की परम सत्ता में अवस्थित भोला गिरि महाराज के लिए इस तरह खंड बुद्धि के राज्य में विचरण करना नितांत ही सहज और स्वाभाविक था।

वेदांतोक्त शुद्ध अद्वैत-ज्ञान के सम्बन्ध में भोलानन्दजी अपने जीवन की कहानी प्रायः कहा करते। इसके द्वारा उनके निजस्व आदंश का स्वरूप समझा जाता है। गिरि महाराज उस समय नवीन संन्यासी के रूप में भारत के विभिन्न तीर्थों में भ्रमण करते हुये घूम रहे थे। इसी समय एक दिन उषाकाल में एक वृद्ध साधु के साथ उनका साक्षात्कार हुआ। साधु पवित्र नदी के तट पर तर्पण समाप्त कर उच्च स्वर में बार-बार केवल इतना ही कहते थे, "गर्दभोऽहम्, बिडालोऽहम्, कुक्कुरोऽहम्" इत्यादि।

भोला गिरिजी विस्मित हो इस वृद्ध तपस्वी के निकट गये। उनके चरणों की वंदना कर उन्होंने सविनय प्रश्न किया, "महाराज, इस तरह के वाक्यों का उच्चारण करने में आपका क्या तात्पर्य है, कृपा कर मुझे बताइये। "शिवोऽहम्" न कहकर आप यह सब क्या बोल रहे है।"

साधु ने उत्तर दिया "बेटा! अद्वैत-भाव की उपासना करने जाकर तुमलोग सर्वदा द्वैत-भाव को ले आते हो; 'शिवोऽहम्' कहते समय तुम अपने को जीव से पृथक मान लेते हो। इससे मन में होता है—प्रकृत रूप में तुम शिव मात्र हो। किन्तु, तुम क्या जीव भी नहीं हो? इस अखंड-ज्ञान कैसे होगा? यह ज्ञान तो सत्य-ज्ञान नहीं, यह भी एक प्रकार का अज्ञान है। सच्चा ज्ञानी सर्वभूत में अपनी आत्मा को देखता है; वह जानता है 'सब मैं हूँ' – शिव, जीव, पशु सब कुछ ही। याद रखना सर्वभूत में, सर्वलोक में यही आत्मा विस्तारित है; सब जगह तुम्हारा ही स्वरूप, तुम्हारी ही आत्मा है। इस प्रकार का ज्ञान ही चरम अद्वैत-ज्ञान है। गिरि महाराज के परिव्राजन-काल की इसी तरह की नाना पुरातन कहानियों के द्वारा साधनार्थी दल को परम तत्त्व का इंगित प्राप्त होता।

इस महाज्ञानी और महायोगी की जीवन सत्ता में प्रेम-भक्ति की एक रस स्निग्ध धारा भी अत्यन्त सुन्दर भाव से मिली हुई थी। दर्शनार्थी भक्त अथवा शिष्य जिस किसी का भी स्वामीजी के साथ साक्षात्कार होता वह उनके हृदय के माधुर्य-रस का रसास्वादन किये बिना नहीं लौटता। आश्रम की विग्रह-पूजा और लीला कीर्त्तन के समय स्वामीजी का आनन्दघन रूप खिल उठता। प्रेमावेश में वह मतवाला हो जाते। योग-सामर्थ्य के उच्च शिखर पर अधिष्ठित महायोगी के इस पुलकोत्फुल्ल रूप को देखकर दर्शनार्थी आनन्द और विस्मय के सागर में गोता लगाने लगते।

एक दिन एक बंगाली भक्त गिरि महाराज के चरणतल में बैठ-कर उन्हें रामप्रसादी संगीत सुना रहे थे—

डूब दे रे मन काली बले,
हृदि रत्नाकरेर अगाध जले—

भक्ति- मधुर श्याम संगीत के प्रबल आकर्षण ने योगी हृदय के पारावार को एक मुहूर्त्त में ही तरंगायित कर दिया। गिरि महाराज के युगल नयन से अविरल धारा में प्रेमाश्रु निर्गत होने लगे। बार-बार वह उन्हें अंगोछे से पोंछ रहे हैं। यह अपरूप प्रेम-विह्वलता

देख, सभी उपस्थित व्यक्ति अवाक् हो रहे हैं। विस्मयाभिभूत हो वे केवल यही सोच रहे हैं—किस जादू के बल से इस महापुरुष की सत्ता में अतुलनीय योगैश्वर्य, ज्ञान और भक्ति का ऐसा अपूर्व सम्मेलन साधित हुआ है !

आश्रम में प्रतिदिन अत्यन्त निष्ठा के साथ शिव-पूजा अनुष्ठित होती। साथ-साथ जन्माष्टमी का समारोह भी वहाँ कम नहीं होता। जन्माष्टमी के दिन भोलागिरि महाराज अत्यन्त भक्ति-भाव से भागवत का पाठ सुनते। कृष्ण-विग्रह को मोहन-साज से सजाकर प्रेमाप्लुत कंठ से गिरिजी महाराज कहते सुने जाते, "महाराज, तुम्हारी यह कैसी अपूर्व लीला ! जीवों के कल्याण के लिए तुमने स्वेच्छा से गर्भ-यंत्रणा का कष्ट सहन किया। कृष्ण-कृष्ण बासुदेव नारायण हरि हे ! सभी तुम्हारी माया।" कभी-कभी भक्ति के आवेश में 'कृष्ण-कृष्ण' कहते भी उन्हें समाधिस्थ होते देखा जाता। एक बार ढाकाअवस्थान के समय जाग्रत शक्ति विग्रह ढाकेश्वरी देवी का प्रसादी फूल पाकर भोलागिरि महाराज मायाविष्ट अवस्था में गद्गद् कंठ से बोल उठे थे, "माँ का प्रसाद मैंने पाया है, कृपा का प्रसाद पाकर मैं धन्य हुआ।"

साधारण भक्त अथवा योग-साधना में असमर्थ साधक के लिए गिरिजी की व्यवस्था नितान्त सहज और सरल थी। इस सम्बन्ध में एक बंगला पंक्ति की स्वयं रचना कर बड़े आनन्द से सबको उपदेश देते "कर नाम ओ दान हइवे कल्यान।" सर्व साधारण के लिए रचित उनकी हिन्दी कविता में भी नाम जप का ही निर्देश था।

गौरी शंकर सीता राम
सदा बोलो चारों नाम
सद्गुरु दिया हर का नाम,
खाली जिह्वा कौन काम ?

नाम-जप की यह प्रेरणा गिरिजी अपने क्रिस्तान एवं मुसलमान भक्त और दर्शनार्थियों को भी देने से न चूकते। प्राणायाम के पूरक और रेचक श्वासों के साथ-साथ उन्हें वह यीसू या अल्ला का नाम जप करते रहने को सदा उत्साहित करते।

सार्थक योगी एवं अपरिमेय योग-विभूति के अधिकारी रूप-में कीर्त्तित होकर भी गिरि महाराज कभी जप को कम महत्व नहीं देते। प्राय: ही उन्हें कहते सुना जाता—"जप-साधन करने से मनुष्य असाधारण अध्यात्म-शक्ति का अधिकारी हो सकता है।' इस सम्बन्ध में अपनी अभिज्ञता के एक वृत्तांत का स्वामीजो वर्णन किया करते।

बहुत दिन पहले भोलागिरि महाराज के लालताराबाग आश्रम में एक सरल ग्राम्य मजूर काम करता था। कल्याणपुरीजी नामक एक वृद्ध साधु इस व्यक्ति के प्रति सदय हो गये और उन्होंने भोलागिरिजी से आग्रह किया कि वह उसे दीक्षा दें। अंत में स्वामीजी को राजी होना पड़ा। उस मजूर को उन्होंने पंचाक्षर-मंत्र की दीक्षा दी और उसके गले में रुद्राक्ष की कंठी बाँधकर उसे कहा, "देखो बाबा, आज से तुम मेरे शिष्य हुए। अब से तुम्हारा परिचय हुआ साधु—अब तुम मजदूर नहीं रहे। यह सब काम छोड़कर, अब तुम शिव-मंदिर में बैठकर जप-साधन में लग जाओ।"

वह व्यक्ति अत्यन्त भोला और सरल विश्वासी था। भोलानंदजी के इंगित का अनुसरण कर वह एक निकटस्थ ग्राम के शिव मंदिर में जाकर निरंतर नाम-जप में निमग्न हो गया। अयाचक-वृत्ति धारण कर वह दिन-रात मंदिर में ही बैठा रहता। दर्शनार्थियों में से जो कुछ आहार कोई देता उससे ही वह अपनी क्षुधा-निवृत्ति करता। प्राय: दो वर्षों की कठोर तपस्या के बाद उसे इष्ट दर्शन का लाभ हुआ। उसकी वाक्-सिद्धि तथा नाना अलौकिक विभूतियों की ख्याति भी उस अंचल में क्रमश: प्रचारित हो उठी। गिरि महाराज अपने इस जप-साधनकारी शिष्य की असामान्य क्षमता का उल्लेख कर सभी से कहते "जप को तुच्छ मानकर तुमलोग कभी भी उसकी अवहेलना न करना। इसके समान उत्कृष्ट साधन और नहीं।"

लालताराबाग-आश्रम में बराबर बन्दरों का उत्पात लगा रहता। बगीचे के गाछ-फल आदि के ऊपर इनके उत्पात की सीमा न थी। आश्रम में बाहर से आये हुए गृही भक्तों को तंग कर डालते, किन्तु

आश्चर्य—किसी साधु संन्यासी को ये कभी उपद्रव से तंग नहीं करते। इसके रहस्य के सम्बन्ध में पूछे जाने पर स्वामीजी एक पुरातन घटना का वर्णन करते।

आमश्र की स्थापना अभी हाल में हुई है। बन्दरों के उत्पात से सभी परेशान हैं। इस समय भोलानन्दजी ने एक दिन अत्यन्त गंभीर स्वर में सब बन्दरों का आह्वान किया। विस्मय का विषय—सभी बन्दर एक-एक कर आये और उनके चारो ओर एकत्र हो गये। इसके बाद गिरि महाराज ने उन्हे लक्ष्य कर एक भाषण दिया। वह कहने लगे, "देखो, इस बगीचे के जितने फल-फूल हैं सब तुमलोगों के लिए हैं। किन्तु याद रखना, जैसे तुमलोग इन्हे खाने की चेष्टा करोगे, हमलोग भो वंसे ही लाठी लेकर तुम्हे भगाने का प्रयत्न करेंगे—तुम्हारी ओर से विक्रम-प्रकाश करने की पूरी छूट है। किन्तु मेरी एक आज्ञा तुम सब को पालन करनी होगो। जब तक मैं इस आश्रम में हूं, यहाँ के किसी साधु का कमंडलु, कौपीन, बहिर्वास या अन्य वस्त्र तुमलोग कभी स्पर्श न करना।" साथ-साथ स्थानीय एक वृद्ध बन्दर ने माथा हिलाकर खूब जोरों से सम्मति-सूचक शब्द किया। इस नर-बानर की सभा के भग होने क बाद से बानर-कुल ने किसी दिन स्वामीजी की आदेश वाणी को अमान्य नहीं किया।

आश्रम के कुत्ते और पिल्लों को लेकर भोलानन्दजी की व्यस्तता की सीमा न थी। इन्हें खिलान-पिलाने आदि के आयोजन का विस्तार देख सब को आश्चर्य होता। दुर्दांत 'कालू था गिरि महाराज का परम भक्त। इसके भोजन के लिए आश्रम से प्रति दिन एक सेर दूध बन्धा हुआ था।

सन्यासी शिष्यों के सम्बन्ध में किन्तु देखा जाता, स्वामीजी नितांत अद्भुत आचरण करते। दूर देश-देशान्तर से भक्तगण आश्रम में सर्वदा नाना उपादेय फल तथा अन्य खाद्य पदार्थ भेजते रहते। गिरि महाराज अकेले कितना खाते। उनका कुछ समान्य अंश उपयोग में आता, बाकी गल-पच जाता इसके बाद उन्हें गंगा

के गर्भ में फेंक दिया जाता। परन्तु शिष्यों के लिए उन्हें खाने का कोई उपाय नहीं था। वैराग्य और कृच्छ्र-व्रत की धृति को दृढ़तर करने के लिए ऐसा ही था भोलागिरिजी का कठोर और सतर्क नियं-त्रण। आश्रमिकगण बीच-बीच मे विनोद कर 'कालू' कुत्ते के दूध-बँधान का लल्लेख किया करते। परिहास में वे कहा करते, "भोला गिरिजी के आश्रम में कुत्ता, विडाल और गाय होकर रहना भी एक महान तपस्या का फल है।"

गिरिजी के प्रिय कुत्ता 'कालू' की कहानी ही जैसे इस परिहास को सत्य रूप में परिणत कर देती। 'कालू' कुत्ता के मृत्यु दिवस के आचरण ने आश्रम वासियों की दृष्टि पर एक वाह्य आवरण का उन्मोचन कर दिया। प्रायः एक महींने के रोग-भोग के बाद इस कुत्ते का जीवन-दीप बुझने के निकट आया। देह-त्याग का लग्न भी जैसे इस आश्रम-पशु से अज्ञात नहीं। ठीक समय में रोगजीर्ण शरीर को लेकर हाँफते हाँफते वह गंगा-तट पर उपस्थित हुआ। किसी तरह गंगाजल में स्नान कर वह ऊपर आया। फिर शरीर का अर्द्धांश पुण्यतोया जाह्नवी में डुबाया हुआ रखकर कालू ने शेष निःश्वास का परित्याग किया। भोला गिरिजी के प्रिय कुत्ते की ऐसी गंगा-भक्ति का दर्शन कर उस दिन हरिद्वार के बहुत से नागरिक विस्मयाभिभूत हो उठे।

भोलानन्दजी की साधन-गुहा में बहुत से विषधर सर्प रहा करते थे। उनके साथ योगिवर एक अकाट्य बन्धन में आबद्ध थे। कभी-कभी ये आँगन में बाहर हो फन फैलाकर आनन्द के साथ खेल करते। इस समय कोई उन्हें मारने को उद्यत होता तो गिरि महाराज तिरस्कार के स्वर में कहते "खबरदार, इन्हें कभी नहीं मारना। ये ही शिवजी के कंठ के आभूषण हैं। तुम्हारा कोई अनिष्ट ये नहीं करेंगे। इसके अतिरिक्त ये सभी साँप कितने दीर्घकाल के बन्धु हैं। इनमें से कई कितनी ही रातें मेरे साथ एक ही शय्या पर सोते रहे हैं। इन्हें स्वेच्छानुसार खेलने दो।"

एक दिन शेष रात्रि में स्नानकर स्वामीजी ने भजन-कुटीर में प्रवेश किया। प्रदीप जलाने के लिए दियासलई खोजते हुए वह दीवाल में

बने ताक को टटोलने लगे। हठात् उनका हाथ एक विषधर सर्प के फन से छू गया। नाग-प्रवर ने एक बार फों किया, फिर धिरे-धिरे कक्ष से बाहर चले गये। यह जैसे प्रिय साथी के उपर स्नेहाभिमान कर गृह-त्याग था।

इष्टदेव शिवजी के भूषण भोला गिरि महाराज के हस्त-स्पर्श का गलत अर्थ लगाकर उनके ही दोष से स्थानान्तर जा रहे हैं, ऐसा सोच-कर वह अत्यन्त विषाद में निमग्न हो गये। हाथ जोड़कर वह बार-बार सर्प से प्रार्थना करने लगे— ऐसी असावधानी का काम अब फिर कभी नहीं होगा। सर्प के प्रत्यावर्त्तन के लिए कितना व्याकुल अनु-रोध उन्होने किया, परन्तु कौन उसपर कर्णपात करता है? साँप सर्वदा के लिए वह स्थान त्याग कर चला गया। कक्ष— गह्वर में वास करने वाले अन्य सर्पों को ऐसी असुविधा जिससे न हो, गिरि महा राज ने इसके बाद इसीलिए प्रायः बारह वर्षों तक वहाँ पर दीपा— लोक प्रज्वलित नहीं किया।

इस सर्वज्ञ महायोगी की दूर-दृष्टि नितान्त सहज भाव से शिष्यों के अन्तर के निभृततम प्रदेश में पहुँच जाती और प्रयोजन के अनु-सार उनकी किसी जटिल समस्या का समाधान करने में भी उन्हें कभी रुकावट नहीं होती। शिष्य चन्द्रकुमार बाबू एक दिन अनेक भक्तों से परिवृत हो गुरुदेव के सम्मुख बैठे हुए हैं। दर्शनार्थियों और भक्तों के साथ स्वामीजी नाना प्रकार के तत्त्वों की आलोचना कर रहे हैं। चन्द्रबाबू के मन में इधर कुछ दिनों से एक जटिल प्रश्न बार-बार उठ रहा था— साधकों के इष्ट एक हैं, अथवा पृथक-पृथक। परन्तु प्रश्न का उत्थापन करने का उन्हें किसी तरह भी साहस नहीं हो रहा है। हठात् सम्मुखस्थ एक दर्शनार्थिनी महिला इष्ट के स्वरुप के सम्बन्ध में प्रश्न कर बैठी। चन्द्रबाबू यह सुनते ही उत्कंठित हो उठे। गिरि महाराज प्रसंग क्रम से कहने लगे, "याद रखना इष्ट एक है —"इष्टं एक पूर्णं नित्यं सर्वाधिष्ठानम्।" यह कहते-कहते घूमकर शिष्य चन्द्र बाबू की ओर मुख कर लिया और बोले "समझे चन्द्र? यही है तुम्हारे इष्ट का स्वरुप।" अतंर्यामी परम कारुणिक गुरु के अतंर-पट पर उनके समस्या-विक्षुब्ध मन का जो स्पंदन बहुत पहले ही

अंकित हो चुका है उसे हृदयंगम कर शिष्य के आनन्द की सीमा न रही।

शिष्यों के अन्तर में सच्ची श्रद्धा जाग्रत रहे, इसके लिए भोला गिरिजी महाराज सदा सतर्क रहते। एक बार वह ढाका गये। शहर के एक अंचल स्वामीबाग में उस समय श्री त्रिपुरलिंगजी नामक एक प्राचीन और समर्थ योगी महापुरुष का वास था। ये भोलानन्दजी के पूर्व—परिचित थे और इनके प्रति गिरिजी की श्रद्धा भी यथेष्ट थी। किन्तु, त्रिपुरलिंगजी महाराज के अपने आश्रम में कई तरुणियों को आश्रय देने के कारण बहुत से स्थानीय लोग उनपर कटाक्ष करने लगे थे। भोलागिरिजी के शिष्य डाक्टर नृपेन बसु भी बीच—बीच में इस महापुरुष की निन्दा किया करते।

स्वामीबाग के इस महात्मा के साथ साक्षात्कार करने के लिए एक दिन भोलागिरि महाराज अपने शिष्य नृपेन बसु के साथ रवाना हुए। आश्रम में उपस्थित होने के कुछ समय बाद दोनों के पारस्परिक संभाषण के शेष होने पर गिरि महाराज ने अपने शिष्य डाक्टर बसु को त्रिपुरलिंगजी के चरणों में साष्टांग प्रणिपात करने का आदेश दिया। नृपेन बाबू ने आदेशानुसार साष्टांग वन्दना की।

स्वामीजी ने त्रिपुरलिंगजी को सम्बोधित करते हुए स्मित हास्य के साथ कहा, 'महाराज, आप एक बार सम्पूर्ण नग्न तो हो जायं।" त्रिपुरलिंगजी हंसते हुए अपना बहिर्वास और कौपीन उतार खड़े हो गये। डाक्टर बसु ने विस्मय के साथ देखा कि उनके संदेह भाजन इस योगी का पुरुषांग एक शिशु की तुलना में भी नितान्त क्षुद्र है। पहले की दायित्वहीन आलोचना के लिए डा० बसु का अन्तर तीव्र अनुशोचना से भर गया। मन-ही-मन अपराध मार्जना की भिक्षा कर वह फिर स्वामीबाग के महापुरुष के चरणों में साष्टांग प्रणत हुए। गिरि महाराज शिष्य का तिरस्कार करते हुए कहने लगे, 'तुमलोग नितांत अल्प-बुद्धि हो, साधु की सच्ची महिमा किस तरह समझ पाओगे। उग्र दृष्टि द्वारा साधु महात्माओं पर विचार करने का कभी

प्रयास नहीं करना, इससे अकल्याण को निमंत्रण देकर लाना होता है ।"

दर्शनार्थी और भक्तों की इष्ट-निष्ठा दृढ़ करने के उद्देश्य से गिरिजी को अनेक समय अपनी अलौकिक शक्तियों का प्रयोग करते देखा जाता । इनमें एक-दो घटनाएँ यहाँ दी जा रही हैं ।

स्वामीजी के एक विशिष्ट शिष्य के भाई शशिकांत गुप्त का ब्रह्मधर्म की ओर झुकाव था । न तो साधु-संन्यासियों में उनका विश्वास था और न उनके प्रति भक्ति । उन्हें वह कोई महत्व न देते । एक बार वह अपने भाई के आग्रह-अनुरोध पर भोलागिरिजी को देखने कलकत्ता गये । स्वामीजी के उपदेशादि का श्रवण कर दर्शनार्थी प्रसाद पाने के लिए कमरे के बाहर चले गये हैं । ऐसे अवसर पर गिरि महाराज ने शशि बाबू को अपने निकट बुलाया । दो चार स्नेहपूर्ण वचन और तत्वोपदेश के बाद न जाने क्यों स्वामीजी भावाविष्ट हो इस नवागत दर्शनार्थी का बार-बार आलिंगन करने लगे। उनके दोनों नयनों से प्रेमाश्रु की धारा बहने लगी। विस्मयाविष्ट शशि बाबू ने यह भी देखा कि स्वामीजी के शरीर से एक ज्योति का प्रवाह निर्गत हो रहा है । इसके फल से मुहूर्त्त भर में सारा कक्ष आलोक-भासित हो उठा। नवागत व्यक्ति के हृदय में विश्वास के बीज का वपन करने के लिए ही क्या उस दिन भोलानन्द महाराज ने इस अलौकिक लीला का प्रदर्शन किया था ? स्वामीजी के निकट दीक्षा ग्रहण कर शशि बाबू एक परम भक्त बन गये ।

सुप्रसिद्ध गणितज्ञ सोमेशचन्द्र बसु की पत्नी अकाल में ही परलोक गई । स्त्री की मृत्यु से सोमेश बाबू के हृदय में तीव्र वैराग्य का संचार हुआ । अध्यात्म-साधन करने का उन्होंने निश्चय किया । किन्तु उसके साथ ही उन्होंने मन-ही-मन एक प्रतिज्ञा की कि जो शक्तिधर योगी उनकी परलोकगता स्त्री को लाकर एक संग उन्हें दीक्षा दे सकेंगे, केवल उन्हीं का शिष्यत्व वह ग्रहण करेंगे । बहुत से साधु-संन्यासियों के निकट व्यर्थ-मनोरथ हो सोमेश बाबू भोला-

गिरिजी पदप्रांत में उपस्थित हुए। उन्हें दीक्षा-दान के लिए महा-पुरुष के सम्मत होने पर सोमेश बाबू ने अपनी मृत पत्नी की दीक्षा का प्रश्न उठाया। गिरि महाराज ने तत्क्षण अत्यन्त सहज भाव से उत्तर दिया, "अच्छा तो बेटा, उसकी दीक्षा भी इसके साथ ही हो जायगी। तुम जरा भी घबराओ नहीं।"

निभृत दीक्षा-गृह में तीन आसन रखे गये। भोलानन्दजी और सोमेश बाबू दो आसनों पर बैठे। अनुष्ठान आरम्भ होने के साथ-साथ विस्मयाविष्ट सोमेशचन्द्र ने देखा—बगल में रखे हुए तीसरे आसन पर उनकी परलोकगता पत्नी सशरीर बैठी हुई है। स्वामीजी का पहले से यह आदेश था कि दीक्षागृह–आकर्षिता इस महिला का शरीर सोमेशचन्द्र स्पर्श नहीं कर सकेंगे। मर्त्यलोक का विरही स्वामी इसी कारण इस समय केवल अपार उत्कंठा के साथ इस सूक्ष्मलोक-वासिनी सह-धर्मिणी को ओर निर्निमेष नेत्रो से देखता रहा। दीक्षानुष्ठान समाप्त होते ही उनकी पत्नी की मूर्त्ति अन्तर्हित हो गई। विस्मयाभिभूति गणित-शास्त्री उस समय केवल अपने योगी गुरु के योग-सामर्थ्य की बात हो न विचारते रहे-उनकी परम करुणा का वरदान भी उनके मन में बार-बार उठता रहा।

स्वामीजी के एक अन्य शिष्य अमरनाथ राय आसाम के एक गण्यमान्य व्यक्ति थे। उस समय वह श्री हट्ट के सुनामगंज में वास करते थे। इसी काल में उनका बालक-पुत्र एक दुःसाध्य रोग से आक्रांत हुआ। रोग की अवस्था संकटापन्न हो उठी और डाक्टरों ने उसके जीवन की आशा त्याग दी। इस अवस्था को ज्ञापित करते हुए हरिद्वार में गिरि महाराज को तार दिया गया। इसके उत्तर में स्वामीजी ने आदेश भेजा, "यथा सम्भव नाम-जप और दान करो।" आश्चर्य का विषय, उसी रात्रि में मुमुर्षु बालक सबसे कहने लगा—"मैं अच्छा हो गया हूँ। स्वामीजी मेरे निकट आये थे।" सब के कौतूहल तथा प्रश्नों के उत्तर में बालक ने और जो कुछ कहा उसका मर्म यही था—उसने स्वामीजी को देखा है—खूब उज्ज्वल

मूर्त्ति, माथे पर पगड़ी, पाँव में खड़ाऊँ, हाथ में कमंडलु; उनके पीछे एक संन्यासी-दल। स्वामीजी ने अपने कमंडलु से जल लेकर मृत्यु-शय्या-शायी बालक के संपूर्ण शरीर पर उसे छींट दिया। इसके साथ ही उसकी सभी रोग-यंत्रणाओं का अवसान हो गया। रोगी के पिता ने सानन्द अविलम्ब गिरि महाराज को हरिद्वार खबर दी की उन्हीं की कृपा से उनके मरणासन्न पुत्र के प्राण लौट आये। स्वामीजी सभी को बुलाकर सोत्साह कहने लगे, "देखो, देखो तुम सब तो विश्वास नहीं कहते हो कि चैतन्य या परमात्मा सर्वव्यापी है; किन्तु यह देखो मैं तो सुनामगंज नहीं गया, मैं तो तुमलोगों के निकट ही रहा। परमात्मा सर्वत्र ही वर्त्तमान हैं, उन्होने ही दूर रहकर भी यह काम किया है। साधन-बल से उन्हें जान सको तो तुमलोग भी सर्वज्ञ एवं सर्वशक्ति-मान हो सकते हो। उसके बाद वह हँसते हुए कहने लगे, "देखो, अमर को लिख दो कि डाक्टरों के पीछे तो बहुत खर्च हुआ, फिर भी कोई लाभ नहीं हुआ। मैंने ही जब रोगी को स्वस्थ किया है तब मेरे विजिट की फीस की मद में साधु-सेवा के लिए वह इस बार अधिक चावल भेजे।"

स्वामीजी के एक बंगाली शिष्य दल-बल के साथ एक बार सुन्दर बन-अंचल में बाघ का शिकार करने गये। गंभीर अरण्य में सभी इधर-उधर घूम रहे हैं; ऐसे समय में एक हिंस्र व्याघ्र इस शिष्य के सामने उछल कर पहुँचा। उस समय कोई वहाँ नहीं था। इस प्रकार अचानक आक्रांत होकर वह विपद् में पड़ गये। हाथ की बंदूक कहीं दूर रह गई थी। केवल एक भाला हाथ में लेकर वह बाघ के साथ जूझ पड़े। क्रमशः उनका क्षत-विक्षत शरीर अवसन्न होने लगा।

ऐसे समय में सहसा जाने कहाँ से उनके गुरुदेव भोलागिरिजी उस विजन अरण्य में आविर्भूत हो गये। तेजोदीप्त कंठ से उन्होंने शिष्य को उत्साहित करते हुए कहा, "भय नहीं, बाघ के मुख-गह्वर में जोर से भाला मारो—वह अभी मर जायगा।" किसी दैव-बल से उनका लुप्त साहस और शक्ति जैसे लौट आई। गुरुदेव के इस निर्देश का

शिष्य ने तड़ित वेग से पालन किया। दो एक तीव्र आघात के बाद उन्होंने भाले को व्याघ्र के मुख के भीतर चला दिया। इसके साथ ही व्याघ्र नि.शक्त हो धरती पर लेट गया। शिकारी ने उसके बाद गुरुदेव के दर्शन के लिए जैसे ही मुँह घुमाया तो देखा कि वह कहीं अंतर्हित हो गये हैं।

कुछ दिन बाद हरिद्वार जाकर उन्होंने भक्ति-भावना से गद्गद् हो गिरिजी को कहा, "बाबा, उस दिन उस गहन अरण्य में आप उपस्थित न होते तो व्याघ्र के आक्रमण से मैं किसी तरह अपनी रक्षा न कर सकता। भोलागिरिजी ने असली भेद को छिपाते हुए हँसते-हँसते उत्तर दिया 'दुत् पागल! क्या बोलता है! मैं तो उस समय हरिद्वार में था इन सबको परमात्मा की माया समझना।"

अलौकिक शक्ति का प्रकाश और बहिरंग जीवन का लीलाभिनय, ये भोलागिरिजी के जीवन में अजस्र थे। स्वयं यह महायोगी सदा परम चैतन्य के केंद्र में अवस्थित रहते। इसी कारण उनके महाजीवन के सम्मुख से स्थूल और सूक्ष्म जीवन के आवरण तथा भेद-विभेद सहज ही अपसृत हो गये थे। इसीसे देखा जाता आश्रम में समाधि से जाग्रत होने के साथ साथ वह गोशाला में जाकर चिल्लाते पाये जाते 'देखो, देखो, किसी की कोई कर्त्तव्य बुद्धि नहीं। अभी तक गोमाता के लिए खली और भूसी-दाना की सानी तैयार नहीं की। इस तरफ किसी का ध्यान नहीं—सब जमाई बन गया है सब नई कनिया की तरह घर में लुका रहता है।"

जो सुदूर आसाम प्रांत में किसी अपने रोगी की शय्या के पार्श्व में या व्याघ्र-कवलित शिष्य के उद्धार-कार्य में गंभीर अरण्य के बीच में पहुँच जा सकते थे—उसी शक्तिमान योगी को लालताराबाग के आश्रम में नितांत भिन्न रुप में देखा जाता—एक अभिनव अभिनय के छन्ध-वेश में। वहाँ देखा जाता कि बाग के बीच में गुल्ली डंडा हाथ में लेकर वह उपद्रवकारी बंदरों को भगाने में व्यस्त हैं और

कम्पित हाथों का निशाना ठीक नहीं बैठने के कारण दुष्ट बंदर दाँत और मुँह किचकिचा कर उन्हें डरा रहे हैं। कभी आश्रमिक 'बाबू-भैयों' को लक्ष्य कर अविरत गालियों की बौछार किए जा रहे हैं— "सब बाबू हो गये हैं, बिना श्रम किये बैठे-बैठे मुफ्त में सब रोटी खाना चाहते हैं। सब शिवजी का बच्चा—सिद्ध पुरुष हो गया है। यह बुढ्ढ़ा दिनभर काम करेगा और बाकी लोग आराम से बैठे-बैठे खायेंगे। आश्रम के लिए किसी के दिल में कोई दर्द नहीं।" महा-समर्थ योगी और लीलाधर अभिनय-कुशल महापुरुष की जीवन-सत्ता का यह एक अपूर्व रस-मधुर द्वैत-रुप था।

दीर्घ लीलाभिनय के बाद भोलागिरि के वाह्य जीवन के ऊपर यवनिका गिरी। १९२९ खृष्टाब्द की ८ वीं मई—कृष्ण चतुर्दशी तिथि को महायोगी ने अपने अमर जीवन का अध्याय समाप्त कर शेष निःश्वास त्याग दिया। उत्तराखंड के विशिष्ट साधु, संत, महंत और मंडलीश्वर तथा अगनित भक्तजनों ने हरिद्वार के लाल-तारा बाग में समवेत हो अपना श्रद्धार्घ्य निवेदित किया। ॐ नमः पार्वतीपतये हर, गंगा माई की जय, हर हर बम बम—ध्वनि के बीच महापुरुष का पुष्पमाला शोभित शरीर गंगा के काली कुंड में धीरे धीरे निमज्जित कर दिया गया।

शंकराचार्य

संन्यासी वेश में एक नम्बुद्रि ब्राह्मणवंश का बालक, मुंडित-मस्तक और नग्नचरण, परिधान के नाम पर कौपीन और अंग-वस्त्र, हाथ में दंड और कमण्डलु! पथिकों की दृष्टि में परम विस्मय-जनक है यह दिव्यकांति, सौम्यदर्शन बालक संन्यासी। उम्र आठ से अधिक की नहीं होगी। इस उम्र में ही घर ससार के माया-मोह को छोड़ पता नहीं किस अज्ञात उद्देश्य की खोज में यह निकल पड़ा है?

दक्षिण भारत के सुदूर कलाडी गाँव से पैदल ही यात्रा प्रारंभ की। इसके बाद कितने ही दिन और लम्बी राहें समाप्त कीं। आज नर्मदा के तट पर पहुँचते ही उसके आनन्द की सीमा नहीं रही। स्नान, तर्पण और पूजा-वंदना समाप्त कर यात्रा फिर प्रारम्भ हुई। पुण्य सलिला नर्मदा के तट पर पता नहीं किस पारस मणि की खोज में यह घूम रहा है, यह कौन बता सकता।

कब, किस शुभ मुहूर्त्त में महायोगी गोविंदपाद का नाम इस बालक के कानों में पड़ा और साथ ही साथ उसके मर्म-स्थल में प्रविष्ट हो गया? उसके बाद अभ्यागत साधु-सन्तों के निकट और टोल के अध्यापकों से भी उसने इसी महात्मा के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहानी सुनी। ये गोविंदपाद स्वामी असीम तत्त्वज्ञान और योग-सिद्धि के अधिकारी थे। उनकी भक्ति-सिद्धि की ख्याति सम्पूर्ण दक्षिण भारत में फैली हुई थी। लोगों के मुँह से ऐसा सुना जाता था कि ॠषिप्रवर पतंजलि ही इस सिद्ध-देह में लोकोपकार के लिए स्वयं अवतरित थे। बहुत दिनों तक लोगों की दृष्टि से दूर, एक पहाड़ की एकांत गुफा में ये गुप्त रीति से समाधि में लीन रहे।

बालक-संन्यासी के हृदय में एक दुर्वार आकांक्षा जाग्रत हो गई थी। उसका वह चिराकांक्षित महायोगी कहाँ मिलेगा ? उसका वह रहस्यमय योगी, उसकी गुप्त ध्यान-गुहा कहाँ है ? व्यग्र व्याकुल-हृदय यह बालक उनकी खोज में अबतक कम नहीं भटका है। पथ-प्रांतर, वन-पर्वतों में वह ढूँढ़ता फिरा है। इस उद्देश्य को लेकर मठ, मंदिर और साधकों के द्वार-द्वार पर योगी की खोज में उसने चक्कर काटे।

एक दिन दैव प्रसन्न हुए। नर्मदा के तट पर संयोगवशात् उस दिन एक अति वृद्ध संन्यासी के साथ बालक का साक्षात्कार हुआ। सदय भाव से उन्होंने उस बालक से कहा —'वत्स ! तुम भाग्यवान हो ! इसी उम्र में तुम्हारे हृदय में सच्चे अर्थ में मोक्ष की अभिलाषा जाग्रत हुई है। तुम ओंकारनाथ की ओर जाओ। मेरा आशीर्वाद है, शीघ्र ही तुम्हारी मन-चाही वस्तु तुम्हें प्राप्त हो जायगी।''

नर्मदा की बीच धारा में ओंकारनाथ पर्वत अवस्थित है। यही पुराणों में वर्णित वैडूर्य-मणि पर्वत है। किसी समय भक्तवीर माँधाता की राजधानी इसी पुण्य स्थली में थी। ओंकारनाथ, महा-काल प्रभृति महाजाग्रत शिवलिंग युग-युग से यहीं प्रतिष्ठित है। आज भी समस्त भारत के दिग्दिगंत से असंख्य तीर्थयात्री यहाँ एकत्र होते हैं और भक्तिभाव से पूर्ण अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं।

एकमात्र वृद्ध संन्यासी की आश्वासन-वाणी ही इस बालक के कान में गूँज रही थी ! आकुलता पूर्ण आग्रहवश वह शीघ्रता से पर्वतारोहण करने लगा। उसने सारे पर्वत का कोना-कोना छानना शुरु किया। इसी समय पहाड़ के कोने में एक संकीर्ण गुफा पर उसकी दृष्टि पड़ी।

भीतर प्रवेश करते ही बालक स्तंभित हो गया। सुरंग भीतर ही भीतर जाकर एक गुफा से मिल गई थी। जटा-जूट-धारी एवं तप से क्षीण शरीरवाले कतिपय योगी वहाँ तपस्या में लीन थे। क्षीण प्रकाश-वाली उस गुफा के भीतर एक निस्तब्ध और ध्यान-गंभीर वातावरण था।

संन्यासी बालक अधीर हो उठा। आग्रहवश व्यग्र हृदय को अब अधिक संयत रखना उसके लिए संभव नहीं रहा। सामने में बैठे हुए एक प्राचीन तापस के चरणों में गिरकर ऊँचे स्वर में उसने कहा—"प्रभु! मेरी धृष्टता क्षमा करें। महायोगी गोविन्दपाद स्वामी की करुणा और आश्रय प्राप्ति की इच्छा से ही मैं यहा आया हूँ। उनका पता बताकर इस आर्त्त बालक की प्राणरक्षा कीजिए।"

वाह्यजगत से विस्मृत योगियों के कान में शब्द सहज ही कैसे पहुँचते? बार बार बालक के कंठ से यह प्रार्थना गुफा के भीतर गूँजने लगी। अंत में मौनी योगी ने आँखे खोली। सामने घुटना टेके हुए एक बालक संन्यासी को देखा। उसके हृदय की आकुल भावना आँसुओं से विगलित होकर कपोलों पर बह रही थी। यह कातर प्रर्थना उस दिन वृद्ध संन्यासी की हृत्-तन्त्री पर आघात कैसे नहीं कर पाती? सकरुण दृष्टि से उसे देखकर उन्होंने अपना हाथ उपर उठाया और उसे अभयवर प्रदान किया।

धूनी की आग बुझ चुकी थी। प्रदीप जलने का कोई उपाय नही था। पत्थर के दो टुकड़ों को रगड़कर वृद्ध तपस्वी ने उसे फिर जलाया। उसके बाद उस दीपक को हाथ में लेकर धीमे स्वर में कहा, "वत्स, आओ मेरे पिछे चलो।"

गिरिकक्ष के एक हिस्से में पहुँचकर तपस्वी रुक गये। अंगुली के संकेत से एक गिरिगुफा दिखाई। एक छोटासा पत्थर का टुकड़ा उसके प्रवेश पथ को आच्छादित किये था। स्नेह-मधुर कंठ से उन्होंने बालक से कहा, "वत्स! इसी महाद्वार गुफा के गर्भ में महायोगी गोविंदपाद समाधिलीन हैं। इन्हीं की तपस्या के प्रभाव से ओंकारनाथ पर्वत और नमदा तट उद्भासित हो रहे हैं। जिसकी सूक्ष्म दृष्टि खुल चुकी है केवल वही उसे देख सकता है। हम लोग बहुत दिनों से यहाँ उन्हीं की कृपा प्राप्त करने की आशा से तपस्या कर रहे हैं। पर महायोगी की समाधि कब भंग होगी यह कौन जाने?

अपने प्राणों का जो भी निवेदन तुम्हें व्यक्त करना है, यहीं रहकर निवेदन करो।"

"किन्तु प्रभु ! मैं तो योगिराज के दर्शन के लिए ही इतनी दूर दुर्गम रास्ता पार करके यहाँ आया हूँ। उनका परमाश्रय प्राप्त किये बिना मुझे शांति कहाँ ?"

"बालक ! मैं समझ रहा हूँ। तुम बड़े भाग्यशाली हो। जन्म-जन्मान्तर का सात्त्विक संस्कार तुममें जाग उठा है। तुम निश्चय ही शक्तिधर हो। इस पत्थर के द्वार को खोलकर महायोगी को तुम अपनी प्रार्थना निवेदित कर सकते हो।"

बालक संन्यासी के अन्तर्हृदय में महात्मा गोविंदपाद की कृपा का संकेत उस दिन प्राप्त हो चुका था। उसके लिए यह समझना बाँकी नहीं रहा कि पत्थर के आवरण की ओट में अवस्थित यही महापुरुष उसके अध्यात्मजीवन के पथप्रदर्शक, उसके इहलोक के गुरु—परमाश्रय हैं।

अपरिमित तेजस्वी यह बालक ! विश्वासपूर्ण हृदय से उसने उस गर्भगुहा के द्वार पर अपना हाथ रखा। इसी बीच गुफा के अन्य साधकों का ध्यान भी भंग हो चुका था। बालक के साथ उन्होंने भी योग-दान किया। पत्थर का दरवाजा धीरे-धीरे खुल गया।

दीप-शिखा के आलोक में महायोगी की महिमामयी मूर्त्ति उद्-भासित हो उठी। दोनों नेत्र ध्यान में मुँदे हुए थे। तपःसिद्ध शरीर से लौकिक ज्योति की आभा फूट रही थी। सम्पूर्ण शरीर में जीवन का कोई चिह्न नहीं, फिर भी मृत्यु को सहज ही पराजित करके ये दिव्य सत्ता से परिपूर्ण विराजमान थे।

दीपक को जमीन पर रखकर, बालक ने करबद्ध स्तुतिपाठ प्रारंभ किया। वहाँ एकत्र साधकगण निःशब्द साश्चर्य उसका यह कार्य देख रहे हैं। उन्हें लग रहा था, यह बालक अद्भुत कर्मा है। निश्चय ही दैव-बल से यह बली है, नहीं तो भला कौन समाधिस्थ

गोविन्दपाद के सम्मुख इस प्रकार साहस करके आत्म-निवेदन कर सकता है। तो क्या योगी गुरु ने स्वयं ही अपने इस परिचित शिष्य को उस दिन इस प्रकार आकृष्ट कर अपने पास बुला लिया था?

गोविन्दपाद स्वामी ने धीरे-धीरे आँखें खोली। दिव्य कृपा की अमृतधारा बरसने लगी। मोक्षकामी बालक संन्यासी योगिवर के आशीर्वाद और परमाश्रय को प्राप्त कर धन्य हो गया! उसी दिन का नम्बूद्रि बालक ही आगे चलकर विश्व-विख्यात आचार्य शंकर हुआ। "कौपीनवन्त: खलु भाग्यवन्त:' पद के रुप में महाज्ञानी आचार्य ने जिस श्लोक की रचना की थी, कौपीनधारी आठ वर्ष के बालक के रुप में उन्होंने उस सौभाग्य का अपने जीवन में आवाहन किया था।

ओंकारनाथ पर्वत की गुफा में इस प्रकार उस दिन शंकर के आध्यात्मिक जीवन के दृश्य का पर्दा उठा था। उस समय वे मात्र आठ वर्ष के थे। बाद के चार वर्षों की अवधि में ही असामान्य योग सिद्धि और शात्र-ज्ञान उनके लिए हस्तामलकवत् हो गये। गुरु गोविन्दपाद के आदेश से निर्जन बदरी धाम में निवास करते हुए वेदान्तभाष्य प्रभृति रचनाओं में प्रवृत्त हुए। गुरु ने उनके उपर जो दायित्व सौंपा था वह पूरा हो चुका। तब वे मात्र सोलह वर्ष के किशोर थे।

इस नवीन-आचार्य के चरणों में आत्म-निवेदन करके धन्य हो गये उस समय के अनेक दिग्गज पंडित एवं साधक! अपने इस शिष्यदल को लेकर शंकर भारत-विजय के लिए निकल पड़े। हिमालय से कन्याकुमारी, द्वारका से कामाख्या तक के इस विस्तृत क्षेत्र में लोकोत्तर महापुरुष शंकर का जय-जयकार व्याप्त हो गया। मनीषा, कर्म-प्रतिभा, और अध्यात्म-शक्ति का एक ही मनुष्य के जीवन में इस प्रकार का समन्वय कदाचित् ही देखा जाता है। विश्व के इतिहास में इसकी तुलना नहीं है।

उन दिनों केवल दिग्विजय करके ही शंकर शान्त नही हुए। भारत के आध्यात्मिक जीवन में उन्होंने एक नवीन धारा प्रवाहित कर दी। उन्होंने नये रुप में अद्वैत-वेदान्त दर्शन की प्राणप्रतिष्ठा

की। उन दिनों ज्ञानगंगा के जिस प्रवाह को उन्होंने भारत भूमि पर लाकर प्रतिष्ठित किया। वह विश्व के सभी मानवों के जीवन में विस्तारित हो गया।

इस महान आश्चर्यजनक काम को आचार्य शंकर ने केवल बत्तीस वर्ष की स्वल्प जीवन-अवधि में सम्पादित किया। नाटकीय ढंग से शंकर के जीवन में द्रुतगति से प्रकाश आया, नाटकीय भंगिमा से उनका पटपरिवर्त्तन हुआ और नाटकीय चमत्कार के मध्य ही उनकी परिसमाप्ति हुई।

युगाचार्य और प्रेरित पुरुष के रूप में आचार्य का आविर्भाव हुआ और उन्हें आत्म-प्रकाश मिला। नवम शताब्दी के प्रथम चरण में इसी प्रेरित पुरुष का महाजीवन ईश्वरीय लीला का एक अपूर्व रंग-मंच बन गया। इस देश के अनेक सन्यासियों और साधकों ने देवाधि-देव शंकर के अवतार के रूप में इस शंकर की कल्पना की।

भारत के दक्षिण-पश्चिम में केरल राज्य है। हरित तरुलता से आवृत्त इस देश की श्याम स्निग्ध भूमि को देखकर मन में होता है, जैसे सागर गर्भ से यह भूमि आज ही उत्तीर्ण हुई है। पुराण में लिखा है कि एक समय जामदग्नय परशुराम ने योगबल से इस भूमि को समुद्र से निकाला था।

इसी केरल का एक छोटा सा ग्राम है कालाडि। इस ग्राम में निष्ठावान नम्बुद्रि ब्राह्मण आचार्य शिवगुरु का निवास था। शास्त्र-चर्चा और जप-ध्यान में ही उनका अधिक समय बीत गया। उनकी पत्नी विशिष्टा देवी भी बहुत अधिक धर्मपरायणा थीं। ग्राम के किनारे चन्द्रमौलीश्वर का एक मन्दिर था। दोनों मिलकर परम भक्तिभाव से इस जाग्रत् शिवलिंग की आराधना किया करते थे।

आचार्य और उनकी पत्नी के अंतर में दुःख था।—बहुत समय बीत चुका, किन्तु पुत्र-दर्शन का सौभाग्य उन्हें प्राप्त नहीं हो सका। एक दिन चन्द्रमौलीश्वर के मन्दिर में आचार्य शिवगुरु बैठे थे। उनके नेत्र ध्यान-निमीलित थे। कान में सहसा महेश्वर की देव-वाणी

कथा और आलोयाई नदी की गति के परिवर्त्तन की कहानी चारों ओर फैल चुकी थी। राजा को बड़ा कौतूहल हुआ। वे स्वयं भी विद्वान और विद्वानों को उत्साहित करनेवाले राजा थे। उनके राज्य में शंकर के समान लोकोत्तर प्रतिभा का आविर्भाव हुआ था। ऐसे व्यक्ति को सम्मान देना वे आवश्यक समझते थे। उन्होने राज-प्रासाद का निमंत्रण देने के लिए अपने मंत्री को शंकर के पास भेजा।

परन्तु शंकर राजधानी जाने को प्रस्तुत नहीं हुए। राजमंत्री द्वारा प्राप्त निमंत्रण के उत्तर में तेजोदीप्त इस बाल अध्यापक ने कहा—'मंत्रिवर, मैं भिक्षुक ब्राह्मण हूँ। राजसभा के प्रति मेरा कोई आकर्षण नहीं है। मैं शास्त्र-व्यवसायी भी नहीं हूँ। केवल शास्त्र-ज्ञान का वितरण करना ही मेरा काम है। कृपा करके राजा के द्वार पर जाने के लिए मुझे प्रलोभित न करें।'

मंत्री राजधानी वापस आ गये। शंकर की कथा सुनकर उनके प्रति केरल-राज की श्रद्धा और आकर्षण में वृद्धि ही हुई। इस अद्‌भुत बालक के दर्शन और उसके साथ तत्व की आलोचना के उद्देश्य से राजा चंद्रशेखर को कलाडि ग्राम में उपस्थित होना पड़ा।

सर्वशास्त्र-पारंगत बालक-अध्यापक से साक्षात्कार तथा उनके साथ तत्वालोचना करने के बाद राजा ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और साष्टांग प्रणाम निवेदित कर उन्होंने शंकर के सामने अनगिनत स्वर्ण-मुद्राएँ समर्पित कीं। उस अनासक्त बालक ने उसी समय राजा के मंत्रियों द्वारा उस रकम को दरिद्रों के बीच बँटवा दिया। राजा चन्द्रशेखर अपने जीवन में उस बालक को कभी नहीं भूल सके।

शंकर के घर पर एक दिन कई विख्यात शास्त्रज्ञ ब्राह्मण पधारे। बालक अध्यापक की अलौकिक प्रतिभा और प्रसिद्धि उन्होंने सुन ली थी। इस बार उनके साथ वार्त्तालाप और विचार-विमर्श के परिणाम स्वरुप उनकी श्रद्धा और भी बढ़ गई।

कौतूहलवश उनलोगों ने विशिष्टा देवी से अपने पुत्र की जन्म-कुंडली लाने को कहा। जन्म-लग्नादि देखकर उनके आश्चर्य की

सीमा नहीं रही। गणना से उनलोगों को यह स्पष्टतया पता चला कि पीछे चलकर यह प्रतिभाधर बालक परम ज्ञानी युगाचार्य के रुप में आत्मप्रकाश करेगा और विश्व के अध्यात्म क्षेत्र में अनन्य नेता के रुप में सम्मानित होगा।

माता विशिष्टा देवी ने व्याकुल भाव से प्रश्न किया, "किन्तु मेरे पुत्र की आयु कितने वर्ष की है? क्या यह भी देखा है? यह दीर्घायु तो होगा? कृपा कर एक बार तो कहिए?"

सभी इस तरह मौन क्यों हैं? ललाट कुंचित कर उन लोगोंने बार-बार हिसाब लगाया। अपने हिसाब की परीक्षा भी की। इसके पश्चात् सभी मौन हो गये। किंतु विशिष्टा देवी उन्हें किसी प्रकार छोड़ने वाला नहीं थी। उन्होंने उनसे बार-बार विनती की। किसी तरह बचने का उपाय नहीं देख कर पंडितों ने कहा—"माँ तुम्हारा लड़का एकदम अल्पायु है। सोलह और बत्तीस वर्ष की अवस्था में जीवन-संशय का योग है।"

शंकर विधवा के नेत्रों की मणि थे। क्या उसे वह खो देगी? गणना के फल को सुनते ही विशिष्टादेवी कातर स्वर में रो उठी। एकमात्र पुत्र शंकर उसके जीवन का सर्वस्व था। "शिवरात्रि की दीप-शिखा के समान यह बालक उसके अंधकारमय जीवन में उस क्षीण प्रकाश के समान था जिसे अपने हृदय-पट के अंचल में ढँक कर वह लिये चल रही थी।

शंकर की स्वल्पायु की कथा सुनकर दैवज्ञ ब्राह्मणों का दल विदा हो गया। किंतु बालक अध्यापक की चेतना के मर्ममूल पर इस कथा ने एक प्रचंड आघात पहुँचाया। भवितव्यता का संकेत वहाँ अंकित हो गया। शंकर के सावधान कानों ने सुना जीव-मात्र के जीवन-द्वार पर महाकाल की अस्फुट पदध्वनि।

जन्म जन्मांतर का सात्विक संस्कार जाग्रत हो उठा और मुमुक्षा की प्रबल कामना से उनकी संपूर्ण सत्ता आलोकित हो उठी।

अपनी माता के समक्ष अपने मन की बातें प्रकट करते हुए शंकर

ने कहा – संन्यास ग्रहण करके मैं सद्गुरु की खोज में बाहर जाना चाहता हूँ। मुझे साधन लब्ध ज्ञान शीघ्र ही प्राप्त करना है, ब्रह्म की प्राप्ति करनी है। ऐसा नहीं होने पर इस मानव-जीवन की साथकता ही क्या ? विधाता के विधान से अत्यन्त अल्पायु होकर मैंने जन्म ग्रह किया है। अब तो समय नष्ट करने से काम नहीं चलेगा। जननी को उन्होने कई प्रकार से समझाया कि परम कल्याणकारी संन्यास-व्रत की दीक्षा तो उन्हें लेनी ही होगी।

माता बिशिष्टा के सिर पर यह मानो एक आकस्मिक बज्राघात था ! वैधव्य जीवन का एक मात्र सम्बल या आशा-केन्द्र यह शंकर ही था।

इस वृद्धावस्था में उसे खो कर वह जीवन-धारण कैसे करेगी ? साथ ही, शंकर अपने किशोर तथा कमनीय शरीर से सन्यास—जीवन के कृच्छ-व्रत का साधन कैसे कर सकेगा ? नादान बालक की यह कैसी हृदय-विदारक कथा ! माता हाहाकार कर उठी।

शंकर इस बार संसार-त्याग के लिए स्वयं दृढ़-संकल्प हो गये। किन्तु माता की अनुमति के बिना तो गृहत्याग करना संभव नहीं था। वे इसके लिए उपर्युक्त अवसर की खोज में लग गये। जीवन-विधाता ने शीघ्र ही एक आकस्मिक दुर्घटना के बीच एक दिन इसकी व्यवस्था भी कर दी। यह सुयोग सर्वथा अप्रत्याशित था।

अपनी माता के साथ एक दिन शंकर नदी में स्नान कर रहे हैं। आलोयाई नदी एकदम गहरी नदी है, पर पता नहीं उस दिन उसके जल में कहाँ से एक मगर आ गया था। नितांत अतर्कित भाव से उसने शंकर पर आक्रमण कर दिया। आत्मरक्षा के लिए बालक पानी में भाग-दौड़ करने लगे। मगर भी उनका पीछा करने लगा। यह एक भयावह दृश्य था। विशिष्टा देवी और तट के अन्य स्त्री-पुरुष आर्त्त स्वर से चीत्कार करने लगे।

शंकर सामने के एक छोटे से टीले पर चढ़ गये, परन्तु वह हिंसक मगर उन्हें किसी प्रकार छोड़ने को तैयार नहीं था। वह उस टीले पर भी चढ़ने लगा। जीवन का अन्त निकट मालूम होने लगा।

शंकर ने अपनी माँ को सम्बोधित कर कहा—'माँ! मैं तो मर ही रहा हूँ। पर दुःख है कि मैं संन्यास नहीं ले सका, मुझे मुक्ति नहीं मिल सकी। तुम शीघ्र ही अनुमति दो। मैं अन्त में संन्यास ग्रहण कर भगवान का नाम लेता हुआ मृत्यु का वरण करूँ।

उस समय माता के नेत्रों के समक्ष अन्धकार छा गया। रोते-रोते उसके मुँह से निकल पड़ा—"बेटा, वही हो, वही हो, तुझे संन्यास लेने की अनुमति मैं देती हूँ।" यह कहते-कहते वह मूर्छित होकर नदी के तट पर गिर पड़ीं।

उधर घाट पर लोगों के आर्त्त चीत्कार को सुनकर अनेक साहसी धीवर वहाँ आ उपस्थित हुए। उन लोगों ने अस्त्र-शस्त्र और जाल लेकर उस मगर पर आक्रमण कर दिया। मगर को पकड़ कर मार दिया गया। आहत शंकर भगवान की कृपा से किसी प्रकार बच गये।

इस अंत्य संन्यास की बात उस सत्यानुयायी बालक के मन में सदा के लिए घर किये बिना नहीं रह सकी। परमात्मा के द्वारा प्रदत्त सुयोग के फलस्वरुप ही माता की अनुमति प्राप्त हो सकी थी। अनुष्ठान-पूर्वक तो नहीं पर मन-प्राण से वे सचमुच संन्यासी हो गये। अपनी माँ को उन्होंने दृढ़ भाव से अवगत कर दिया—"संन्यासी के लिए गृहवास निषिद्ध है। वे घर के बाहर वृक्ष के नीचे रात्रि-यापन करेंगे। इतना ही नहीं, दूसरे दिन वे उस वृक्ष के नीचे भी नहीं रह सकेंगे। दूसरे दिन ब्राह्म मुहूर्त्त में सदा के लिए संसार त्याग करेंगे।"

विशिष्टा-देवी अपना सिर पीटकर व्याकुल कंठ से रोने लगीं—"अरे, वह तो केवल मेरे मुँह की बात थी, मन की बात नहीं थी। फिर, तुम्हारे जैसा बालक कठोर संन्यास-जीवन कैसे बिता सकेगा, बोलो तो? शंकर ने उन्हें समझाया, "माँ! तुम मेरी जननी होकर, सच्चे अर्थ में मंगल चाहने वाली होकर, मुझे संकल्प-च्युत कैसे करोगी! क्या मुझे मिथ्याचारी बना कर नरक के मुख में डाल

प्रविष्ट हुई, "वत्स, मैं तुम्हारे प्रति प्रसन्न हूँ। मैं वरदान देता हूँ कि शिव के समान ही एक महाज्ञानी पुत्र तुमको उपलब्ध होगा। दिग्-दिगंत में उसकी जयवार्ता घोषित होगी।" अपने घर वापस आकर शिवगुरु ने अपनी पत्नी से उत्साह-पूर्वक यह कथा कही। पति-पत्नी के आनन्द की सीमा उस दिन नहीं रही।

७८८ ईस्वी की यह कथा है। वैशाख की शुक्ला पंचमी तिथि के दोपहर को अकस्मात् शिवगुरु के घर में आनन्द का कलरव सुनाई पड़ा। घर में एक अद्वितीय सुन्दर पुत्र की उत्पत्ति हुई। नवजात शिशु का नाम शंकर रखा गया।

शैशव काल से ही बालक तीक्ष्ण बुद्धि और असामान्य स्मरण-शक्ति का सिद्ध हुआ। एक बार वह जो कुछ सुन लेता था वह उसके स्मृति-पट पर स्थायी रूप से अंकित हो जाता था। वह मात्र तीन वर्ष की आयु में मलयालम साहित्य के किसी भी ग्रंथ का पाठ कर सकता था। पठित विषय की अनायास आवृत्ति में उसे कोई असुविधा नहीं हुई। इसकी अलौकिक बुद्धि और प्रतिभा को देखकर ग्रामवासियों के आश्चर्य की सीमा नहीं रहती थी। पिता शिवगुरु ने अपने पुत्र की वृत्ति शास्त्रों के अध्ययन में लगाई। उनका यह संकल्प था कि उसे सर्वशास्त्रविद् बना देंगे।

अपने प्रतिभा सम्पन्न पुत्र की उपलब्धियों को देखने का सौभाग्य पिता को प्राप्त नहीं हुआ। थोड़े समय में ही वे इस संसार को छोड़कर चले गये। विशिष्टा देवी के सिर पर जैसे विपत्ति का आसमान टूट पड़ा। वे अपना संसार कैसे चलावेंगी? बालक शंकर का उत्तरदायित्व वे किस प्रकार सँभाल सकेंगी?

आँखों के आँसुओं को रोकर साहस पूर्वक उन्हें धैर्य धारण करना पड़ा। पति की इच्छा थी कि मेधावी पुत्र को शास्त्र-अध्ययन के सभी सुयोग दिये जायँ। वह वंश का मुख उज्ज्वल करेगा। उस इच्छा को अपूर्ण रखने से काम नहीं चल सकता! शंकर के पाँचवें वर्ष में प्रविष्ट होते ही विशिष्टा देवी ने उनका उपनयन किया। शास्त्र-अध्ययन के लिए उन्हें गुरु-गृह भेजा गया।

शंकर मेधावी थे, सौम्य और सुदर्शन भी। अपने शिक्षक के स्नेह लाभ में उन्हें विलंब नहीं लगा। टोल के एक किनारे बैठा कर प्रथम पाठ उसे पहले ही पढ़ा दिया जाता था। निकट ही बैठकर गुरु उच्च श्रेणी के छात्रों को पढ़ाते थे और शास्त्र के अनेक कठिन तत्त्वों की आलोचना प्रतिदिन हुआ करती थी।

पाँच वर्ष के इस बालक ने एक दिन शिक्षक के पढ़ाने के समय अपने विचार को सहसा प्रकट किया। यह बड़ा ही आश्चर्यजनक कार्य था। इस श्रुतिधर (सुनकर ही याद कर लेनेवाला) बालक ने पाठशाला के किनारे बैठकर ही कब इस उच्च शास्त्रतत्त्व को ग्रहण कर लिया था, इसकी खबर किसी को नहीं थी। शिक्षक की आँखें खुल गईं। उन्होंने समझा कि ईश्वर-प्रदत्त महान् प्रतिभा को लेकर इस बालक ने जन्म ग्रहण किया है। एक विराट् संभावना का बीज इसके भीतर वर्तमान है।

उसी दिन से शंकर के लिए उच्चतर अध्ययन का कार्यक्रम निश्चित किया गया। दो वर्षों के लगातार अध्ययन के परिणामस्वरूप उन्होंने समस्त पाठों को पढ़ लिया। वेद, वेदांत, स्मृति, पुराण प्रभृति शास्त्रों में पारंगत होकर वे अपने घर वापस आये। उस समय उनकी उम्र मात्र सात वर्ष की थी।

योग्य पुत्र ने भक्तिभाव से अपनी माता के चरणों में साष्टांग प्रणाम किया। विशिष्टा देवी के लिए वह बहुत आनन्द का दिन था। उनका पुत्र इसी उम्र में सभी शास्त्रों में पारंगत होकर घर वापस आया था। विद्वता और लोकोत्तर प्रतिभा के कारण उस अंचल में उन दिनों उनकी ख्याति सर्वत्र परिव्याप्त हो गई।

साश्रुनयन माता ने कहा, "वत्स ! आज पुत्र-गर्व से मेरा अंतर प्रफुल्ल है। तुमने अपने पिता का मुख उज्ज्वल किया है। उनकी उस दिन की आशा-आकांक्षा आज तुम्हारे माध्यम से सफल हो गई है।"

शंकर ने निवेदन किया, "माँ, मैंने ठीक ही किया है। आज से

में यहीं रहकर अध्ययन करूँगा और तुम्हारी चरण-सेवा में समय बिताऊँगा। आशीर्वचन दो कि मैं इस कार्य में सफल हो सकूँ।"

अपने पुत्र को अंक में भरकर माँ ने बारबार आशीर्वाद दिया। नयनों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित हो रही थी। शंकर ने शीघ्र ही एक पाठशाला स्थापित कर ली। बालक शिक्षक के इस शिक्षा केंद्र के प्रति आसपास के लोगों में बड़ा कौतूहल था। इस नवीन जीवन-मार्ग में बाधाएँ भी कम नहीं आईं। स्थानीय पण्डित शंकर को कार्य करने देना नहीं चाहते थे। कम उम्र का अनभिज्ञ बालक भला शास्त्रों का अध्ययन क्या कर सकेगा? परन्तु अलौकिक शक्तिधर इस बालक-अध्यापक के समक्ष श्रुति-स्मृति के बड़े-बड़े जानकर पंडित मस्तक झुकाने को विवश थे। शास्त्रज्ञान के विराट् जन्म-सिद्ध अधिकार को लेकर शंकर उत्पन्न हुए थे। उनकी स्मरण शक्ति अलौकिक थी। बुद्धिमत्ता और तर्कप्रतिभा अद्भुत थो और थी, शास्त्र के मर्म को उद्घाटित करने को आश्चर्यमयी शक्ति।

युगाचार्य की भूमिका को ग्रहण करने की प्रेरणा से शंकर का आविर्भाव हुआ था और वह भी बालक के रूप में जो स्वतः एक व्यतिक्रम-सा था। ये बाल अरुण नहीं, अपितु मध्याह्न के तीक्ष्ण किरणोंवाले सूर्य थे।

बालक शंकर के निकट प्रवीण पंडित और अध्यापक थोड़ी ही देर में अपनी हार स्वीकार कर लेते थे। उनके विद्यालय में अनेक छात्रों का प्रवेश प्रारंभ हो गया।

अपनी माता के प्रति शंकर के मन में असीम श्रद्धा थी। दैनिक पूजा, अर्चना और अध्यापन-कार्य के पश्चात् वे अपना अधिकतर समय अपनी माता की सेवा में व्यतीत करते थे। इस समय उनका सम्पूर्ण जीवन अपनी वृद्धा माता के चतुर्दिक् केंद्रित था। मातृ-भक्ति के भावावेग में शंकर द्वारा एक दिन एक अलौकिक घटना घटित हो गई।

विशिष्टा देवी उस दिन कुल-देवता केशव की पूजा के प्रसंग में बाहर गई थीं। गाँव से कुछ ही दूर पर पवित्र आलोयाई नदी है।

वहाँ स्नान समाप्त कर उन्हें पूजा के लिए मंदिर में जाना था। वृद्धावस्था के कारण शरीर पूर्णतः जर्जर था। पूजा के सामान को लेकर वे धीरे-धीरे मंदिर की ओर अग्रसर हुईं।

संध्या का समय हो चला था। माता बहुत सबेरे हो बाहर गई थीं और अभीतक वापस नहीं आ सकी थीं। शंकर बहुत उद्विग्न हो उठे। तीव्र गति से मंदिर की ओर जाकर उन्होंने देखा, माता मूर्च्छित होकर रास्ते में पड़ी हैं। वृद्धावस्था में पथ में चलने का श्रम वे सहन नहीं कर सकीं। चारों ओर लोगों की भीड़ जमा हो गई थी।

बहुत देर तक सेवा-शुश्रूषा के बाद विशिष्टा देवी की चेतना लौटी। उन्होंने किसी प्रकार आँख खोल कर देखा। माता धूलि-शय्या पर पड़ी थी, रास्ते की मेहनत से मृततुल्य। शंकर अपनी आँखों से आँसू की धारा रोक नहीं सके।

शुद्ध, पाप-रहित, मातृ भक्त बालक के सम्पूर्ण अंतर को मथित-कर उस दिन एक प्रार्थना की वाणी प्रकट हुई— 'भगवन्! मेरी माता वृद्धा हो गई है। राह के श्रम से जो कठिन यातना उसे हो रही है वह मेरे लिये असह्य है। कृपा करके आलोयाई की धारा को थोड़ा इधर मोड़ दो। हे प्रभो! सांसारिक जीवन-सम्बन्धी कोई प्रार्थना मैंने आपसे नहीं की है। यही विनती है कि मेरी पुजारिन माता के स्नान करने के घाट को और निकट कर दो।"

उस दिन परमात्मा ने सत्यानुरागी निष्कलुष ब्रह्मचारी बालक की प्रार्थना को सुन लिया। तट-भूमि को काटती-काटती आलोयाई नदी शीघ्र ही शंकर के घर के सामने आकर उपस्थित हो गई! जनता के मन में बालक अध्यापक शंकर का एक नया विशिष्ट रूप उपस्थित हुआ। यह तथ्य उस दिन सर्वत्र प्रचारित हो गया कि शंकर अलौकिक प्रतिभावान् होने के साथ-साथ अलौकिक शक्ति-शाली भी हैं।

समय-क्रम से शंकर की प्रतिभा और शक्ति की अनेक कहानियाँ केरलराज चन्द्रशेखर के कानों में पड़ी। बालक की दैवी विद्वत्ता की

दोगी ? मगर के आक्रमण करने पर निश्चित मृत्यु के हाथ से मुझे किसने बचाया ? जरा यह भी तो सोचो ! भगवान को छोड़ अन्य कौन ऐसा कृपामय और सर्वशक्तिमान है ? उसी भगवान के हाथ तुम अपने पुत्र को आज समर्पित कर दो माँ !"

इस बालक में संसार के प्रति यह आश्चर्यजनक वितृष्णा कैसो ? अपने पुत्र के संकल्प की दृढ़ता को देखकर माँ ने समझा, इसको अब किसी प्रकार घर में रखा नही जा सकता। अनेक प्रकार से समझाने - बुझाने और अनेक ज्ञान गर्भित शास्त्र-वाक्यों को सुनाने के बाद शंकर ने अपनी माँ को मौन तो किया, किन्तु असहाया वृद्धा के हृदय की पार्श्व-अस्थि ही जैसे टूट गई। बालक शंकर के बिना अपने अस्तित्व की बात वह सोच भी नहीं सकती थो।

आँखों में आसू भर कर जननी बार-बार दुःख प्रगट करने लगी- "अरे बोलो, देखो, इस वृद्धावस्था में मेरा भोजन अब कैसे चलेगा ? पारलौकिक मुक्ति का उपाय भी कहाँ ? इसे जरा सोचकर देखो ! अंतिम साँस छोड़ने के समय पुत्र के सामीप्य का भरोसा भी अब नहीं रहा।"

माता को आश्वस्त कर शंकर सर्वप्रथम पुत्र के प्राथमिक कर्त्तव्य का पालन करने के लिए अग्रसर हुए। अपने सम्बधियों को बुलाकर कहा—हमारी जमीन का जो टुकड़ा है वह मैं आप लोगों को दान करता हूँ। परंतु आप लोग मुझको वचन दें कि इसके बदले मेरी माता के भरण-पोषण का भार आप लोग ग्रहण करेंगे। सबों ने सोत्साह ऐसा वचन दिया। शंकर के हृदय का एक गुरुतर भार उतर गया। मुमुक्षु बालक के आत्म-विश्वास की जैसे कोई सीमा नहीं। माता को समझाकर उन्होंने कहा —"हे माँ ? तुम्हारे आशीर्वाद से मेरी साधना सफल होगी। तुम्हें वचन देता हूँ, मैं जहाँ कहीं भी रहूँगा, तुम्हारी अंतिम बेला में तुम्हारे चरण के पास उपस्थित हो जाऊँगा। तुम इष्ट-दर्शन कर परमान्द के साथ परलोक में जाओगी, इसके अतिरिक्त, मैं तुम्हारी पारलौकिक क्रिया में कोई बाधा उत्पन्न होने नहीं दूंगा।

जिस साधना और सिद्धि के बलपर शंकर यह करना चाह रहें है, जननी के आशीर्वाद के बिना वह कैसे संभव हो सकता है ? मुमुक्षु बालक पुत्र के हाथ जोड़कर कातर निवेदन करने पर कल्याण-मयी मातृ शक्ति उस दिन उद्बुद्ध हो उठी। शंकर के पूर्व जन्म की कथा, शिवगुरु को प्राप्त दैवादेश की कथा याद आ गई। दैवज्ञ ब्राह्मणों की गणना और युगाचार्य के रुप में शंकर के अभ्युदय की भविष्य-वाणी का संकेत भी उन्हें विस्मृत नहीं हुआ था। जननी ने इस वार आशीर्वाद दे दिया।

शंकर के संन्यास-ग्रहण का समस्त प्रबंध दूसरे दिन प्रातःकाल माता ने शान्त भाव से स्वयं ही संपन्न कर दिया। इस अद्भुत दृश्य को देखकर कलाडि ग्राम के नर-नारी उस दिन आश्चर्य-चकित हुए बिना नहीं रहे। सभी शास्त्रों में निपुण शंकर ने नैष्टिक भाव से स्वयं ही आत्म श्रद्धा और विरजा हवन को सम्पन्न कर लिया। उसके बाद मुंडित-मस्तक संन्यासी बालक ने उत्तर दिशा में पवित्र नर्मदा की ओर अपने पाँव बढाये।

यात्रा करते-करते शंकर उस दिन तुंगभद्रा नदी के तटपर कदम्ब बन नामक अरण्य में पहुँचे। दो पहर के समय एक वृक्ष के नीचे बैठकर वे विश्राम करने लगे। उसी समय सहसा एक अद्भुत दृश्य देखकर वे चमत्कृत हो उठे। मेढ़क के अनेक बच्चे नदी के जल से कूदकर तटस्थ एक बड़ी शिला पर चढ़ गये। किंतु कड़ी धूप असह्य हो रही थी। अधिक समय तक ठहरने का कोई उपाय नहीं था। अब पानी के भीतर प्रवेश करना आवश्यक हो गया। इसी समय एक आश्चर्यजनक घटना दीख पड़ी। एक वृहदाकार साँप अपना फन फैलाकर धीरे-धीरे वहाँ आ उपस्थित हुआ। निकट आकर उसने स्नेहपूर्वक मेढ़क-शावकों को छाया दी। स्वभाव से ही एक दूसरे के शत्रु सर्प और मेढ़क के पारस्परिक सम्बंध एवं आचरण में यह कैसा अविश्वसनीय व्यतिक्रम? विस्मित होने पर भी शंकर को इसे समझने में विलम्ब नहीं लगा कि यह पवित्र स्थान अपरिमेय तपः शक्ति से ओत प्रोत-हो रहा है। हिंसक साँप के स्वभाव में यह

परिवर्त्तन और मेढ़क के प्रति इस वात्सल्य रस का उद्रेक इसी कारण से हुआ है। शंकर यह खोजने निकल पड़े कि वह तपस्वी कौन हैं, जिसकी तपःशक्ति ऐसे अलौकिक व्यापार को घटाने में समर्थ हुई।

निकट ही पहाड़ पर एक साधु की पर्ण-कुटी थी! उसको लक्ष्य कर वे धीरे धीरे ऊपर गये। एक वृद्ध तपस्वी वहाँ ध्यान मग्न थे! शंकर ने उसके निकट जा कर सुना—यहीं प्राचीन काल के महामुनि ऋष्यश्रृंग का आश्रम था। उन्होंने अब समझा कि इस अंचल के सर्प ने क्यों अपनी सहज खलता का परित्याग किया था।

तपस्या से पवित्र इस वन-प्रदेश के मनोरम वातावरण में एकांत तपस्या के योग्य एक आश्रम के निर्माण की इच्छा बालक शंकर के मन में जाग्रत हुई। इसी इच्छा के बीज ने पीछे चलकर अपना विकास श्रृंगेरीमठ के रुप में किया।

कदंबगिरि से नीचे उतरने पर उनकी यात्रा आगे प्रारंभ हुई! प्रायः दो महीने तक अविराम यात्रा ने बाद उन्होने प्रसिद्ध माहिष्मती नगर पार किया। उसके बाद ओंकारनाथ के द्वीप-शैल पर आकर उपनीत हुए। इसी पर्वत की गुफा के महायोगी गोविंदपाद के आश्रम का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ। इसी अध्यात्म-स्पर्शमणि ने केरल के इस बालक-संन्यासी को रूपांतरित कर युगाचार्य की भूमिका के रुप में उसको उपस्थित किया। समाधि में रत योगी गोविंदपाद ने जिन शिष्यों को आश्रय दिया, शंकर उनके बीच अग्रगण्य थे। जन्म-जन्मान्तर की सचित अध्यात्म-विभूति लेकर यह बालक आविर्भूत हुआ था। वैराग्य, त्याग-तितिक्षा और साधन-निष्ठा की दृष्टि से भी उसकी असाधारणता अस्वीकृत नहीं की जा सकती थी। महा शक्तिमान गुरु की कृपा को धारण करने की शक्ति लेकर ही ये यहाँ उपस्थित हुए थे।

तीन वर्षों के भीतर शंकर ने असामान्य योग-सिद्धि और तत्व-ज्ञान प्राप्त किए। गुरु-प्रदत्त साधना इस बालक के जीवन में अनुरूप महिमा के साथ पुष्पित और फलित हो उठी। वयस्क सह-साधकों

से यह छिपा नहीं रहा कि बालक की अलौकिक प्रतिभा अ र शक्ति के पीछे किसी परमात्म-लीला-नाटक का गूढ़ संकेत है। मान्य युगाचार्य के रुप में शीघ्र ही इसके प्रकाशित होने में अब विलंब नहीं है।

गुरु गोविंदपाद को उपलक्ष बनाकर उस समय शंकर की योग विभूति की एक चमत्कारपूर्ण लीला एक दिन प्रकाशित हुई।

वर्षा ऋतु थी, कई दिनों से लगातार वर्षा हो रही थी दोनों किनारों को नष्ट कर बढ़ी हुई नर्मदा मे एक दिन प्रलयंकर रुप धारण कर लिया। ओंकारनाथ पर्वत से उसका विपुल जल स्रोत टकरा-टकरा कर ऊपर उठ रहा था।

महायोगी गोविंदपाद कई दिनों से पहाड़ की गुफा में समाधि-मग्न थे। शिष्य लोग बहुत शंकित हो उठे। वे समझने लगे कि गुफा में आसीन गुरु का जीवन संकटापन्न हो गया है। शिष्यों के मुख सूख गये। विपत्ति कितनी भो बड़ी क्यों न हो गुरुदेव को पुकार कर उनकी समाधि के भंग का प्रश्न ही नहीं उठता था। अब इस बाढ़ के वेग को रोके तो कौन?

शक्तिधर शंकर स्थिरतापूर्वक आगे आये। सब को बुलाकर दृढ़ कंठ से बोले, "आपलोग क्यों व्यर्थ उद्विग्न हो रहे हैं? प्रकृति का कोई कोप समाधिमग्न गुरुदेव का अनिष्ट नहीं कर सकता है। आत्म-भोला महायोगी के शाथ सहयोगिता किये बिना प्रकृति के लिए कोई उपाय नहीं है। फिर उनके आशीर्वाद से इस बाढ़ की गति को रोकने में मैं भी समर्थ हूँ।"

शंकर ने एक मिट्टी के घड़े को झुकाकर गुफा के द्वार पर रख दिया। इधर बाढ़ का पानी केवल बढ़ ही रहा था। किन्तु सब ने आश्चर्य के साथ देखा कि बढ़ता हुआ बाढ़ का जल उस मिट्टी के घड़े में घुस कर क्षणमात्र में पता नहीं कहाँ लुप्त होता जा रहा था। इस अलौकिक दृश्य को देखकर गोविंदपाद के शिष्यगण समवेत स्वर में उस बालक को धन्यवाद देने लगे।

समाधि-भंग होने के बाद महायोगी ने पूरी कथा सुनी। प्रसन्न

मधुर कंठ से शंकर से बोले.—'वत्स ! मेरे आशीर्वाद से तुम पूर्णकाम हो गये। ब्रह्मविद्या तुम्हें प्राप्त हो गई। सभी शास्त्रों का तत्त्व जैसे तुम्हारे अतःकरण में स्फुटित हुआ है वैसे ही सभी ज्ञान एवं सभी योग-विभूतियाँ तुम्हें प्राप्त हो गई हैं। मेरे समक्ष और कोई प्रार्थना हो तो कहो !

श्रद्धाभाव से प्रणाम कर शंकर ने निवेदन किया—"प्रभु ! आपकी कृपा से मेरे सभी अभाव दूर हो गये हैं। मुझे आज और कोई प्रार्थना नहीं करनी है। अगर आप कृपा कर अनुमति दें तो समाधि-मग्न हो जीव-देह का परित्याग करना चाहता हूँ। ब्रह्म-सागर में विलीन हो जाना चाहता हूँ।"

योगी गोविंदपाद स्वामी धीर गंभीर कंठ से कहने लगे "वत्स, देह विसर्जन का समय अभी नहीं आया है। परमात्मा के निर्देश से युग के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए तुम आये हो। वह कार्य तो अभी समाप्त नहीं हुआ है। अद्वैत वेदान्त ज्ञान को नये रूप से तुझे प्रचारित करना है। लुप्त तीर्थों के उद्धार का भार भी लेना होगा। सन्यासियों के भीतर अनेक दुराचार घुस गये हैं उनका संस्कार-साधन कर इस देश के अध्यात्म-जीवन को पुनर्गठित किये बिना काम नहीं चलेगा। इसके अलावे जन-समाज आज ईश्वर से विमुख है। तुम्हारे द्वारा अद्वैत ज्ञान के प्रकाश को प्रकाशित करने की आकांक्षा की अपेक्षा मैं बहुत दिनों से कर रहा था। मेरा वह काम आज समाप्त हो रहा है। इसीसे इस शरीर का प्रयोजन भी अब समाप्त है। इस बार काशी धाम जा कर तुम श्री विश्वेश्वर से आदेश प्राप्त करो और अपने निदिष्ट काम का उद्यापन करो।

एक एक कर प्रिय शिष्यों से बिदाई लेकर गोविंदपाद स्वामी समाधि-मग्न हो गये। इस समाधि से वे पुनः उठे नहीं। यही उनकी अंतिम समाधि थी। महायोगी के प्राण-वायु के ब्रह्मरंध्र मार्ग से बाहर निकलने के साथ ही दाक्षिणात्य-अध्यात्म गगन की उज्जवलतम ज्योति-रेखा समाप्त हो गई।

गुरुदेव के आदेश से शंकर काशीधाम में उपस्थित हुए। उन

दिनों काशी भारत के अध्यात्म-कर्म का केंद्र था। दंडी, संन्यासी, शास्त्रज्ञ ब्राह्मण और परिव्राजकों का यहाँ अहर्निश आना-जाना लगा रहता था। मंत्र-पाठ, शास्त्र व्याख्या और स्तव-गुंजन से इस नगरी के पथ और घाट सदा गुंजित रहते थे। जिस किसी धार्मिक मत का प्रचार या जिस किसी शास्त्र की नयी व्याख्या-धारा प्रवाहित होती थीं, उन सभी का काशी की ओर अग्रसर होना आवश्यक था। इसीलिए शंकर ने अपने कर्म केंद्र की स्थापना सर्वप्रथम यहाँ पर की।

मणिकर्णिका घाट के पास अपने अनुयायियों के साथ उन्होंने अपना आसन जमाया। तेज पुंज-कलेवर इस बालक-संन्यासी के चतुर्दिक् लोगों के कौतूहल की सीमा नहीं रही। उनके द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद ने काशी के जन-जीवन में एक प्रचण्ड आंदोलनों की सृष्टि कर दी।

इस बालक आचार्य के चारों ओर बहुत से प्रवीण दंडी संन्यासी और शास्त्रविद् उन दिनों एकत्र हो गये। उन्होंने अतुलनीय विक्रम से प्रतिपक्षी के मतों का खंडन कर अद्वैत-सिद्धांत की स्थापना की। शास्त्र विचार की रणभूमि में वे एक प्रतिद्वन्द्वी विहीन योद्धा थे। वे मुमुक्षु साधना-प्रार्थी नर नारियों के समक्ष परित्राता के रूप में आत्म-प्रकाश करने लगे। उनके दर्शन और उपदेश से संसार का मोह-बंधन अविलंब शिथिल हो जाता था। सचमुच अद्भुत बालक थे वे, इसीसे उनके लोकोत्तर ज्ञान और योग से अलंकृत ऐश्वर्य से वाराणसी के नर-नारीगण प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके।

इसी समय चोल देश का एक युवक ब्राह्मण उनके दर्शन को आया। दर्शन के साथ ही आत्म-समर्पण में उसे जरा भी देर न लगी।

शास्त्र विद्या में इस ब्राह्मण की असाधारण पारदर्शिता थी। नैष्टिक ब्रह्मचारी के रूप में प्रथम जीवन में वे साधना व्रती थे। उसके पश्चात् वैराग्य के प्रभाव ने उन्हें घर के घेरे के बाहर निकाला। इतने दिनों के बाद उन्होंने महासाधक शंकर में अपना परम आश्रय पा लिया। यही युवक आचार्य के सर्व प्रथम दीक्षित संन्यासी शिष्य सनंदन हैं जो पीछे चलकर योग--विभूति में प्रख्यात मनीषी पद्मपाद कहलाये।

शंकर गोविन्दपाद स्वामी की मानस संतान थे। निर्विशेष परब्रह्म-तत्व का प्रचार अब एकान्त निष्टा के साथ उन्हें करना ही होगा। आचार्य गोविन्दपाद का आदेश उन्हें मिल चुका था। योगीगुरु ने उनके भीतर शक्ति का संचार भी कर ही दिया था। शंकर बिचार कर रहे थे कि वे किस प्रकार उस कार्य का प्रारम्भ करेंगे। उनके परम गुरु आचार्य गौड़पाद अद्वैतवाद के एक उत्स-स्वरुप थे--शंकर ने इसीसे उनकी मांडुक्य कारिका के भाष्य की ही रचना पहले की-उनको मर्यादा दी। शंकर के सर्वश्रेष्ठ शिष्य आचार्य सुरेश्वर (मण्डन मिश्र) ने पीछे चलकर इसी गौड़पाद स्वामी को गौड़ देश का आचार्य कह कर अभिहित किया था।

अद्वैतवाद की धारा भारतवर्ष में उन दिनों बहुत क्षीण हो गई थी। गुरु की आज्ञा शंकर को हुई कि अद्वैतवाद को पुनरुज्जीवित कर आगे बढ़ाना होगा, दिग्देशों में इस मतवाद के विस्तार का साधन करना होगा। इस महाव्रत के उद्यापन के लिए वे शीघ्र ही व्रती हुए। अपूर्व उद्दीपन भाव में उन्होंने सिद्धान्त-स्थापन और अद्वैत-व्याख्यान के कार्य प्रारम्भ किये।

शंकर प्रचार करने निकले। ब्रह्म ही एक मात्र सत्य वस्तु है। यह जगत पूर्णतः मिथ्या, स्वप्न की तरह असत्य है। जीव अपने वास्तविक रुप में ब्रह्म है, कोई दूसरा नहीं है।

अद्वैतवाद की इस व्याख्या को चरम रूप में उपस्थित कर उन्होंने घोषणा की निर्गुण, निर्विशेष इस ब्रह्म में शक्ति का भी कोई स्थान नहीं है। और यह निर्विशेष ब्रह्म ही एक मात्र परमार्थ तत्व है जिसे मनुष्यों को जानना है, जिसकी उपलब्धि करनी है।

तरुण आचार्य के अतिमानुषिक ज्ञान और उनकी योगविभूति की कथा को सुनकर दल के दल लोग उनके उपदेश को ग्रहण करने आने लगे। पंडित और मुर्ख, साधक और विषयी सभी उपस्थित होते थे। किन्तु उनके अद्वैतवाद की इस चरम व्याख्या को समझने की सामर्थ्य कितनों में थी? निर्विशेष ब्रह्म की धारणा साधारण

मनुष्यों द्वारा संभव हो कैसे होती ? प्रकृत अधिकारी पुरुष कौन–किसके भीतर इस तत्व का स्फुरण होगा, यह बात शंकर उस समय अपने उद्दीपन की अवस्था में भूल मे गये। काशी की अधिष्ठात्री देवी अन्नपूर्णा के सामने सहायता के लिए वे नतमस्तक हुए।

शंकर एक दिन स्नान करके मणिकर्णिका घाट जा रहे थे, कुछ दूर जाने पर देखा, एक सद्यःविधवा युवती अपने मृत पति के शव को गोद में रखकर रो रही थी। रास्ते से चलना कठिन था। उसके मुख को रोक कर वह बैठी थी। शव की अन्त्येष्ठि क्रिया-योग्य आवश्यक धन उसके पास नहीं था। इसीसे बीच-बीच में राह के यात्रियों से धन के लिए भिक्षा भी माँग रही थी।

रास्ता पार करने का उपाय नहीं था। शंकर ने हाथ जोड़कर कहा, "माँ, शव को तिरछा न रख कर सीधा रख दो। ऐसा होने से हमलोग अपने काम से आगे जा सकते हैं।"

किन्तु किसी की बात सुने कौन ? शोकाकुल रमणी रोती चली जा रही थी। हटने का नाम तक नहीं। शंकर अपने शिष्यों के साथ बड़ी विपत्ति में फस गये। आगे बढ़ने की राह ही नहीं थी। बार-बार उससे विनती करने लगे।

स्त्री ने हठात् कहा –"संन्यासी बगल होने या खसकने का यदि अनुरोध उपरोध करना है तो अच्छा है कि इसी शव से करें। यदि इसकी इच्छा होगी तो शव एक ओर सरक जायगा।"

यह कैसी अद्‌भुत बात ? पतिशोक से क्या स्त्री का मस्तिष्क एकदम विकृत हो गया है ?

करुणार्द्र कण्ठ से शंकर ने कहा, "माँ, किसी के कहने से क्या कभी ऐसा होगा ? शव कैसे स्थान-परिवर्तन करेगा ?"

रोना बन्दकर उसने दृढ़ स्वर में कहना प्रारम्भ किया— "आचार्यवर ! 'शक्ति-शून्य ब्रह्म जगत कर्त्ता हैं ? यह सिद्धान्त आप सब जगह सब के सामने स्थापित करते रहते हैं। तब यह निष्प्राण शक्ति–हीन शव अपने को हटा क्यों नहीं सकता ?

इतना कहने के साथ ही रमणी शव के साथ क्षणभर में गायब हो गई। यह अलौकिक दृश्य कैसा! यह घटना किस छिपे रहस्य को आज शंकर के सामने उद्घाटित करना चाह रही है?

ध्यान लगाकर आचार्य शंकर ने समझा, यह माँ अन्नपूर्णा की लीला थी। उन्होंने समझाया है कि साधारण अधिकारी के सामने सगुण-ब्रह्म-तत्व का उपदेश ही लाभप्रद है। शक्ति युक्त ब्रह्म की कल्पना ही उनलोगों के लिए सहज भाव से ग्राह्य हो सकती है। निर्विशेष परब्रह्म का तत्व तो उन्हीं इने-गिने साधकों के लिए है जो उच्चतर ज्ञानलाभ की साधना करते हैं।

और एक दिन की बात शंकर स्नान-घाट की ओर चले, पीछे उनके भक्तों और शिष्यों का दल था। मणिकर्णिका के पथ में आगे एक भीमकाय चाण्डाल आ उपस्थित हुआ। उसके साथ ही कई बड़े विकराल कुत्ते थे।

यह कौन अन्त्यज चाण्डाल! यह तो नारकीय गंधमय श्मशान की गन्दगी का स्पर्श कर निकला है। तर्पण-कार्य में उसके स्पर्श से बचने के लिए शंकर उससे कुछ दूर हो गये। वे बोले? "अरे, जरा उधर खसक जाओ भाई।"

वह अट्टहास कर उठा। उसके कण्ठ से ज्ञानगर्भित चमत्कारपूर्ण श्लोक धाराप्रवाह विनिर्गत होने लगे।

विस्मय से मौन शंकर और उनके साथियों ने जो श्लोक सुने उनका मर्म था: "आचार्य, आप किसे हटने को कह रहे हैं? मेरी आत्मा को या इस देह को? आत्मा तो सर्वव्यापी, निष्क्रिय और निष्कलुष है, वह हटकर कहाँ जायगी? और जायगी भी कैसे? उसके लिए पवित्रता या अपवित्रता कैसी? गंगा के जल में चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता है और शराब के पात्र में भी उसका प्रतिबिम्ब देखा जाता है। इन दोनों में क्या अन्तर है, बता सकते हो? और यदि अपने आत्मा को न कहकर शरीर को ही हटने को कहा है तो क्या यह उसका पालन करेगा? वह तो जड़ है। संन्यासी आचार्य के रूप में, आत्मज्ञान के नामी उपदेष्टा के रूप में, मैं देखता हूँ कि, आप लोगों को धोखा ही देते हैं।"

यह कैसा आश्चर्यजनक व्यापार ? उनके सामने छद्म रूप में यह चाण्डाल कौन है ? क्षणभर में शंकर के नेत्रों के सामने देवाधिदेव महेश्वर की चिन्मय मूर्त्ति उद्भासित हो उठी। उन्हें उपलब्धि के रूप में ज्ञात हुआ ठीक ही तो, गुरु के आदेश से युगाचार्य की महान भूमिका में आज वे अवतीर्ण हुए। संस्कार जन्य थोड़ी भी अपवित्रता अपने भीतर रखने से काम कैसे चलेगा ? चाण्डाल के छद्म वेश में तो स्वयं महेश्वर उनके सामने उपस्थित हुए। ज्ञान के अंजन की शलाका द्वारा उन्होंने आँखें खोल दी हैं।

रजत-गिरि के समान-प्रज्ञानघन-मूर्त्ति आज उनके सामने खड़ी है। प्रसन्न-मधुर कण्ठ से उन्होंने कहा—"वत्स ! सभी संस्कारों से ऊपर उठकर इसबार तुम प्रकृति अद्वैत तत्व के धारणकर्त्ता और वाहक बनो। तुम्हारे कार्य से मैं सन्तुष्ट हूँ। इसबार जगत के कल्याण के लिए तुम अद्वैतज्ञान प्रसार में अग्रसर होओ, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र के भाष्य की रचना तुम करो ! वैदिक ज्ञान की अवरुद्ध धारा को चारों ओर फैला दो। पूर्वाचार्यों के द्वारा प्रचारित अद्वैत तत्त्व में तुम्हारे द्वारा नवीन प्राणों की शक्ति का संचार हो।"

देवाधिदेव विश्वेश्वर का आदेश मिल चुका है। आचार्य शंकर ने निश्चय किया कि हिमालय की गोद में व्यासादि की तपस्या से पवित्र भूमि पर आसन जमाकर वे इन सभी ग्रन्थों की रचना करेंगे। सनन्दन तथा अन्य कई घनिष्ठ शिष्यों के साथ वे हृषीकेश पहुँचे।

पौराणिक काल की पवित्र यज्ञभूमि हृषीकेश। यज्ञेश्वर श्रीविष्णु के विग्रह की बहुत दिनों से यहाँ पूजा होती रही है ! एक समय चीन देश के डाकुओं के आक्रमण से पंडे भयत्रस्त हो गये और विग्रह को गंगा के जल में छिपा दिया। बहुत दिनों तक उसका कोई पता नहीं चला। इस खोये हुए विग्रह को खोजने का व्रत शंकर ने लिया। एक दिन ध्यानाविष्ट अवस्था में उन्होंने जल के भीतर निर्दिष्ट स्थान की बात बताई। बाद में उसकी प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न हुआ।

बदरीधाम की अवस्था भी ऐसी ही है। सीमा की दूसरी ओर से दस्यु लोग बीच-बीच में आक्रमण कर लूटपाट करके सुविधा के अनुसार वापस चले जाते थे। विग्रह की पवित्रता बचाये रखना और तोड़-फोड़ से उसकी रक्षा करना बड़ा कठिन काम हो गया। शीघ्रता से उसे निकट के जल-कुंड में छिपा दिया गया। शंकर ने देखा, पहले की नयनाभिराम मूर्त्ति के बदले आजकल शालग्राम शिला की ही अर्चना चल रही है।

सबों को बुलाकर उन्होंने कहा, "श्रीनारायण की पुरानी मूर्त्ति को जलगर्भ से निकालने का मैंने संकल्प लिया है। आपलोग बिना विलंब किये विग्रह की प्रतिष्ठा और अभिषेक का आयोजन करें।"

पंडों और स्थानीय लोगों के भय और विस्मय की सीमा नहीं रही। सभी जानते थे—उस कूंड के तल-प्रदेश के साथ पार्वत्य नदी अलकनंदा का संयोग था। यहाँ डुबकी लगाकर अनेक ने अपने प्राण गँवाये हैं। तरुण आचार्य इस विपत्ति के मुख में क्यों पैर बढ़ाना चाहते हैं! मना करने से लाभ ही क्या? शंकर किसी भी प्रकार अपने संकल्प को नहीं छोड़ेंगे।

भावाविष्ट भाव से धीरे धीरे पैर रखते हुए आचार्य ने एक दिन कुंड में प्रवेश किया पद्मासनयुक्त, चतुर्भुज अद्भुत-मूर्त्ति लेकर जब वे ऊपर उठ आये, सबों के आनन्द की सीमा नहीं रही। चारों दिशाओं को प्रकंपित करती हुई जयध्वनि उठी—"बदरी विशाल लाला की जय!"

इसके बाद आचार्य अपने दलबल के साथ व्यास-तीर्थ पधारे। अलकनन्दा गंगा और केशव के संगम-स्थान से ऊपर हिमवत की गोद में महाव्यास की प्राचीन आश्रम गुफा है। एक अद्भुत दिव्यभाव के स्पंदन से इस स्थान के आकाश और वायु-मंडल परिपूर्ण हैं, चारों ओर अपूर्व ध्यान-गंभीर परिवेश है। इस एकांत पहाड़ी गुफा में अवस्थित होकर आचार्य शंकर अपने गुरु द्वारा निर्दिष्ट कार्यों के सम्पादन व्रती हुए।

चार वर्षों के श्रम-फल के रूप में इस पहाड़ी गुफा में रहकर

इन्होंने १६ शास्त्र-ग्रन्थों के महाभाष्य लिखे। अलौकिक प्रतिभा की दीप्ति और अद्वैत तत्त्व के निर्णय की दृष्टि से वे आज भी विश्वमानव के ज्ञान-भांडार में अक्षय सम्पद के रूप में वर्त्तमान हैं।

शंकर के द्वारा लिखे गये ब्रह्मसूत्र, द्वादश उपनिषद, भगवद्गीता, आदि के भाष्य, विष्णुसहस्रनाम और सनत्सुजातीय ग्रंथादि सबों में आश्चर्यजनक चमत्कार का योग देखा जाता है। अद्वैतवाद की नवीनतम व्याख्या से भारत के साधक और पंडित आंदोलित हो उठे।

प्रारम्भ किये गये इस कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने का सुयोग भी अप्रत्याशित रूप से उन्हें प्राप्त हुआ। शंकर की अलौकिक शक्ति और प्रतिभा को देख कर ज्योतिर्धाम के राजा ने उनके चरणों का आश्रय ग्रहण किया। इस राज-शिष्य की सहायता से उनके सभी ग्रन्थों की प्रतिलिपि सर्वत्र प्रचारित होने लगी। केवल इतना ही नहीं, बहुत से लुप्त तीर्थों के उद्धार और अद्वैतवाद के प्रचार के साथ ही उत्तरापथ के बौद्ध और तांत्रिक प्रधान अंचल में वेदाचार अब धीरे-धीरे प्रतिष्ठित होने लगा। जिज्ञासु साधक, संन्यासी और शास्त्रज्ञाताओं का दल शंकर के व्यासगुफावाले आश्रम में भीड़ लगाने लगा।

आचार्य जानते थे, कि उन्होंने नितांत अल्पायु लेकर जन्म लिया था। अपने इसी अल्प-कालिक जीवन में उन्हें एक विराट कार्य का सम्पादन करना होगा। इसीलिए शिष्यों के बीच ज्ञान और शक्ति-संचार का कार्य निर्वाध गति से चलाना था। आश्रित जनों में कई उनकी कृपा से शीघ्र ही योग-सिद्धि और शास्त्रज्ञान प्राप्त कर धन्य हो गये।

शिष्यों के बीच सनन्दन शंकर को बड़े प्रिय थे। योग-सामर्थ्य और शास्त्र-ज्ञान की दृष्टि से भी उनकी बराबरी करना मुश्किल था। किंतु इस गुरु-कृपा के कारण कोई-कोई उनसे अधिक इर्ष्या करते थे। शंकर ने निश्चय किया कि सनन्दन की गुरु-भक्ति के स्वरूप को एक दिन वे सबों के सामने प्रकट करेंगे।

अलकनन्दा के तीर पर आचार्य उस दिन अपने शिष्यों से घिरे बैठे थे। सभी उपस्थित थे, केवल सनन्दन वहाँ नहीं थे। औषधि-संग्रहार्थ वे उस पार गये हुए थे।

पहाड़ी नदी संकीर्ण होते हुए भी तीव्र-धारा की थी। फेनिल आवर्त्त के साथ जलराशि बड़ी तेज चाल से सों-सों की ध्वनि करती बह रही थी। उसे तैर कर पार करना किसी के लिए संभव नहीं था। कई मील दूर वृक्ष के तनों और लता-गुल्मों के द्वारा एक पुल बनाया गया था। गंगा की धारा वहाँ बड़ी संकीर्ण थी। इसी पुल होकर सनन्दन कुछ क्षण पहले उस पार पहुँच गये थे।

अपने शिष्यों के समक्ष शंकर इस समय एक गम्भीर दार्शनिक तत्त्व की व्याख्या करने में लगे थे। सहसा एक गूढ़ तर्क की मीमांसा के लिए उन्होंने सबों का आह्वान किया। परन्तु प्रश्न बड़ा जटिल था। सभी निरुत्तर होकर बैठे रहे। शंकर धीर स्वर से उनको कहने लगे- देखता हूँ, तुममें से कोई इस प्रश्न की मीमांसा नहीं कर सके! यह तो बड़े दुःख की बात है, पर सनन्दन को देख नहीं रहा हूँ? वह कहाँ हैं? तुमलोग उसे खोजकर जरा बुला दो, देखें वह इसका उत्तर दे सकता है या नहीं ?"

निकट बैठे एक शिष्य ने कहा-"गुरुदेव, सनन्दन उस पार जंगली अंचल में किसी काम से गया हुआ है। यह देखिये; वह काम समाप्त कर नदीतट की ओर आ रहा है। आप उसे आदेश दें कि वह शीघ्र ही इस पार आ जाय।' "शंकर ने नदी के दूसरे तट पर दृष्टि डाली। अरे वही तो, सनन्दन उस पार एक पगडडी के मार्ग को पकड़ कर चला आ रहा है। आकुलता-पूर्वक आचार्य ने पुकारा "सनन्दन! तुम्हारे लिए हम सभी प्रतीक्षा कर रहे हैं। क्षण भर का भी बिलम्ब किये बिना तुम तुरत यहाँ चले आओ।"

कथन के कान में पड़ते ही सनन्दन उद्‌विग्न हो उठे। आचार्य की पुकार, एक क्षण भी विलंब नहीं किया जा सकता है। जिस पुल से नदी पार कर आये थे, उसका मार्ग निकट नहीं। उस मार्ग से लौटने

पर अधिक समय लगेगा। गुरुदेव के चरणकमल का स्मरण कर वे अविलम्ब तैर कर नदी पार करेंगे।

अलकनन्दा की जलधारा गर्जन करती जोरों से उमड़ रही थी। कोई भी मनुष्य तिनके की तरह इसमें बह जायगा। परन्तु उस दिन गुरुभक्त सनन्दन के मन में अपने सम्बन्ध की कोई चिन्ता स्थान नहीं पा सकी। उन्होंने हिमशीतल तीव्र गतिशीला पहाड़ी गंगा की धारा में अपने पैर बढ़ा ही दिये।

इस पार सभी गतिहीन-से खड़े थे। किस समय कौन-सी मर्मांतक घटना घट जाय, कौन जान सकता था ?

किन्तु अकस्मात् एक अलौकिक दृश्य देखकर शिष्यों का दल विस्मय और आनन्द से विभोर हो उठा। कैसा आश्चर्य ? गुरु-चरण-रत सनन्दन अलकनन्दा के जल में एक के बाद दूसरा पैर रखते जा रहे थे और उनके पैरों के नीचे जलकमल विकसित होते जा रहे थे। शरीर के भार से बचाव के लिए यह अपूर्व और अलौकिक व्यवस्था। शक्तिधर शिष्य शीघ्र ही इस पार आ उपस्थित हुए और उन्होंने गुरु के चरणों में साष्टांग दंडवत किया।

शंकर के दोनों नेत्रों में उस समय शिष्य-गौरव की अपूर्व दीप्ति उद्भासित हो उठी। मुख पर प्रसन्नता और माधुर्ययुक्त हास्य की आभा छिटक गई। दाहिना हाथ उठाकर सनन्दन को उन्होंने आशीर्वाद दिया। इसके उपरान्त कहा :—"सनन्दन ! तुम्हारी गुरुभक्ति योग-सामर्थ्य और ज्ञानैश्वर्य सबों के लिए अनुकरणीय हों। कमल के ऊपर चरण रखकर तुमने अलकनन्दा को पार किया है। इसलिए आज से तुम पद्म-पाद के नाम से अभिहित हुए।"

आचार्य के स्नेह से धन्य शिष्य सनन्दन के मुख से सबों ने उस उपस्थित प्रश्न की मीमांसा का श्रवण किया।

भाष्य आदि की रचना के द्वारा अद्वैत ज्ञान की नवीनतम भित्ति का निर्माण हुआ। शिष्यगण भी साधना में सिद्ध और सभी शास्त्रों

में पारंगत हो गये। इसके बाद शंकर अपनी व्यास-गुफा के एकांत स्थान से बाहर निकले। उत्तरा-पथ के दूर-दुर्गम तीर्थ-स्थानों के दर्शन के पश्चात् आचार्य अपने दल-बल के साथ उत्तर काशी आये।

यहाँ आ जाने के बाद से ही एक अपूर्व भावांतर उनमें दृष्टिगत होने लगा। अध्यापन और तत्त्वोपदेश-दान में अब उनमें उत्साह नहीं रहा। हमेशा अंतर्मुखी और आत्मसमाहित होकर रहना चाहने लगे। आचार्यवर के हृदय में रह-रहकर यह भाव उठने लगा—"गुरु देव गोविंदपाद स्वामी और प्रभु विश्वेश्वर के आदेश का उन्होंने पालन किया। इस देश के अध्यात्मक्षेत्र में वेदांतवाद की भावगंगा आज अवरोध-मुक्त हो चुकी है। उनका अभीष्ट पूर्ण हो गया है। अब उत्तर काशी की तपोभूमि में समाधि-योग से इस शरीर को नष्ट करने में क्या क्षति है?"

पद्मपाद प्रभृति अंतरंग शिष्यों की दुश्चिंता की सीमा नहीं रही। आचार्य की १६ वर्ष की आयु अवधि प्रायः पूरी हो चली थी। सबों ने सुन रखा था कि उनकी उम्र इससे अधिक नहीं है। तब क्या वे सत्य ही इस बार शरीर त्याग करना चाहते हैं? शिष्यों के मन में दुश्चिंता की छाया पड़ गई।

प्रसिद्ध है कि उत्तर काशी में इन्हीं दिनों शंकर ने एक समय अलौकिक भाव से व्यासदेव का साक्षात्कार प्राप्त किया। कृष्णवर्ण, विशाल वपु, जटाजूट-समन्वित मूर्त्तिवाले पुराण म वर्णित रुप को धारण कर महामुनि अवतीर्ण हुए। आचार्य शंकर के स्तव से संतुष्ट होकर उन्होंने वरदान दिया: "वत्स! ईश्वर द्वारा निर्दिष्ट महान कार्य तुमने सम्पन्न कर लिया है। मैं आशीर्वाद देता हूँ कि तुम्हारे द्वारा रचित अद्वैतवाद के भाष्यादि अध्यात्म-जगत में चिर-अक्षय होकर कायम रहेंगे।"

शंकर ने हाथ जोड़कर निवेदन किया, "प्रभु! कृपाकर तब मुझे अनुमति दीजिये, इस बार मैं स्वरूप में अवस्थित हो इस शरीर का शीघ्र परित्याग करूँ।"

"नहीं पुत्र ! परमात्मा का विधान दूसरा ही है। तुमको कुछ समय तक और जीवित रहना है। तुम्हारे लिए और भी कुछकार्य हैं। इसी बात को बताने के लिए आज मेरा आना हुआ है।

"अद्वैतवाद की व्याख्या कर 'तुमने शास्त्रीय भित्ति की रचना अवश्य की है, किंतु अभी वह सुप्रतिष्ठित हो नहीं पायी है। दिग्विजयी पंडितों को तुम्हें अपने मत के पक्ष में लाना होगा। यह कठिन काम तो अभी भी बाकी है। इन महारथियों के भीतर जब तक तुम्हारा यह सिद्धांत प्रवेश नहीं पाता, तबतक साधारण लोग ऐसा मानेंगे कैसे ? प्रेरित-पुरुष के रूप में तुम्हारा आविर्भाव हुआ है। इस बार तुम अपने सम्पूर्ण निर्दिष्ट कार्य को सम्पन्न करो। मैं आशीर्वाद देता हूँ, इस कार्य के लिए तुम और १६ वर्ष जीवित रहोगे।"

युगाचार्य के जीवन-नाटक में विधाता पुरुष ने इस प्रकार उस दिन एक नया अंक और जोड़ दिया।

इस निर्देश के अनुसार शंकर दिग्विजयी पंडितों पर विजय पाने के लिए निकल पड़े। उत्तरा-पथ से रामेश्वर और द्वारका से परशुराम क्षेत्र तक सभी स्थानों में उन्होंने अद्वैतवाद का झंडा फहरा दिया। इस अलौकिक शक्तिधर पुरुष की प्रभा से समग्र भारतभूमि उद्‌भासित हो उठी।

शंकर ने अद्वैत का भारत में प्रवर्त्तन नहीं किया था। यह तत्त्व-यह आदर्श पहले से ही इस देश में वर्त्तमान था। उन्होंने इसे केवल नया जीवन दिया। एक ओर शास्त्र-व्याख्या और प्रचार द्वारा तथा दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व और संगठन-शक्ति के द्वारा भारत के मानस-लोक में उन्होंने एक सुदूरव्यापी परिवर्त्तन उपस्थित किया। साधन शक्ति के साथ बुद्धि और कर्मकुशलता का आश्चर्यजनक मिलन दिखाई पड़ा। यह न केवल इस देश के, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के इतिहास के लिए विरल घटना थी।

शंकर ने कहा :"ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या। निर्गुण, निरुपा

धिक एवं ज्ञान-स्वरुप परब्रह्म ही एक मात्र नित्य वस्तु और परमतत्व है? समस्त विश्व प्रपंच, माया का लीला वैचित्र्य है—अनित्य है।" उनके पूर्ववर्ती अद्वैतवादी आचार्यगण भी इस सत्य की घोषणा कर गये थे। परंतु शंकर ने इसमें नवीन प्राण का स्पंदन जगा दिया। नवीन तरंगों के बल से उन्होंने इसे पुनः आगे बढ़ाया। सैकड़ों वर्षों के बाद आज भी उसका प्रभाव इस देश में अबाध रुप से कायम है।

भारतवर्ष के अध्यात्म क्षेत्र में उन दिनों वैदिक कर्मकांड का बहुत प्राधान्य था। याग-यज्ञ और बहिरंग अनुष्ठान में उन दिनों मनुष्य मतवाले-से थे। शंकर के अद्वैत तत्त्व और मायावाद ने इस मानसिकता पर एक भयंकर आघात पहुँचाया। वेद के ज्ञानकांड की व्याख्या के द्वारा आचार्य नें अपने मतवाद को शीर्ष स्तर पर पहुँचा दिया।

सगुण और निर्गुण ये दोनों तत्त्व वेदों में विद्यमान हैं। परंतु शंकर ने जोर देकर कहा-"जब तक निर्गुण-निर्विशेष ब्रह्म की—माया जगत के साथ सम्बन्ध से विहीन परमात्मा की साधना नहीं होगी, तब तक जीव को परम मुक्ति की उपलब्धि नहीं होगी। "उन्होंने यह घोषणा भी कि ब्रह्म और जीव अभिन्न हैं। केवल माया के आवरण के द्वारा ही दोनों का यह पार्थक्य सूचित होता है। ज्ञानलोक के सम्पात से माया का यह अधंकार दूर होता है; जीव तथा ब्रह्म का अभेदतत्व स्फुरित होता है और उदित होता है 'तत्त्वमसि' का महाज्ञान।

शंकर ने श्रुतिविहित सगुण ब्रह्म को स्वीकार किया था यह सत्य है, किन्तु साथ-साथ मायावाद और सगुणब्रह्म को मिथ्या एवं अनित्व भी कहते रहे। उन्होंने सगुण ब्रह्म में शक्ति और गुणादि के अस्तित्व को स्वीकार किया था। उनके सिद्धांत के अनुसार यह सगुण ब्रह्म मायिक और अनित्य है। युक्तिपूर्वक शंकर नें इसे निर्विशेष ब्रह्मतत्त्व माना था।

आचार्य का अद्वैतवाद उन दिनों केवल दार्शनिक वितंडा नहीं रहा। उनके द्वारा प्रदर्शित वेदान्त विचार और सुनियंत्रित साधन-

पद्धति के माध्यम से अनेक शिष्य आत्मज्ञान के लाभ में समर्थ हुए। इनकी सहायता से भारत के दिग्देशों के ज्ञानपंथी सिद्ध-साधकों को प्रकाश मिला। केवल असाधारण शास्त्रविद् के रूप में नहीं, एक महा-शक्तिधर आत्मज्ञानी महापुरुष के रूप में भी आचार्य शंकर ने इस समय सर्वभारतीय अध्यात्मनेता के आसन पर अधिकार कर लिया। मुमुक्षु संन्यासी और प्राचीन शास्त्रविद् इस तरुण आचार्य का आश्रय पाकर कृतार्थ हो गये।

नवीन साधक और साधारण मनुष्यों के लिए आचार्य शंकर ने ब्रह्म-आराधना के नाना पंथों और नाना उपयोगी पद्धतियों को हमारे सामने उपस्थित किया था—माया कहकर ही इन सबों की उपेक्षा नहीं की। इस मायावादी अद्वैत-विज्ञानी के भक्ति-आप्लुत कण्ठ से अन्नपूर्णा, शिवाष्टक, गंगा यमुना प्रभृति विषयक प्राणमय श्लोकों की राशि उच्चरित होती सुनी गई। ज्ञानोपासना के साथ-साथ साधारण भक्त की पूजा-अर्चना और भजन का अपूर्व समन्वय उनके स्त्रोतों में रूपायित होता दीख पड़ा। निष्फल, निरुपाधिक ब्रह्मवाद के श्रेष्ठ व्याख्याता की लेखनी से यह वाणी छन्दोबद्ध हो उठी—"भज गोविंद भज गोविन्द भज गोविंदं मूढ़मते।"

समग्र भारत में उन्हें प्रचलित अद्वैतवाद का झंडा फहराना ही होगा। इसलिए शंकर उत्तराखण्ड से उतर आये। उस समय चारों ओर कुमारिल भट्ट का जय-जयकार था। मीमांसा-दर्शन के विख्यात आचार्य चोल देश के यह पंडित यागयज्ञ से समन्वित वैदिक कर्म-काण्ड को पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते थे। बौद्ध और जैन धर्म के नेता-गण उसकी विराट प्रतिभा के सामने अपने मस्तक झुकाने को विवश थे।

शंकर प्रयाग-धाम में आकर कुमारिल के सामने उपस्थित हुए। वार्तालाप के बाद कहा, 'महात्मन! आपके साथ साक्षात्कार करने के उद्देश्य से ही मैं प्रयाग आया हूँ। वेदांत के अद्वैत-सिद्धांत के प्रचा-रार्थ मैं भारत-भ्रमण को निकला हूँ। परन्तु आप जैसे दिग्विजयी शास्त्र-विद् की स्वीकृति प्राप्त किये बिना तो मेरा कार्य प्रगति ही नहीं

कर सकता। मैं यह जानता हूँ कि आप वेद में कर्मकांड के समर्थक हैं। इसलिए मैं आप से अपना व्याख्यात मत ग्रहण करवाना चाहता हूँ। उसके बाद आप मेरे भाष्य पर वार्तिक की रचना कर दें तो अद्वैत मत सुप्रतिष्ठित हो सकेगा।

क्रोध से कुमारिल भट्ट के दोनों नेत्र सहसा आग हो उठे। निर्निमेष दृष्टि से वे शंकर का आपाद-मस्तक निरीक्षण करने लगे। कौन है यह सोलह वर्ष का किशोर संन्यासी? कैसा आश्चर्यजनक है इसका दुःसाहस! यह उसका औद्धत्य है या दैवी प्रतिभा को शक्ति है? भट्ट पाद के शिष्यगण ने उसी कारण महा उत्तेजित होकर नवगात आचार्य और उनके शिष्यों को घेर लिया।

शंकर का परिचय प्रकाशित हुआ। कुमारिल ने कहना शुरु किया, "आचार्य मैं जानता हूँ आप गोविंदपाद स्वामी के शिष्य हैं। आपकी अलौकिक प्रतिभा और शक्ति की कहानी भी मैंने सुनी है। उत्तराखंड में रहकर आपने भाष्यादि की जो रचना की उसकी ख्याति भी यहाँ पहुँच चुकी है।

अपने द्वारा रचित कई प्रमुख भाष्य उनकी ओर बढ़ाकर शंकर ने कहा, "भट्टपाद! मेरे इन ग्रन्थों को पढ़के आप को मेरा मत आज स्वीकृत कर लेना होगा। एसा नहीं होने से काम नहीं चलेगा।"

कुमारिल ने स्थिर स्वर में कहना प्रारम्भ किया, "आचार्य! आप बहुत असमय यहाँ पहुँचे हैं, मैंने संकल्प किया है कि तुषानल में प्रवेश कर के शरीर त्याग करूँगा। बौद्ध न्यायशास्त्र को पढ़ने एक बार मैं नालन्दा-विहार गया था। वहाँ आचार्य धर्मकीर्ति के निकट कई वर्षों तक अध्ययन किया। मेरे यह बौद्ध आचार्य बाद में मुझसे ही विचार-चर्चा में पराजित हो गये। क्षोभ और दुःख से उन्होंने तुषानल में प्रवेश कर प्राण त्याग कर दिया। इसी के प्रायश्चित्तस्वरूप आज मैंने शरीर त्याग करने का संकल्प किया है। सामने भूसेका ढेर देख रहे हैं, मैं अभी उसपर चढ़ूँगा और अग्नि-ज्वाला में आत्माहुति दूँगा।"

"किन्तु महात्मन्! हमारे प्रार्थित विचार को नहीं मानने से आपका अपयश घोषित होगा।"

"नही आचार्य ! आप चिंतित न हों, विचार की व्यवस्था मैं करके ही जा रहा हूँ। वेद को पुनः प्रतिष्ठा के लिए मैंने स्वयं आजीवन चेष्टा की है; किंतु बौद्ध, जैन प्रभृति अवैदिकों की पराजय में ही मेरो सामर्थ्य का अधिक भाग समाप्त हुआ। लक्ष्य-सिद्धि का पूरा अवसर मुझे नहीं मिला। वेद की सर्वांगीण प्रतिष्ठा ही हमारा उद्देश्य है। इस दिशा में मेरा और आपका मतवाद धीरे-धीरे परस्पर निकट ही होते जायेंगे। इस बार आप मेरे शिष्य मण्डन मिश्र के पास जायँ। शिष्य होने पर भी वह मेरी श्रद्धा का पात्र है। उसकी प्रतिभा और विचार-नैपुण्य अद्‌भुत है। मण्डन आप से परास्त हो जाय तो आप समझ लेंगे मैं ही पराजित हो गया हूँ।"

वैदिक जगत के प्रकांड पंडित कुमारिल उसके बाद धीर भाव से कदम बढ़ा कर अग्नि में प्रविष्ट हो गये।

दाक्षिणात्य के माहिष्मती नगरी में पंडित मडन मिश्र का आवास था। नर्मदा और माहिष्मती नदी के संगम तट पर उनका प्रासादोपम भवन अवस्थित था। वेद का विद्या में मडन मिश्र का प्रतिद्वन्द्वो कोई नहीं था। प्रसिद्ध याज्ञिक और धर्म-गुरु के रुप में उनके प्रभाव और ऐश्वर्य की सीमा नहीं थी।

शंकर ने वहाँ उपस्थित होकर देखा, एक प्राचीर से सुशोभित वृहत यज्ञस्थल धूमाच्छादित था। वेद-ज्ञाता ब्राह्मणों और शिष्यां से घिरे मंडन हवन कर रहे थे। द्वारपाल उस समय किसी भी प्रकार शंकर को वहाँ जाने नहीं देंगे। बार-बार अनुनय-विनय करने पर भी कोई परिणाम नहीं निकला। वे बड़े क्रुद्ध हो उठे। कहा जाता है, उस समय शंकर अपनी योग-विभूति दिखाने को विवश हो गये। योगवल से आकाश में उठकर चमत्कार से उन्होंने दीवाल पार कर ली।

मंडन मिश्र बहुत प्रतापशाली याज्ञिक थे। अनेक धनी व्यक्ति और राजा उनके शिष्य थे। वे या अन्य कोई उनकी अनुमति के बिना यज्ञक्षेत्र में प्रवेश नहीं करते थे। किन्तु यह कौन है दुर्विनीत

तरुण संन्यासी ? इतना साहस उसे हुआ कैसे ? मंडन मिश्र क्रुद्ध होकर उसके निकट आये।

शंकर ने गंभीर भाव से उनसे कहना शुरु किया—आचार्यवर ! मेरे साथ आपका परिचय नहीं है। मैं महायोगी गोविंदपाद स्वामी का शिष्य शंकराचार्य हूँ। मैं आज आपसे शास्त्रार्थ करने आया हूँ। आपके गुरु महापाद कुमारिल को मैं हराने गया था। परंतु यह सुयोग नहीं मिला। नश्वर शरीर को त्यागने के पूर्व ही उन्होंने कहा था—"आपको पराजित करने का अर्थ उनको ही पराजित करना होगा। वेद के कर्म-कांड को छोड़कर आप मेरे द्वारा प्रचारित अद्वैत-वेदांत को स्वीकार करेंगे। इसी अधिकार को व्यक्त करने मैं आज यहाँ आया हूँ।"

विस्मित और क्रुद्ध मंडन मिश्र एकटक उसे देखने लगे और विचार करने लगे--यह नवीन संन्यासी जानता नहीं है कि वह किसके साथ बात कर रहा है ! परंतु मंडन मिश्र को अपनी भूल के सुधारने में उस दिन देर नहीं लगी। थोड़ी बातें करने के बाद ही वे समझ गये कि वह किशोर कोई साधारण व्यक्ति नहीं था। वह तो अलौकिक शक्ति से युक्त एक महापुरुष था। इसके उपरांत उसके आह्वान को सुनकर तर्क-युद्ध में उतरने के आलावा कोई उपाय नहीं था।

मंडन ने कहा—यतिवर, शास्त्रार्थ के लिए आह्वान मैं स्वीकार करता हूँ। परतु जो पराजित हो जायगा उसको क्या सजा मिलेगी, यह पहले ही निश्चित हो जाना चाहिए।

दर्प के साथ शंकर ने उत्तर दिया—"आचार्य ! मेरी शर्त है कि इस शास्त्रार्थ में जो हारेगा उसे अपने विरोधी का शिष्यत्व स्वीकार करना होगा। हार जाने पर आप मुझे अपना गुरु स्वीकार करेंगे। गार्हस्थ्य धर्म को छोड़कर संन्यास लेना होगा। और यदि मैं हार गया तो आपका शिष्यत्व स्वीकार कर लूँगा और सदा के लिए यह दंड कमंडलु त्याग दूँगा।"

"उत्तम बात है। परंतु अब यह निश्चित करें कि इस शास्त्रार्थ की मध्यस्थता कौन करेगा ?"

"आचार्यवर ! अनेक स्थानों पर आपकी पत्नी उभय भारती देवी की ख्याति की कथा सुनता हुआ मैं आया हूँ। इस विचार-सभा का नेतृत्व करती हुई वही हमलोगों की हार-जीत का निर्णय करेंगी।"

"इस प्रस्ताव को आप पुनः विचार कर देखें। उभयभारती एक तो स्त्री हैं और इस पर वह मेरी पत्नी हैं। उससे सुविचार की आशा के प्रति आप इतना निश्चित कैसे हैं ?"

"मैं जानता हूँ आपकी स्त्री केवल असामान्य बुद्धि और शास्त्र—ज्ञान की अधिकारिणी ही नहीं हैं, बल्कि सत्य के प्रति निष्ठा की दृष्टि से भी उनकी तुलना संभव नहीं है। मेरी इच्छा है कि वही हमलोगों की मध्यस्थता करें।"

मंडन मिश्र को यह प्रस्ताव स्वीकार कर लेना पड़ा। उसके बाद माहिष्मती के पण्डित-समाज के सामने दोनों पक्षों के तर्क-वितर्क की यह सभा प्रायः १८ दिनों तक होती रही। सभा के बाद उभय-भारती ने आचार्य शंकर को विजयी घोषित किया। वेदविद् मंडन मिश्र की इस हार से चारों ओर उस दिन हलचल मच गई।

शंकर के चेहरे पर इस जय के गौरव से प्रसन्न मधुर मुस्कान थी। वैदिक कर्मकांड का श्रेष्ठ आचार्य आज पराजित हुआ है। अद्वैत--वाद के प्रचार की प्रधान बाधा आज दूर हो गई है। पराजित मंडन मिश्र को अब संन्यास की दीक्षा देने के लिए वे आगे बढे।

उभय भारती ने बाधा देकर उनसे कहा—"यतिवर ! रुकिये। इस समय आप मेरे पति को संन्यास-ग्रहण नहीं करा सकते। मैं स्वामी की अर्द्धांगिनी हूँ। आप तो अभी तक मुझे तर्कयुद्ध में हरा नहीं सके हैं। वास्तव में आपको अभी अर्द्ध--विजय ही मिली है। आइये, इस बार मैं आपको शास्त्रार्थ के लिए निमंत्रित कर रही हूँ।

तर्क-युद्ध का यह आह्वान बड़ा आश्चर्यजनक था। यह युक्ति-संगत हो या न हो शंकर इनकार नहीं कर सके। उभयभारती को परास्त कर केवल मंडन के घर पर नहीं बल्कि संपूर्ण दक्षिण देश में वे वेदांत की विजय--पताका फहराना चाहते थे।

उत्तर में उन्होंने कहा—"आचार्य-पत्नी ! आप का आह्वान मैं स्वीकार करता हूँ। किंतु किस शास्त्र पर चर्चा होगी, यह आप ही ठीक कीजिये।"

उभयभारती कह उठी—"यतिवर ! हमलोगों का यह तर्कयुद्ध काम शास्त्र के विषय में होगा।"

शंकर चौंक गये ! यह क्या बात हुई ? विशाल शास्त्र-सागर की तुलना में यह कूप-जल कैसा ? इसके अलावा, उन्होंने जन्मभर ब्रह्म-चर्या व्रत और संन्यास-व्रत का पालन किया। अंतिम समय में क्या उनको काम-शास्त्र के विचार-संघर्ष में उतरना होगा ? उनके लिए तो यह बड़ा कठिन कार्य था। मन में दु.ख का अनुभव किये बिना नहीं रह सके।

अनुनय के साथ उन्होंने कहा—"देवि, मेरा एक मात्र अनुरोध है कि आप दया कर इस विषय को छोड़कर अन्य किसी विषय पर तर्क कीजिये।"

"सर्व-शास्त्रविद् और महाज्ञानी के रूप में आपकी प्रसिद्धि है। तब हमारे द्वारा उपस्थापित काम-शास्त्र का यह विषय आपके ज्ञान के बाहर कैसे हुआ ? इसके अलावा आपब्रह्मविद् हैं। इसके बारे में आलोचना करने में आपको शंका क्यों हो रही है ? और भी एक बात है। हमारे स्वामी पूर्व शर्त के मुताबिक आज से संन्यास ग्रहण करने जा रहे हैं। उसके पहले मैं परीक्षा करना चाहती हूँ कि आपके ज्ञान की परिधि क्या है और आपके योग की सामर्थ्य कितनी है ?"

इस प्रतिद्वन्द्वी नारी का आह्वान शंकर को ग्रहण करना ही पड़ा। तैयारी के लिए एक महीने का समय लेकर बिदा हो गये।

माहिष्मती नगरी के निकट एक जंगल के किनारे आचार्य शंकर उस दिन बैठे थे। निकट भविष्य में होनेवाले शास्त्रार्थ के प्रसंग में व चिंतित थे। कामशास्त्र के केवल तात्त्विक पक्ष को जानकर वे विजयी नहीं हो सकेंगे। इस शास्त्र के व्यावहारिक पक्ष के बारे में वे पूर्णतः अनभिज्ञ थे। प्रत्यक्ष अनुभूति और ज्ञान के बिना वे इस प्रतिभाशा-लिनी नारी के समक्ष कितने क्षण टिक सकेंगे ? वे आजन्म ब्रह्मचारी

थे। इस कार्य में समर्थ होने का उपाय एक ही था और वह था किसी दूसरे के शरीर में प्रवेश करना और उसके शरीर के माध्यम से इस तत्त्व के व्यावहारिक पक्ष को जानना। परंतु इसके लिए सुन्दर अवसर कहाँ ?

ईश्वर के विधान से शीघ्र ही एक अपूर्व अवसर उपस्थित हुआ। संवाद मिला कि निकट ही, जंगल में एक शव संस्कार का आयोजन हो रहा है। शव एक तरुण राजा का था जिसका नाम था अमरुक।

आचार्य ने उसी समय निश्चित किया इस अवसर को छोड़ने से काम नहीं चलेगा। गहन जंगल के बीच एक पहाड़ था। उसकी एक एकांत गुफा में जाकर शिष्यों से उन्होंने कहा—"मंडन-पत्नी के घमंड को बिना नष्ट किये हमलोगों का व्रत असमाप्त रह जायगा। मैं अभी ही योगबल से उस मृत राजा के शरीर में प्रवेश करता हूँ। एक महीना समाप्त होने के पहले ही मैं अपनी देह में वापस आ जाऊँगा। तुमलोग इस परित्यक्त शरीर की सतर्क भाव से निगरानी रखना। इस गुप्त स्थान का पता कोई न पावे। कोई आदमी इस शरीर का स्पर्श भी नहीं करे।"

इधर राजा के शव-संस्कार की तैयारी करीब-करीब पूरी हो चुकी थी। बोझा का बोझा चंदन-काष्ठ और घृत लाकर जमा किया गया था। मंत्री और पुरोहितगण आनुष्ठानिक कर्म में व्यस्त थे। सहसा अरथी डोलने लगी। देखा गया कि मरा हुआ राजा धीरे-धीरे आँखे खोलने लगा है। इस दृश्य को देखकर सबों के विस्मय की सीमा नहीं रही।

राजा अमरुक की देह में सत्य ही प्राणों का संचार हो गया। वस्त्रों के आभरण और फूलों की माला को हटाकर वे उठ बैठे।

दैव की कृपा से राजा जीवित हो गये। आत्मीय स्वजन और अनुचरों के आनंद की सीमा नहीं रही। गाजे-बाजे के साथ पूरी सजावट में उसे राजमहल में लाया गया।

किंतु केवल जीवित ही नहीं हुए, राजा जैसे एक नवीन मनुष्य बनकर आ गये थे। पूर्व की तरह राजसी मनोवृत्ति अब नहीं रही।

भोग-विलास एवं व्यसन के सामने आते ही वे जैसे संकुचित हो जाते थे। राज-कार्य में बुद्धिमता और ज्ञान का प्रकाश देखा जाता था परन्तु कूट-कुशल राजा का और कोई चिह्न नहीं रह गया था।

रानी के मन में संदेह उत्पन्न हुआ। राजा के मृत-शरीर में योग-विभूति संपन्न किसी महायोगी ने तो प्रवेश नहीं किया है? राज-मंत्री के मन में भी ऐसी चिंता उत्पन्न हुए बिना नहीं रही।

इसके बाद रानी और मंत्री ने मिलकर निश्चय किया कि सूक्ष्म लोकचारी जो कोई भी योगी या संन्यासी इस शरीर में आ गया है उसे फिर वापस जाने नहीं दिया जायगा। जिस किसी भी उपाय से राजा को जीवित रखना ही पड़ेगा।

मंत्री प्रवीण और चतुर बुद्धि का था। उसका विश्वास था कि दूसरे के शरीर में प्रवेश करने में समर्थ योगी का अपना शरीर निश्चय ही किसी एकांत स्थान में सुरक्षित है। खोज द्वारा उसे बाहर कर सबसे पहले उसे विनष्ट करना होगा, तभी राजा के शरीर में अवस्थित यह सूक्ष्म देहवाला साधक इस वर्त्तमान आधार को छोड़ नहीं सकेगा।

चारों ओर कठोर आदेश दिया गया कि किसी योगी या संन्यासी के शव को देखते ही उसे जला दिया जाय।

राजा के अनुचरगण सब जगह खोजने निकले। शंकर के शिष्य-बड़े भयभीत हो गये। किसी प्रकार यदि वे गुरु के शरीर का पता पा जायेंगे तो देह रक्षा संभव नहीं।

प्रधान शिष्य पद्मपाद ने निश्चय किया कि और विलम्ब करना ठीक नहीं है। समय रहते ही आचार्य को सावधान करना उचित है। भिक्षार्थी के रूप में कई गुरु-भ्राताओं के साथ वे एक दिन राजा अमरुक के समीप उपस्थित हुए।

राज-देहधारी शंकर से उन्होंने निवेदन किया—"प्रभु! राजा के अनुचर दलों में विभक्त हो सभी स्थानों की खोज में निकले हैं।

आपके परित्यक्त शरीर को देखते ही ये जबर्दस्ती जलाकर फेंक देंगे। आप शीघ्र अपनी देह में वापस चले आवें।"

शंकर का राज-देह में रहने का प्रयोजन भी पूरा हो चुका था। थोड़े ही समय में कामशास्त्र के सभी तत्त्वों को वह प्राप्त कर चुके थे। शिष्यों को आश्वस्त करते हुए उन्होंने कहा—"तुमलोग शीघ्र ही पर्वत-गुफा में वापस जाकर प्रतीक्षा करो। इस शरीर को अब मैं छोड़ दूँगा।"

किन्तु इधर जिस विपत्ति की आशंका की गई थी वही उपस्थित हुई। राज-सैन्य की एक टुकड़ी ने जंगल में संन्यासियों का अड्डा देख संदेह किया और खोजने पर गुफा में उन्होंने मृत शरीर खोज निकाला। सैन्य-दल को आते देखकर आचार्य के शिष्य घबड़ा उठे। कुछ भी हो जाय, वे सैन्य-दल को गुरु की देह छूने नहीं देंगे।

घोर वितर्क और द्वन्द्व चल रहा था। इसी समय सहसा अचेतन देह में गतिविधि उत्पन्न होने लगी। यह लगा जैसे निद्रित व्यक्ति का स्वाभाविक जागरण हो। आचार्य शंकर धीरे-धीरे बिछावन पर उठ बैठे। इस अलौकिक दृश्य को देखकर राज्य सैनिक तो हतवाक् हो गये। इसके बाद उसे छोड़कर जाने के अतिरिक्त उनके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं रहा। शंकर के अपनी देह में वापस आने के साथ-साथ उसी दिन राजा अमरुक के जीवन का भी अन्त हो गया।

आचार्य शंकर की यह अत्याश्चर्यजनक योग-विभूति की कथा दावानल के समान चारों ओर फैल गई। माहिष्मती नगरी में भी इसने कम हलचल की सृष्टि नहीं की।

शंकर इसबार अभिमान के साथ मंडन मिश्र के घर उपस्थित हुए। उभयभारती देवी के साथ तर्क-युद्ध के लिए इसबार वे पूर्ण तैयार होकर आये थे।

मंडन-पत्नी को बड़ा भय हुआ। आचार्य शंकर काम-शास्त्र में सुपंडित होकर वापस आये थे। अब तो उनको हराना संभव नहीं।

इसके अलावा अलौकिक शक्तिधर इस किशोर संन्यासी के स्वरूप को समझना अब उसके लिए बाकी नहीं था। ईश्वर-प्रेरित युगाचार्य के रूप में उनका आविर्भाव हुआ था और सर्वत्र अपराजेय थे, यह बात स्पष्ट हो गई। उभयभारती ने इसबार हाथ जोड़ कर अपनी हार मान ली। कहा जाता है—इसके कुछ समय बाद ही इस महीयसी महिला ने भी योगबल से क्षणिक देह का परित्याग कर दिया था।

शंकर को गुरु रूप में वरण कर मंडन ने उनसे संन्यास-व्रत ग्रहण किया। उनका नाम पड़ा सुरेश्वराचार्य। भारत के अन्यतम श्रेष्ठ वैदान्तिक के रूप में उनका अभ्युदय हुआ।

मंडन मिश्र की इस पराजय और शिष्यत्व-ग्रहण का फल उस दिन सुदूरव्यापी हुए बिना नहीं रहा। केवल माहिष्मती ही नहीं, समस्त दाक्षिणत्य के पंडित समाज में अद्वैत वेदान्त का प्रभाव शीघ्र ही विस्तारित हो गया। वेद कर्मकांड के बदले ज्ञानमार्गी शास्त्र और साधना की धारा नवीन रूप से प्रवाहित हो उठी।

अद्वैतवाद के प्रचार के लिए शंकर ने इस समय नासिक और पंढरपुर अंचल का परिभ्रमण किया। पश्चात् दिग्विजयी आचार्य के रूप में श्रीशैल पर आकर वे उपनीत हुए। पुण्यतोया कृष्णा और तुंगभद्रा के संगम स्थल के एक शैल की चोटी पर एक जाग्रत शिव-लिंग विराज रहा था। पौराणिक काल से ही इसकी प्रसिद्धि मल्लिकार्जुन नाम से है। इसी शिला प्रतीक को केन्द्र बनाकर अनेक शाक्त, शैव और कापालिक साधक यहाँ तपस्यारत रहते थे। शक्तिधर आचार्य शंकर के सामने इनमें से अनेक को अपनी हीनता स्वीकार करनी पड़ी।

उग्रभैरव नामक एक प्रवीण कापालिक यहाँ साधना करते थे। इस क्षेत्र में उनके शिष्यों और अनुचरों की संख्या कम नहीं थी। शंकर के वेदान्तवाद के वह घोर विरोधी थे। उसके अलावा इस तरुण आचार्य के प्रभाव की प्रतिपत्ति भी उन्हें असह्य मालूम होती

थी। उग्रभैरव के अनुयायी एक राजा के निकट ही रहते थे। उनका नाम क्रकच था। दोनों ने मिलकर षड्यंत्र किया—शंकर की हत्या करके मन की ज्वाला शान्त करेंगे। साथ ही साथ अद्वैतवाद का मूलोच्छेदन भी हो जायगा।

एकान्त शैलशिखर पर बैठकर शंकर ने उस दिन अपने सभी सांध्यकर्म समाप्त कर लिये थे। क्रकच द्वारा प्रेरित आततायियों के एक दल ने इनपर सहसा आक्रमण कर दिया। उसके बाद बन्दी बना कर सुदूर-स्थित एक पर्वत-गुफा में वे इन्हें ले गये।

अमावस्या का दुर्भेद्य अंधकार। कापालिकों के अनुचरों के हाथों में मशाल और शस्त्र; प्रेतों के एक समूह के समान उनलोगों ने आचार्य को घेर रखा था। गुफा के भीतर महाभैरव का विग्रह विराजित था। इसी पीठ-स्थान में आचार्य की बलि देकर आज वे लोग प्रतिहिंसा की वासना को शान्त करेंगे। ध्यान में आँख बन्द किये निःस्पन्दभाव से आचार्य बैठे थे। राग-भय-क्रोध से रहित महात्मा ने इस ओर ध्यान तक नहीं दिया।

इधर शंकर के शिष्यगण बड़े चिन्ताकुल हो गये थे। रात काफी बीत चुकी थी परन्तु अभी तक आचार्य को किसी ने नहीं देखा। किसी एकान्त में क्या वह ध्यान मग्न हैं? अथवा उस नई जगह में किसी विपत्ति में पड़ गये हैं यह कौन बताये?

कुटी के एक किनारे शिष्य पद्मपाद बहुत समय से ध्यान मग्न थे। सहसा उनका ध्यान टूट गया और एक आश्चर्यजनक दिव्य आवेश दृष्टिगत हुआ। तेजोदीप्त कण्ठ द्वारा प्रचंड हुंकार करके वे बाहर आ गये। साथ आचार्य के शिष्य और सभी अनुयायी उनके पीछे-पीछे चलने लगे।

अनेक दुर्गम पहाड़ी रास्तों को पार कर सभी भैरव गुफा के पास पहुँचे। इसी बीच आचार्य की हत्या के सभी आयोजन आततायी पूरा कर चुके थे। इसबार सभी शिष्यों ने मिलकर अप्रत्याशित रूप से उनपर आक्रमण कर दिया।

पद्मपाद एक हुंकार भरकर क्षण भर में कापालिकों के बीच कद

पड़े। सामने ही एक सिंदूर-चर्चित बड़ी तलवार सुरक्षित पड़ी थी। शंकर के वध के लिए ही यह लाकर रखी गई थी। पद्मपाद ने इस तलवार को कापालिकों के गुरु के गले पर जोर से चला दिया। उग्र-भैरव छिन्नमस्तक हो भूमिपर गिरे पड़े। उनके अनुयायी आक्रमण के डर से भाग खड़े हुए।

पद्मपाद की उस दिन वाली भावोन्मत्तता देखकर सभी आश्चर्य-चकित हो उठे। बाद में सुना गया कि अपने साधना-जीवन के प्रारम्भ में ही वह एकबार नृसिंहदेव की आराधना में रत हुए थे। शीघ्र ही उन्हें सिद्धिलाभ भी हुआ था। इसी समय उन्होंने वर प्राप्त किया था कि जिस किसी संकट में वे पड़ेंगे नृसिंहदेव उनके रक्षक के रूप में उनके आगे उपस्थित होंगे। गुरुदेव के संकट के समय इसीसे उनमें नृसिंहदेव का आवेश हुआ था।

अपने शिष्यों और पार्षदों के साथ शंकर गोकर्ण पहुँचे। नीलकण्ठ नाम के विख्यात शैव पंडित यहीं रहते थे। इनको वेदांतमत में लाकर वह मौनांबिका नामक शक्तिपीठ में उपनीत हुए।

इस समय किसी भी अंचल में आचार्य के पहुँचने के पहले ही उनकी ख्याति पहुँच जाती थी। इसबार भी ऐसा ही हुआ।

देवी-विग्रह के दर्शन के पश्चात् शंकर मंदिर से बाहर निकल रहे थे। सहसा उन्होंने देखा, निकट ही एक दरिद्र ब्राह्मण और उनकी स्त्री दोनों अधीर भाव से रो रहे हैं। उनके सामने कुछ ही समय पहले एक मृत बच्चा पड़ा था। उनका वह एक मात्र पुत्र था—सर्वस्व-धन था। दोनों शोक से एकदम पागल हो गये थे।

शंकर की अलौकिक शक्ति की कहानी उनके कानों तक पहुँच चुकी थी। वह आज दर्शनार्थ मंदिर में आनेवाले थे। अतः वे दोनों-स्वामी और स्त्री अपने पुत्र को गोद में लेकर वहाँ उपस्थित हुए। आचार्य के चरणों पर लेट कर उनलोगों ने मर्मभेदी आर्त्तनाद करना प्रारम्भ किया।

महापुरुष का हृदय पिघल गया और साथ ही उनके करुणाघन

रूप का आत्मप्रकाश हुआ। देवी के हाथ की माला उन्होंने मृत बालक के सिर पर स्थापित कर दी। क्षणमात्र में वहाँ एक अलौकिक दृश्य उद्घाटित हुआ। मृत बालक के नयन-पल्लव और अधरोष्ठ काँपने लगे। सारी देह धीरे-धीरे स्पन्दित होने लगी। उसके द्वारा प्राण-प्राप्ति के साथ ही समवेत जन-समूह ने जयध्वनि की। आचार्य ने इसके बाद अपने शिष्यों के साथ शीघ्र ही इस पीठ-स्थान का परित्याग कर दिया।

विराट् ईश्वरीय-कर्म के गुरु भार को अपने ऊपर लेकर शंकर को एक विस्तृत मार्ग पार करना होगा। लेकिन उनका जीवन अल्पायु था। उनके पास समय बहुत कम था। इसीसे इस समय उनके कर्मक्षेत्र में बार-बार बुद्धि, विद्वत्ता और योग विभूति का एक सम्मिलित प्रकाश दीख पड़ रहा था। जब जिस स्थान पर वे गये, वहीं पर उन्होंने अल्पकाल में विशिष्ट साधक आचार्यों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। लौकिक और अलौकिक उभय शक्तियों द्वारा उनलोगों को अपने अधीन कर लिया।

आचार्य के वेदांत मत की यह विराट् प्रतिष्ठा उन दिनों केवल विजयी के रथचक्र की गति का परिणाम नहीं थी। परिक्रमा के मार्ग में उन्होंने नई-नई प्रतिभाओं का आविष्कार भी किया। अलौकिक शक्ति के बल से उन्हें वे अपनी छत्र-छाया में ले आये थे। वेदांतवाद ने अनेक दिग्पालों की सृष्टि की थी। उनके सम्पूर्ण अध्यात्मकर्म में सृजन-प्रतिभा और संगठन का आश्चर्यजनक समन्वय दीख पड़ा।

श्रीवली के जनसाधारण के बीच उन दिनों एक हलचल मच गई थी। आचार्य शंकर अपनी दिग्विजयी सेना लेकर वहाँ उपस्थित हुए थे। प्राचीन साधक और शास्त्रज्ञों के बीच भी उनके इस आगमन से काफी हलचल फैल गई।

पंडित प्रभाकर वहाँ के प्रतापी आचार्य थे। प्रतिष्ठा और समृद्धि दोनों ही उनके पास पर्याप्त थी, परन्तु मन में थोड़ा भी सुख नहीं था पंडित का एकमात्र पुत्र मूर्ख था। बुद्धि और मननशीलता का तो उसमें चिह्न भी नहीं था। किसी भी समय उसमें वाणी की तीव्रता

सुनी नहीं गई थी। वह जैसे मनुष्य नही था—वह केवल मौन मांसपिण्ड जैसा था। इस बालक के दुःख से पंडित और उनकी स्त्री के जीवन से हास्य और आनंद सदा के लिए विलुप्त हो गये थे।

शंकर की महिमा और योग-ऐश्वर्य की कथा प्रभाकर ने सुनी थी। उन्होंने सोचा कि पुत्र को निरोग करने के लिए एक बार इनके पास अंतिम चेष्टा करके देखना चाहिए। अपने पुत्र को गुरु के चरणों पर रखकर अश्रु रुद्ध कंठ से निवेदन किया—"प्रभु ! एक बार देखिये, अभागे पुत्र की क्या अवर्णनीय दुर्दशा है। इसको लेकर मैं और मेरी स्त्री जीवन-मृत की तरह समय बिता रहे हैं। आप एक बार कृपा करें। सुनताहूँ, आपके चरण का आश्रय पाकर मृत आदमी में प्राण भी वापस आ गये हैं, तब हमारे इस पुत्र में क्या वाणी की स्फूर्ति और ज्ञान का जन्म भी नहीं होगा।

बालक जड़पिंड की तरह वाणीहीन और स्थिर था। शंकर के चरणतल में बैठकर वह उदास दृष्टि से उन्हें देख रहा था। पंडित प्रभाकर धन्य भाव से बार-बार विनती प्रकट कर रहे थे।

पिता के अनुरोध ने आचार्य के अंतर का स्पर्श किया। करुणा से भरे स्वर में इस बार उन्होंने बालक से पूछा, "वत्स ! मुझसे कहो तो तुम कौन हो ? कहाँ से आये हो ? और कहाँ चले जाओगे ? इस जगत में तुम्हारी कांक्षित वस्तु क्या है ?"

सहसा उस जड़पिंड में यह अलौकिक परिवर्त्तन कैसा ? आश्चर्य के साथ देखी गई उसमें चैतन्य की एक विद्युत झलक। दो नेत्र एक वार ही चमक उठे। मुहूर्त मात्र में वह वाणीहीन बालक वाणीयुक्त हो गया। जैसे आज अपूर्व दैवी शक्ति उद्दीप्त हो गई हो। उसके मुख से अबाध धारा में संस्कृत श्लोकों की राशि निकलने लगी। उसके उच्चारण की भंगिमा जैसी थी वैसी ही उसमें भावना की गंभीरता और भाषा की व्यंजना भी थी।

बालक के पिता प्रभाकर और उपस्थित दर्शनार्थीगण अद्‌भुत् दृश्य को देखकर सहसा अवाक् हो गये। केवल इतना ही नहीं,

पद्मपाद और सुरेश्वराचार्य आदि शंकर के दिग्पाल शिष्यों का विस्मय भी चरम सीमा पर पहुँच गया था। ये स्तोत्र आश्चर्यजनक और अनुपमेय थे। आत्मस्वरुप का उद्घाटन करने वाली ऐसी विवेचना पहले उन्होंने कभी नहीं सुनी थी।

भाव-गंभीर कंठ से शंकर ने अपने शिष्यों से कहा - "तुमलोग सुन लो, ये हैं 'हस्तामलक स्तोत्र।' इनके गंभीर अर्थ की उपलब्धि करने पर साधकों के लिए आत्मज्ञान का उदित होना सहज साध्य है। हाथ में रखे आँवला के फल की तरह वह उनके अधीन हो जाता है। तुम सब चैतन्यमय इन स्तोत्रों का रोज अभ्यास करोगे।"

पुत्र में यह अप्रत्याशित रूपांतर कैसे ? पंडित प्रभाकर भावावेग में अपने को भूल गये। उनके दोनों नेत्रों से आनन्द के आँसू झरने लगे। शंकर कहने लगे-पंडित ! आपका यह पुत्र सामान्य नही, असामान्य है। जड़पिंड नहीं चैतन्य पुंज है, इसके भीतर आज आत्मज्ञान का आलोक सहसा स्फुटित हो गया है। वास्तव में यह एक असाधारण महापुरुष है। और सुनिये, संसार में बँधने वाला मनुष्य यह नहीं है। आपके किसी मतलब का यह कभी होगा भी नहीं। इसको हमारे अधीन करना ही होगा। आज से मैंने इसका भार ग्रहण किया।"

पंडित प्रभाकर की आँखों में फिर अश्रुधारा दिखाई पड़ा। इस बार आनंद के नही, दुःख के आँसू थे। पुत्र की स्वाभाविक अवस्था में वापस आ जाने के बाद फिर उसे खोने के कारण यह उनका क्रन्दन था।

शंकर के द्वारा आविष्कृत यह ज्ञानी बालक-शिष्य इसके बाद उनके पास ही रह गया। संन्यासकी दीक्षा लेने के बाद इनका नया नाम पड़ा हस्तामलक-आचार्य। पद्मपाद और सुरेश्वराचार्य के समान ही शंकर की मंडली में इनकी मर्यादा असामान्य थी।

घूमते-घूमते आचार्य एक बार श्रृंगेरी आये। यह अंचल पौराणिक ऋषि विभांडक और ऋष्यश्रृंग की तपस्या से पवित्र थी। एक समय शंकर की इच्छा थी कि यहाँ एक आश्रम स्थापित करेंगे। इस स्थान

के मनोरम परिवेश को देखकर उनके अन्तरंग शिष्य भी इस विषय में उत्साहित हो उठे। कर्णाटक के राजा सुधन्वा ने इस समय आचार्य के चरणों में आत्म समर्पण किया। उनके तथा अन्यान्य शिष्यों के उत्साह से प्रतिष्ठित हुआ सुप्रसिद्ध शृंगेरी मठ। आचार्य ने इसके बाद यहीं महा समारोह के साथ शारदा देवी के विग्रह को प्रतिष्ठित किया था।

इस मठ में शंकर अधिक समय तक रहे और बहुत से ग्रन्थ उन्होंने यहाँ रचे। शास्त्रालोचन और साध्य-साधन के निर्णय में आचार्य प्रतिदिन उद्दीपित होने लगे और अमूल्य तत्वराशि उनके श्रीमुख से निकलने लगी। उत्साही और सुपंडित शिष्यगण उसी समय उन सब को लिपिबद्ध कर लिया करते थे।

शृंगेरी पर आचार्य के अवस्थान ने शिष्यों के लिए गुरु के निकट रहने का एक सुन्दर अवसर ला दिया। अन्तरंगता और व्यक्तित्व के स्पर्श से सभी इस समय परम उपकृत हुए। गुरु-कृपा के अमृत-सिंचन से धीरे-धीरे वे रूपांतरित हो उठे।

पर्यटन, तर्कयुद्ध और संगठन-कर्म को व्यस्तता के कारण शंकर के जीवन में विश्राम का अवकाश कम ही मिलता था। किन्तु अपनी इस व्यस्तता के बीच भी अपने घनिष्ठ शिष्य के अन्तर्लोक में उत्पन्न छोटी-से-छोटी बात से भी वे अपरिचित नहीं रहते थे। सदा सतर्क दृष्टि से वे अपने आश्रितों की साधना और सिद्धि का नियंत्रण करते रहते थे। उनके भीतर के अहंबोध का सूक्ष्मतम आवरण भी सर्वज्ञ आचार्य की दृष्टि से ओझल नहीं हो पाता था।

उच्चकोटि के शिष्यों की शिक्षा के लिये, उनके सूक्ष्म आत्माभिमान को मृत करने के लिए आचार्य ने अपने शृंगेरी के निवासकाल में एक दिन एक अलौकिक योग-विभूति का प्रदर्शन किया।

गिरि नाम के एक निरक्षर शिष्य को वे बहुत प्यार करते थे। सेवा, भक्तिपरायणता, और साधन-निष्ठा की दृष्टि से गिरि की तुलना विरल थी, परन्तु उसको शास्त्रज्ञान थोड़ा भी नहीं था। फिर

भी अपनी दीनता और त्रुटि के कारण उसके चेहरे पर कभी भी परेशानी नहीं देखी गई।

शिष्यों और भक्तों के निकट शंकर अनेक समय उत्साह के साथ नाना दुरूह तत्वों की व्याख्या किया करते और अपने सम्पूर्ण मन-प्राण से उनकी वाणी सुनते। परन्तु गिरि इन सभी विषयों से एकदम निस्पृह थे। उनमें न तो कोई उत्सुकता थी और न कोई प्रश्न ही। विचार-वितर्क के अरण्य में प्रवेश न करके गुरुसेवा और गुरु की कृपा के ऊपर ही वह बराबर निर्भर रहा करते थे। गुरु-सेवा ही सभी विद्या और सभी सिद्धियों की जड़ है—यह उनकी उपलब्धि थी।

आचार्य द्वारा शास्त्र-व्याख्या के समय निरक्षर गिरि का दैनिक कार्य था—एक किनारे हाथ जोड़कर बैठे रहना। शास्त्र का एक अक्षर भी वह नहीं समझते थे।—समझना चाहते भी नहीं थे। किन्तु गुरु के अमृत-भाषण को कान से सुने बिना उनका एक भी दिन नहीं बीतता था।

उस दिन एक गुरुत्वपूर्ण तत्व की व्याख्या की जानेवाली थी। उत्कंठित शिष्यगण मौन भाव से बैठे थे। परन्तु गुरुदेव पुस्तक का बन्धन खोल ही नहीं रहे थे। वह किसकी राह देख रहे थे? सभी एक दूसरे का केवल मुख देख रहे थे और मन में अनेक बातें सोच रहे थे।

कुछ क्षणों के उपरान्त पद्मपाद ने साहस करके कहा- "प्रभु! हम सभी उपस्थित हैं। अब शास्त्र की व्याख्या प्रारम्भ की जा सकती है।"

शंकर ने स्थिर स्वर में कहा—"देख रहा हूँ तुम सभी वर्त्तमान हो। परन्तु गिरि कहाँ हैं? उसे तो देख नहीं रहा हूँ?"

सभी मौन! सेवक शिष्य गिरि की खोज करने पर देखा गया कि निकट ही नदीधारा में गुरुदेव के ऊपरी वस्त्र और कमंडलु आदि को वह धो रहा था। उसके आने में कुछ देरी होगी।

परन्तु आचार्य निश्चल भाव से बैठे रहे। पुस्तक खोलने की कोई चेष्टा नहीं।

पद्मपाद अपना कौतूहल अधिक छिपा नहीं सके। उन्होंने प्रश्न कर ही दिया, 'प्रभु! गिरि तो एकदम निरक्षर है। आज के इस दुरूह शास्त्र-तत्व के मर्म को समझने में क्या वह समर्थ होगा?''

आचार्य ने स्वाभाविक उत्तर टाल दिया. केवल मधुर स्वर में बोले --''उसके लिए तो हमलोगों को प्रतीक्षा करनी ही चाहिए। वह अत्यंत श्रद्धा से एक कोने में बैठकर प्रतिदिन हमलोगों की आलोचना सुना करता है।''

निर्दिष्ट कार्य के समाप्त होने पर गुरु के सामने गिरि हाथ जोड़ कर आ खड़े हुए। स्मित हास्य से शंकर ने उन्हें आदेश दिया रोज ही तो तुम शास्त्र-पाठ और व्याख्या सुनते हो। आज तुम ही हम-लोगों को कुछ श्लोक सुना दो। खुद ही रचना कर तुम यहीं बैठकर उनकी आवृत्ति करो।

यह कैसी आश्चर्यजनक बात! जिसका अक्षर से भी परिचय नहीं है वह संस्कृत में श्लोकों की रचना कैसे करेगा? गुरुदेव यह क्या कह रहे हैं?

सभी मौन बैठे हैं। गिरि के दोनों नेत्र भावावेश में निमीलित हैं। शीघ्र ही आचार्य के सामने करबद्ध होकर वह अपूर्व श्लोक-राशि का उच्चारण करने लगे। अबाध भाव से तोटक छन्द में गुम्फित गुरु-माहात्म्य बोधक सद्यः रचित स्तोत्रों का वह पाठ करने लगे। भक्त के प्राणों की अभिलाषा प्राणवन्त और अनुपम वाक्य-विभूति से ऐश्वर्य-मय—हो उठी।

इन श्लोकों को सुनकर लब्धप्रतिष्ठ शिष्यों के विस्मय की सीमा नहीं रही। उनलोगों ने समझा कि सर्वशक्तिमान गुरु की कृपा से गिरि को आज सभी विद्यायें और सभी अभिलषित चीजें प्राप्त हो गई हैं। नव स्फुरित वेदोज्ज्वला बुद्धि की प्रभा से आज उस जैसे मूर्ख की हृदय-कंदरा भी प्रकाशित हो गई है।

इस अलौकिक लीला के द्वारा शंकर ने अपने शिष्यों के बीच गुरु-भक्ति के माहात्म्य को प्रकट किया। यशस्वी शिष्यों के सूक्ष्म विद्याभि-मान के मूल में उस दिन एक जबर्दस्त आघात पड़े नहीं रहा।

संन्यास की दीक्षा लेने के बाद शंकर के इस सेवक शिष्य गिरि का नाम हुआ तोटकाचार्य। महाज्ञानी साधक के रूप में सम्पूर्ण भारत के वेदांती समाज में वह प्रसिद्ध हो गये।

श्रृंगेरी में बठकर शंकर उन दिनों अध्यापन में रत थे। सहसा विस्मित हो उठे। यह कैसी विचित्र अनुभूति! जिह्वा को बार-बार मातृ-स्तन्य के स्वाद की अनुभूति क्यों हो रही है?

ध्यानस्थ होकर उन्होंने अनुभव किया,यह उनकी माता के आह्वान की प्रतिक्रिया है। वे अंतिम शय्यापर पड़ी थीं। संन्यासी पुत्र को एक बार बिना देखे शांतिपूर्वक वह मर नहीं पा रही थीं।

शंकर के मन में यह बात आई। बाल्यकाल में उन्होंने माता को विश्वास दिलाया था कि अंतिम स्वांस त्याग के समय वह उनके चरणों में उपस्थित हो जायँगे। जहाँ कहीं भी वे रहेंगे, कालाडी की क्षुद्र कुटिया में उपस्थित होने में उनसे भूल नहीं होगी।

किंतु समय अत्यल्प। शीघ्र नहीं पहुँचने से, हो सकता है माता से सदा से लिए भेंट न हो। कहा जाता है कि योगबल से उन्होंने लंबी राह तय कर ली और शीघ्र ही माता के निकट उपस्थित हो गये।

२४ वर्षों की लंबी अवधि के उपरान्त माता-पुत्र का यह मिलन था। मृत्यु-पथ की यात्री विशिष्टा देवी के कपोल से आनंदाश्रु गिरने लगे। उनका अंतिम क्षण उपस्थित हो गया। अब जरा भी देरी नहीं थी।

अंतिम समय माता के सिराहने में बैठकर पुत्र भगवत्-महिमा का गान करने लगे। अद्वैत-ब्रह्मात्मवादी आचार्य के कंठ से सगुण ब्रह्म की अपूर्व स्तुति का गान सुना गया। उनके भाव-गंभीर स्वर में स्वर मिलाकर माता ने अपना अंतिम निवेदन प्रस्तुत किया। उसके बाद हमेशा के लिए उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं।

उनके नातेदार शंकर की ज्ञानमार्गी साधना के विरोधी थे। इसके पूर्व ही उनलोगों ने आचार्य को समाजच्युत कर दिया था। कुचक्रियों के एक दल ने इस बार सुन्दर अवसर समझ कर उनके विरुद्ध सबों

को उत्तेजित किया। पूर्ण बहिस्कार और अपमान प्रारम्भ हुआ। वृद्ध माता के श्राद्ध—कर्म के लिए किसी भी व्यक्ति की सहायता इस समय उन्हें नहीं मिली।

सभी संस्कारों से मुक्त संन्यासी के जीवन में इस बार मातृ-भक्ति का चरम रुप साकार हो उठा। माता का दाह—संस्कार शंकर ने केवल अपने हाथों से किया और किसी भी पारलौकिक अनुष्ठान में उन्होंने कमी नहीं की। कालाडी आकर अपनी माँ को दिये वचन का उन्होंने उस दिन पालन कर लिया।

इसके बाद शंकर सदा के लिए वेदान्त-धर्म के प्रचार को बाहर निकल पड़े। अलौकिक प्रतिभा और योग-सिद्धि की साकार प्रतिमा थे यह तरुण आचार्य। अनुगामी शिष्यों के त्याग, वैराग्य और ज्ञानैश्वर्य की सीमा नहीं थी। बुद्धि, व्यक्तित्व और नेतृत्व की शक्ति के क्षेत्र में वे एक—एक दिग्पाल थे। अपनी इस संगठित मंडली को लेकर आचार्य जब जहाँ उपस्थित होते थे, उच्च कोटि के साधक और पंडितों का दल उनके सिद्धान्त को स्वीकार कर लेता था मंत्र मुग्ध के समान सिर झुका देता था।

बौद्ध सिद्धान्त की धारा उन दिनों भारतभूमि में अत्यन्त दुर्बल पड़ गई थी। शंकर के अद्वैत-वेदान्तवाद ने इसपर अन्तिम प्रहार किया। वैदिक कर्म-कांड के प्रचार के माध्यम से समाज के जीवन में इस समय अनेक बेकार वाह्य अनुष्ठानों और अनाचारों का प्रवेश हो गया था। चारों ओर कुसंस्कार पुंजीभूत था। अध्यात्म-आदर्श से गिरकर मनुष्य ने अपनी दिशा भुला दी थी। शंकर के शुद्धाद्वैत-ज्ञान की स्निग्ध निर्मल धारा ने समसामयिक समाज की समस्त गंदगी को धोकर साफ कर दिया। ज्ञान—साधना की वाणी के बीच उन्होने एक ओर आत्म -तत्व का विचार और दूसरी ओर त्याग-वैराग्य तथा पवित्रता का नवीन आदर्श जनजीवन के सामने स्थापित किया। इस देश के अध्यात्म-समाज में उन्होंने पुनर्जीवन के दर्शन कराये। तीर्थांचल नगर और गाँव में नवीन प्राण का स्पन्दन जाग्रत हो उठा। एक सार्वभौम धर्मनायक के रूप में, युगाचार्य के रूप में, यह तरुण वेदान्तवादी संन्यासी सम्पूर्ण भारत में प्रख्यात हो उठा।

बदरीधाम से रामेश्वर, द्वारका से कामाख्या तक के अध्यात्म-साधना के सभी केन्द्रों ने शंकर को प्रेरित पुरुष के रुप में स्वीकार कर लिया था। उनके व्यक्तित्व और आदर्श के द्वारा वे प्रभावित हो गये थे।

शंकर के महाजीवन में लोकोत्तर बुद्धि और साधना-शक्ति के साथ अपूर्व संगठन-प्रतिभा और कर्म-कुशलता का संयोग हुआ था। सुसम्बद्ध मंडली मठ-स्थापन, और दसनामी संन्यासियों के पुनर्गठन-कार्य में उनकी विशेषता का परिचय आज भी मिलेगा।

भारत के चार प्रान्तों—विष्णु के चार धामों में शंकर ने अपने अध्यात्म-केन्द्रों की स्थापना की। एक के बाद एक प्रतिष्ठित हुआ—द्वारका का शारदा मठ, पुरी का गोवर्द्धन मठ, ज्योतिर्धाम का जोशीमठ और रामेश्वर का श्रृंगेरी मठ। आचार्य के स्वनामधन्य शिष्यगण—सुरेश्वर, पद्मपाद, तोटक और हस्तामलक ने क्रमशः इन सबों के उत्तरदायित्व-भार को ग्रहण किया।

गिरि-पुरी-भारती आदि दसनामी सन्यासियों को इन नव-निर्मित मठों के अधीन लाकर आचार्य ने उन सबों को संगठित और श्रृंखलाबद्ध कर दिया। उनकी इस संस्कार-व्यवस्था ने उन दिनों केवल संन्यास-आश्रम की ही शक्ति-वृद्धि नहीं की, बल्कि भारत के प्राचीन सामाजिक जीवन के सामने इसने एक परम कल्याणमय आदर्श उपस्थित किया।

कई वर्षों की परिक्रमा और आलस्यहीन कर्मसाधना के बाद आचार्य इसबार उत्तराखण्ड वापस आये हैं। गुरुदेव के आदिष्ट कार्य को उन्होंने समाप्त कर लिया है। वैसेही कर्म का व्रत भी प्रायः समाप्त हो चुका है। वेदान्त की भावधारा आज दिग्देशों में प्रचारित है। अद्वैत-ब्रह्म ज्ञान की पताका समग्र भारत में उड़ रही है।

ध्यान-गंभीर हिमाद्रि की गोद में इस बार युगाचार्य शंकर के चिर विश्राम की बारी है। प्रतीक्षित महालग्न का समय भी एक दिन उपस्थित हो गया। देवाधिदेव महेश्वर की आराधना में उन्होंने एक सुललित स्तवगाथा का निर्माण किया। उसके बाद अंतिम आराधना और अर्घ्य-निवेदन कर वे समाधिस्थ हो गये।

सामने सीमाहीन आकाश का विस्तार। रजत-शुभ्र हिमालय पहाड़ की चोटी, महामौन-स्वरूप में अवस्थित। अतरंग शिष्य आचार्य को चारों ओर से घेर कर बैठे हैं। शंका से उनके हृदय काँप रहे हैं। किसी को यह समझना शेष नहीं कि आचार्य की यह समाधि अब टूटने वाली नहीं थी। आसन्न महा विरह की बात का संकेत कुछ दिन पहले ही उन्होंने दे दिया था।

आत्मज्ञानी महासाधक ने आत्म-पूजा की आखिरी आरती पूरी कर सदा के लिए क्षणिक देह का परित्याग कर दिया। शिष्यों के कानों में उस समय झंकृत हो उठी आचार्य देव के द्वारा ही रचित आत्म-दर्शन की महावाणी—

किं करोमि क्व गच्छामि
किं गृह्णामि त्यजामि किम्।
आत्मना पूरितं सर्वम्
महाकल्पांबुना यथा॥

ओहो, महाप्रलय के जलोच्छवास द्वारा जैसे समग्र संसार व्याप्त रहता है, वैसे ही आत्मा से सारा विश्व आच्छादित है। इसलिए इस संसार में मुझे क्या करना है, मैं कहाँ जाऊँगा, कौन वस्तु लूँ और किस वस्तु का मैं परित्याग करूँ?

भक्त दादू

ग्रीष्म की गिरती हुई बेला। सारा आकाश मेघाच्छन्न हो रहा है। फिर, हवा के झोंके के साथ वृष्टि भी प्राय: आ ही पड़ी। अहमदाबाद के उपकंठ में चमारों के मुहल्ले के पास से साधक कमाल द्रुतगति से चले जा रहे हैं। आज की इस वर्षा को टालना बड़ा कठिन है। दो-एक बूँद जल देह पर पड़ते ही वह एक छोटे से गृह के सम्मुख थम गये। वृष्टि इतनी ज्यादा नहीं थी इसलिए बरामदे में न जाकर वह छाजन के तले ही खड़े रहे। गृह के भीतर एक मोची अपने कार्य में बहुत व्यस्त है। पानी ढोने के मशक की सिलाई कर वह अपनी जीविका अर्जित करता है। कमाल ने विचार किया, कुटीर के भीतर घुसकर क्यों इस गरीब को व्यर्थ व्यस्त करूँ? इस गरीब के अर्थार्जन में क्यों बाधा दूँ?

किंतु चर्मकार ने ताड़ लिया कि दरबाजे पर एक आगंतुक खड़ा है; झड़ और बादल में वह आश्रय खोज रहा है। व्यस्त भाव से बाहर आ, सलाम कर उसने कहा, "बाबा, यह घर एक गरीब चमार का है—क्या इसीलिए आप भीतर आने में संकोच कर रहें हैं?" "नहीं भाई, ऐसी बात नहीं। मैं तो दीनदयाल हरि का एक दीन दास मात्र हूँ। मुझे क्या कहीं अभिमान शोभा देता है? सोच रहा था, तुम्हारे काम में कहीं बाधा न पड़े और तुम्हारी मजूरी कम न हो जाय।"

मोची भी यों छोड़ने वाला नहीं। अभिवंदना कर कमाल से वह बार-बार भीतर आने का अनुरोध करने लगा। लाचार हो उन्हें गृहस्वामी के साथ भीतर आना पड़ा। एक टुकड़ा मलिन चमड़ा

झाड़कर गृहस्वामी ने उसे अपने विशिष्ट अतिथि को बैठने के लिए दिया। किंतु यह क्या अद्भुत व्यापार! आगंतुक उस आसन पर बैठते ही ऐसे व्याकुल भाव से रोने क्यों लगे? दोनों हाथ अंजलि-बद्ध हैं – अर्द्ध निमीलित नयन-युगल से अजस्र अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है। चर्मकार शंकित हो करुण कंठ से कहने लगा, 'बाबा मैंने जानबूझ कर आपके मन पर आघात नहीं किया। इस गरीब-खाने में चमड़े के टुकड़े को छोड़ आसन देने लायक और कुछ है ही नहीं।"

कमाल ने प्रकृतिस्थ होकर कहा, 'नहीं भाई, यह नहीं। तुमने चमड़े का आसन दिया है, इसके लिए मेरा यह रोना नहीं है। तुम्हें देख मेरी दृष्टि आज अपने हृदय के भीतर पड़ी और इसी कारण से यह अश्रु--राशि निकल पड़ी है। जो कुछ भी तुम्हारे पास है—सरल प्राण और सच्चे प्रेम से उसे ही तो तुमने मेरे लिए बिछा दिया है। अपने अंतस्तल में ध्यान कर मैंने देखा – इतना सहज इतना स्वाभाविक तो मैं आजतक भी नहीं हो पाया। आज के दिन मैं तुम्हारे छाजन तल में खड़ा था, मेरे प्राण-प्रभु भी इसी भाव से रोज इस जीवन के द्वार पर खड़े रहते हैं और रोज ही वह व्यथातुर अंतर से लौट--लौट जाते हैं। जो कुछ भी सामान्य वस्तु मेरे पास है, उसे तो मैं इस तरह सहज-भाव में नम्र और निरभिमान होकर उनके सम्मुख बिछा नहीं पाता हूँ। अहंकार की कितनी सूक्ष्म ग्रंथियाँ जड़ी हुई हैं मेरे इस जीवन में, साधना में! इसीसे तो मेरे प्रेम-भिखारी प्रभु बार-बार लौट जाते हैं। अपने ही दोष से उन्हें इस रीति से लौटा देता हूँ। इन्हीं बातों की याद आने से तो आज वेदना के अश्रु झर रहे हैं।"

सरल प्राण, निरक्षर चर्मकार ने साधक कमाल की इस हृदय--वेदना और भाववेग के अनेकांश को सम्भवतः समझा ही नहीं। किंतु उसके सरल स्वाभाविक जीवन में अश्रुजल ने अज्ञात भाव से जैसे एक अस्फुट स्पंदन को जगा दिया। उसने निःसंकोच-भाव से प्रश्न किया, "किंतु कौन है आपका वह प्रभु?"

'वत्स, सब के जो प्रभु हैं वही हैं मेरे भी जीवन-प्रभु!" "वह

क्या, ऐसा होने से, मेरे भी प्रभु हैं ? मेरे इस जीवन के चौखटे पर भी क्या वह इसी भाव से अपेक्षा कर रहे हैं ?"

"हाँ जी, हाँ, सब के ही वह स्वामी हैं सब के ही जीवन-द्वार पर अथक धैर्य्य से वह प्रतिदिन अपेक्षा करते हैं। तुम्हारे लिए भी कर रहे हैं। शुद्ध होकर, प्रेम में गलकर, सहज भाव से उनका आह्वान किया जाता है। यही तो मानव साधना का मूल मंत्र है।"

बाहर की वर्षा इस समय तक थम गई। किंतु चर्मकार के मर्मस्थल की वर्षा कहाँ थम रही है! उसके दोनों उदास नयनों से अविराम आँसू झर रहे हैं। संध्या के घने-अंधकार में साधक कमाल ने आश्रयदाता मोची को अपना हार्दिक आशीर्वाद देकर बिदा ली। उस दिन के वह आशीर्वाद-पूत चर्मकार ही भारत-विश्रुत, मध्ययुग के अन्यतम मर्मी साधक दादू हैं और उनके घर में आगत यह कमाल ही हैं लोक-गुरु कबीर के पुत्र और उनके सार्थक नाम शिष्य। जैसे एक दुर्जेय दैवी विधान से प्रेरित हो कमाल ने दादू के घर में प्रवेश किया और उनके अंतर को भगवद् प्रेम के रंग से रंजित कर दिया। वह रंग आगे चलकर समस्त उत्तर भारत के भक्त-समाज में फैल गया।

कमाल तो चले गये, पर दादू के हाथ का काम अभी अधूरा ही था। वह उसे पूरा करने को बैठ गए। आखिर यही तो उनकी जीविका थी। किंतु मन जैसे कहीं उड़-उड़ जाता था। हाथ का सुई-तागा अतर्कित ही रुक जाता है और अंतस्तल में ध्वनित होता है अस्फुट विरह-गुंजन, "मेरे जीवन-मरण के प्रभु! युग-युग से इसी तरह क्या तुम मेरी राह देखते खड़े हो? सहज हो, एक निष्ठ हो, कब तुम्हें अपने हृदय में स्थापित कर सकूँगा?"

दयालु कमाल दादू के जीवन के रुद्ध-श्रोत को उन्मुक्त कर गये। भक्त ने बार-बार इसीसे उनके निकट जाकर प्रणाम किया और बोले, "बाबा, प्रभु की कथा कहकर आपने मुझे पागल बना दिया है। इस बार उन्हें लाकर हृदयासन पर बैठाने का उपाय कर दो। आलोक का संधान कहाँ पाऊँगा, कृपा करके बता दो। मेरे चारों ओर केवल

पुंजीभूत अंधकार है।" साधक कमाल ने उन्हें तुरत आश्वासन देकर कहा, "चिंता करने की जरुरत नहीं। जो प्रभु हैं, वहीं गुरु भी हैं। व्याकुलता और प्रेम में जैसे-जैसे वृद्धि होगी, वैसे-वैसे ही साधना का पथ भी सुस्पष्ट और सुगम होता जायगा। आलोकोद्भासित हो प्रभु तब स्वयं दर्शन देंगे।"

जन्म-जन्मांतर की तपस्या की अग्नि संचित हुई पड़ी थी—इस कंगाल चर्मकार के जीवन। में इसके ही उत्ताप से वह समग्र जीवन चंचल हो इधर-उधर भटकता आ रहा था। मर्मी साधक कमाल के स्पर्श ने उनके भीतर आमूल परिवर्तन कर दिया और उसने प्रेम—साधना का व्रत ले लिया। इसका निदर्शन दादू की वाणी में इस प्रकार मिलता है :—

गैव माँहि गुरुदेव मिला
पाया हम परसाद।
मस्तक मेरा कर धरा
दख्या अगम अगाध।

रंध्रहीन तिमिर भेद कर मेरे गुरु प्रकाशित हुए, मैंने उनका प्रसाद लाभ किया। मेरे सिर पर हाथ रख उन्होंने आशीर्वाद दिया और मैंने प्राप्त की अगाध दीक्षा।

१५४४ ई० में फाल्गुन मास की शुक्लाष्टमी' तिथि बृहस्पतिवार के दिन भक्त दादू का जन्म हुआ था—एक नितांत दीन—हीन मुसलमान परिवार में। सम्पन्न परिवार में शिक्षा-दीक्षा की जो सुविधा रहती है, वह किसी दिन भी उन्हें प्राप्त न हुई। इस अशिक्षित चर्मकार बालक में ऐसा तो कुछ भी नहीं था जो उसके उत्तर जीवन के विकसित और पुष्पित रूप की सूचना देता।

दादू की चरम सम्पदा थी उनके अंतर का नितांत सहज प्रेम और निरभिमानता। इसीके मध्य से मर्मी साधक की रसोज्जवल धारा फूट पड़ी। दुर्भाग्य की बात है कि इस परम भागवत के बाल्य-जीवन संबंधी बातों की जानकारी बहुत कम ही प्राप्त है। केवल इतना

ही ज्ञात है कि उनके पिता का नाम था लोदी और माता का बंसो बाई। चमार-पल्ली के चरम दारिद्र्य और अशिक्षा पूर्ण वातावरण में रहने वाले दादू को एकांत-भाव से अपने सहज गुणों पर ही निर्भर रहना था। बाल्यकाल और किशोरावस्था के बाद यौवनकाल में भी कोई असाधारण विशेषता उनमें नहीं पायी गई। उनका जीवन दुःख-दैन्यपूर्ण साधारण गृहस्थ का जीवन था। पत्नी 'हावा' एवं चार पुत्र-पुत्रियों का उनका परिवार था। अनित्य और दुःखमय कहकर इस संसार से दादू ने कभी भी विरक्ति नहीं दिखलाई। असत् और सत् उनके जीजन में एकाकार हो रहे थे।

दादू के ज्येष्ठ पुत्र गरीब दास उत्तरकाल में मर्मी साधक-रुप में प्रसिद्ध हुए। कनिष्ठ पुत्र मस्किनदास और दोनों कन्याएँ-ननी बाई और माताबाई भी आध्यात्मिक जीवन के पथ में बहुत दूर तक अग्रसर थीं।

दादू के जीवन में उस दिन नूतन आलोक का प्रवेश हुआ। वह घर से बाहर हो पड़े। नाना देश-देशान्तर का पर्यटन किया। काशी एवं बिहार और बंगाल के अनेक स्थानों में वह भटकते रहे। इस बीच वह सहज मत, शून्यवाद, निरंजनवाद नाथपंथ आदि के साधन-तत्वों का आस्वादन करते जाते थे। कहा जाता है कि नाथ पंथ की योग-साधना में दादू ने एक समय असामान्य सफलता अर्जित की और 'कुम्भारीपार' नाम से वह नाथ-योगियों के बीच प्रसिद्ध हो गये। 'कुम्भारीपार' शब्द था इस पंथ के एक प्राचीन महायोगी की योग-विभूतियों का द्योतक। दादू पंथी योगियों के बीच आज भी कहीं कहीं कुम्भारीपार रचित कितने ही ग्रंथ सयत्न, रक्षित हैं। इनमें कुछ के नाम हैं—अजपा गायत्री ग्रंथ, विराट पुराण, योग शास्त्र, अजपा ग्रंथ और अजपाश्वास।

साधक दादू ने अपने परिव्राजक जीवन के कुछ दिन बंगाल में विताये थे। इस समय बंगाली नाथपंथी योगियों के सान्निध्य से वह बड़े उपकृत हुए। दादू-पंथियों के वाणी संग्रह में बंगाली नाथ-योगियों के भाव और भाषा का गहरा प्रभाव मिलता है: —

दादू हिन्दू तुरकन होइबा
साहब सेती काम।
षड़दर्शन के संगन जाइबा
निरपथ कहिबा राम।

भारत के विभिन्न अंचलों में परिभ्रमण के बाद दादू राजस्थान के साँभर नामक स्थान पर आकर रहने लगे। शिष्य-मंडली और अपने परिवार के साथ पूर्णांग और सामंजस्यपूर्ण जीवन बिताने लगे। स्वजन वर्ग के साथ वह स्वयं भी प्रतिदिन जीविकोपार्जन के लिए परिश्रम करते। उस समय शिष्यगण समेत उनके परिवार के प्राणियों की संख्या कम न थी। इसलिए कष्ट से ही उनका जीवन-यापन होता था। परन्तु दादू इसमें भी श्रीभगवान का हाथ देखते। उनका दृढ़ विश्वास था कि—

दादू रोजी राम है
राजिक रिजक हमार।
दादू उस परसाद सौं
पोष्या सब परिवार।

अर्थात्, हे दादू राम ही मेरा प्रतिदिन का अन्न हैं, वही मेरी वृत्ति हैं। वही मेरी जीविका हैं। उनका प्रसाद पाकर ही तो मेरे समस्त परिवार का भरण-पोषण होता है।

दादू मंदिर-मस्जिद की साम्प्रदायिक सीमारेखा को नहीं मानते थे। उनके निकट हिंदू-मुसलमान का भेद भी कभी का विलुप्त हो गया था। उन्होंने सकल मानव-जाति के कल्याणार्थ सत्यानुसरण का सहज पथ खोल दिया था। सनातन पंथी हिंदू साधक और मुसलमान उलमा आकर कहते, "दादू, धर्म-साधना या सेवा-कार्य किसी एक सम्प्रदाय में रहकर ही तो सम्भव है। तुम किस सम्प्रदाय के हो?" दादू कहते, "भाई! चन्द्र, सूर्य, पृथ्वी, आकाश, हवा, जल ये सभी तो निरंतर सेवा-कार्य में रत रहते हैं। कहो तो वे सब किस दल या सम्प्रदाय को मानने वाले हैं?"

दादू का समस्त जीवन परमेश्वर की सहज करुणा और प्रकाश से ओतप्रोत था। वह परमेश्वर को छोड़कर न तो अन्य किसी को जानते और न जानना चाहते। वह जिज्ञासुओं से कहते, 'अलख इलाही जगत् गुरु दूजा कोई नाँहि।"—जो अलख था वही ईश्वर और गुरु है।

साधक दादू के अनुयायियों और अनुरागी भक्तों को लोग ब्रह्म-सम्प्रदायी कहा करते थे। दादू सनातन पंथी साधक नहीं थे। शुद्ध ज्ञान-मार्ग को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उनकी साधना प्रेम और भक्ति से रसान्वित थी। अपने आध्यात्मिक ऐश्वर्य के आलोक में वह अपने शिष्यों और भक्तों के साथ नृत्यगीत में विभोर हो जाते। गुजरात के काठियावाड़ अंचल में भ्रमण करते समय दादू एक बार भजनिया दल के मंजीरा, वाद्य एवं नृत्य को देखकर मोहित हो गये थे। उसके बाद वह भी अपने अनुयायियों के बीच बड़े उत्साह से इस नृत्य-गीत का सहारा लेने लगे।

किन्तु इस नृत्य-गीतमय साधन-भजन में दादू अन्तर की आकुलता और भावमयता पर विशेष जोर देते। एक बार एक प्रसिद्ध संगीत-शिल्पी दादू की कीर्त्तन सभा में गाना गा रहे थे। उनकी संगीत-शैली में तान और आलाप के करतब की अत्यधिक प्रधानता थी। भक्त दादू ने उस्ताद को बुलाकर कहा, "भाई प्रभु की स्तुति क्या इस तरह से गायी जाती है? सदा इस भाव से गान करो कि उनका ही प्रकाश सदा प्रमुख रहे! सतर्क रहना कि कभी भी तुम्हारे अहं का प्रकाश कहीं बड़ा न हो उठे। ऐसा होने से भजन-स्तुति के साथ-साथ तुम्हारी यह ललित कला भी व्यर्थ हो जायगी।"

एक बार नारायण ग्राम में बड़े समारोह से होली मनाई जा रही थी। प्रसिद्ध गायक बखना जो सोत्साह वसंत का गान गाकर सारे जलसे को मस्त कर रहे थे। दादू ने आवेग भरे कंठ से हठात् शिल्पी बखना को कहा, "भाई, आज इस वसंत को अपने संगीत में मूर्त्त करने का जो कुछ प्रयास आपने किया है, सब अर्थहीन हो रहा है।

समस्त उत्सव ही जैसे व्यर्थ है—यदि प्रियतम प्रभु के संग मिलन न हुआ तो जितनी कुछ शोभा और नाचगान हैं, सब व्यर्थ हैं? 'ऐसी देह रची रे भाई रामनिरंजन पाबो आई'—"अरे मेरे भाई, ऐसे आनंद की रचना करो जिसमें प्रभु का गुनगान हो।" मालूम पड़ता है कि उस दिन उस्ताद बखना के जीवन का निर्दिष्ट शुभ लग्न आ गया था। इसीसे दादू की मधुर प्रेममय वाणी और अश्रु-सजल दोनों नयनों ने उस संगीत-शिल्पी को झकझोर दिया। वह ईश्वर की नाम-सुधा में मस्त हो गये। दादू-परमाश्रय की प्राप्ति के बाद एक श्रेष्ठ भक्त के रूप में खूब प्रसिद्ध हुए।

परवर्त्ती काल में दादू ने राजस्थान के अम्बर शहर में चौदह वर्षों तक वास किया। इस काल में उनके अनुगामी साधकों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। शिष्य और भक्त-दल दिन भर अपने गार्हस्थ्य-धर्म का पालन करते किन्तु प्रति संध्या और रात्रि दादू के नेतृत्व में इकट्ठे होते। कभी-कभी भिन्न-भिन्न धर्म के आचार्य और उलमा भी वहाँ आ जाते। धर्म-चर्चा और भजन-कीर्त्तन से इस मिलन-सभा में अध्यात्म की अमृतधारा बह जाती। यह स्थल मानों भक्तों और साधकों का मिलन-केन्द्र था। तत्व और साधना के आदान-प्रदान का एक उदार क्षेत्र था। दादू-पंथी इसे संज्ञा देते अलख दरीबा अर्थात् अलख निरञ्जन के आनन्द-हाट की।

एक तरफ आनन्द-हाट और इष्ट-गोष्ठी चलती, दूसरी ओर दादू आंतरिक साधना के गम्भीर रस में निमज्जित रहते। प्रेम की साधना में उस समय मानो उन्होंने एक बार ही सर्वस्व की बाजी लगा दी हो। सकल आकर्षण, सकल अभिमान त्याग कर दादू अपने स्वामी में डूबे रहते। वह अपने को एकदम ही निःशेष कर देना चाहते थे। उनकी समसामयिक वाणी में पाया जाता—

दादू है को भय घणाँ
नाँही कौं कुछ नाहि,
दादू नाही होइ रहु
अपने साहिब मांहि।

हे दादू ! जिसके पास अनेक-कुछ है उसे भय भी अनेक है; जिसके पास कुछ नहीं, उसे भय भी कुछ नहीं। हे दादू ! अपने स्वामी में इसी प्रकार शून्यवत् वास करो—अपनी सत्ता और मैं को निःशेष कर दो।

परम भागवत की दृष्टि से साधना के जिस मूल तत्व की उपलब्धि होती है उसे भी वह भक्तों को सुनाते—

जहाँ राम तँह मैं नहीं;
मैं तँह नाहीं राम।
दादू महल बारीक है;
दोउ कुं नाही ठाँउ॥

'जहाँ मेरे राम हैं (ईश्वर हैं) वहाँ 'मैं' पन का लेश नहीं, और जहाँ 'मैं' हूँ वहाँ राम नहीं। हे दादू, अत्यन्त सूक्ष्म तथा सँकरा है, वह श्री मन्दिर—उसमें उन दोनों के लिए जगह नहीं।'

भगवान के साधन की इस शुद्ध सत्ता का परम-मिलन ही तो चिर-प्राप्ति है। इसी की प्रतीक्षा में भक्त दादू का हृदय आकुल था। और इसी एक निष्ठा के फलस्वरूप उनके साधन-जीवन में अपूव शुद्धि आ गई, प्रेम-रस की सुधा धारा भी उद्‌गत हो उठी। किंतु प्रेमास्पद का दर्शन कहाँ ? साधक दादू की समग्र सत्ता में उस समय सकरुण आवेदन ध्वनित हो रहा है—

दादू पेआला प्रेम का
साहिब राम पिलाई।
परगट पेआला देहु भरि
मिरतक लेहु जिलाई॥

'हे भगवान, हे मेरे स्वामी, प्रेम का प्याला तो तुमने पान कराया किंतु, अब अपना दिव्य दर्शन देकर इस प्याले को पूर्ण कर दो, इस मृतक में इस बार जीवन-दान करो।

दादू की यह प्रेम साधना आत्म निवेदन माधुर्य से भरपूर थी।

एकान्त शरणागति और एकनिष्ठा के सहारे वह उसी परम एक में अपने को निःशेष कर देना चाहते थे। सैकड़ो वर्ष बाद आज भी इस मरमी साधक का आकुल आवेदन समग्र भारत के भक्त-समाज में प्रतिध्वनित हो रहा है :–

तुम्ह कू हमसे बहुत है
हम कू तुमसा नाहिँ।
दादू कू जिन परिहरै
रहु नैनहूँ माहिँ।
तुम्ह थै तरहीँ होए सब
दरश परश दर हाल।
हम कबहूँ ना होइगा
जे बीत हँ जुग काल।
तुमही तेँ तुम्ह कू मिले
एक पलक मैं आई।
हम कबहूँ न होइगा
कोटि कलप जे जाइ।

'हे राम ! मेरे समान तुम्हारे अनेक हैं, किंतु तुम्हारे समान तो मेरा और कोई नहीं। दादू का कभी परित्याग न करना, सदा मेरे नयनों में रहना। तुमसे ही सब कुछ होगा– दरस-परस और प्रेम-वैवश्य। मैं जानता हूं,युग-युगान्त काटने पर भी मुझ से कुछ न होगा।प्रभु-तुम्हारी कृपा होने से एक पल में मैं तुम्हें पा लूँगा। किंतु मेरी शक्ति द्वारा कोटि-कल्प काल में भी यह नहीं होगा।'

प्रियतम के साथ मिलन की यह साधना, दुष्कर तपस्या और दैन्यमय जीवन का पथ नहीं– वल्कि रस-मधुर प्रिय-पथ-यात्रा है। दादू के अंतरंग शिष्य रज्जब की साधना और आचरण में यह रसोज्ज्वल तत्त्व खूब प्रस्फुटित हुआ है। उनकी प्रेम-साधना में भाव-मयता के साथ मिश्रित थी प्रियतम के अनुरूप साज-सज्जा। इस वेश-भूषा के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर वह दादू का विख्यात अर्थ-भरा वाक्य कहते, "भाई, प्रियतम के संग क्या दीन-हीन, अशुचि

वेश में मिलना शोभादायक है ? प्रेम, आनंद और ऐश्वर्य—यही तो इस महा-मिलन का पाथेय है।"

भक्त दादू की प्रार्थना में उनका अपना प्रेम-मधुर जीवन-दर्शन जैसे मूर्त्त हो उठा है—

आशा अपरंपार की
बसि अंबर भरतार।
हरे पटंबर पहिरि कटि,
धरती करै सिंगार॥
बसुधा सब फूलै फलै,
पिरथी अनंत अपार।
गगन गरजि जल-थल भरै
दादू जै जै कार॥
काला मुँह करि काल का,
साई सदा सुकाल।
मेघ तुम्हारे धरि घणाँ
बरसहुँ दीनदयाल॥

अर्थात् आकाश में बसे हुए उस स्वामी के निर्देश से हरी साड़ी पहनकर धरती ने शृंगार किया है। समग्र बसुधा आज थल और फूल से शोभित है। अनन्त-अपार पृथ्वी के जल-स्थल को गगन गरज कर भर रहा है। दादू कहते हैं—जय हो, प्रभु की। काल का काला मुँह करके मेरे स्वामी तुम सदा ही सुकाल रूप से विद्यमान रहते हो। तुम्हारे आलय में है अजस्र घन मेघ की राशि, हे दीन दयालु! आज उसे बरसाओ!

विरह की ज्वाला और साधना के मंथन से भक्त दादू के जीवन में परम प्रार्थित अमृत उद्‌गत हुआ—भगवत्-दर्शन पा वह कृतार्थ हुए। इस साधना और सिद्धि का इंगित दादू अपनी वाणी में छोड़ गये हैं।

मथि करि दीपक कीजिये
सब घट भया प्रकाश।

दादू दीया हाथ करि
गया निरंजन पास ॥

इस साधन-सत्ता रूप घट का मंथन कर प्रदीप प्रज्वलित करो। उसके आलोक से सारा घर ही प्रकाशित हो गया। दादू उसी प्रदीप हस्त से निरंजन के पास पहुँच गया।

साधना की सार्थकता ने इस बार दादू के जीवन को रूपांतरित कर दिया। सद्गुरु की कृपा से अतीन्द्रिय जीवन का सद्-द्वार उनके सम्मुख उन्मुक्त हो गया। महा-जीवन पद्म रंग और रस से भरकर खिल उठा। उसके सौरभ से चारों दिशाएँ आमोद में डूब गईं। अज्ञात आकर्षकण से खिंचकर चतुर्दिक से पुण्य-लोभी मुमुक्षु-दल लुब्ध भ्रमर के समान आ-आकर भीड़ करने लगे। एक के बाद एक भक्त-साधक-दल ने उनका आश्रय ग्रहण किया। दादू के इन प्रधान शिष्यों की संख्या बावन थी। उनके बीच उल्लेख-योग्य हैं—रज्जबजी, सुन्दर दास (छोटे), जाइसा, माधो दास, प्रयाग दास, गरीब दास, बखना जी, बनवारी दास, शंकर दास, जन गोपाल, जगजीवन इत्यादि। सम-सामयिक दादू-पंथियों की भाषा में ये सब एक एक 'खंभा' या साधन-स्तम्भ' के प्रवर्त्तक माने जाते हैं।

साधना के उत्कर्ष और सार्थकता के साथ प्रत्येक महापुरुष के जीवन में अतिप्राकृत शक्ति-लीला भी स्फुरित होती है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में जो नितांत अलौकिक और विस्मयकारी लगता है, वही लोकोत्तर मानवों के जीवन में नितान्त सहज और स्वाभाविक हो उठता है। परम भागवत दादू के जीवन में भी इस ज्योति का विकिरण बीच—बीच में देखा जाता है। दादू-पंथियों के ग्रंथ में उनके विभूति प्रकाश के नाना उल्लेख पाये जाते हैं।

एक बार भक्त दादू चातुर्मास्य-अनुष्ठान के उपलक्ष में आँधी-ग्राम में जाकर कुछ दिन रहे। उन दिनों वहाँ वर्षा का कोई लक्षण दिखाई नहीं पड़ता था। सूखा और अकाल के भय से जन-साधारण

अत्यन्त आतंकित हो उठे थे। सब मिलकर साधक दादू के पास गये। कहा जाता है कि दादू की एक विनतोपूर्ण भगवत्-प्रार्थना से वहाँ अविलम्ब वर्षा हो गई।

टोंक अंचल में एकबार एक विराट महोत्सव अनुष्ठित हुआ। अनेक भक्त और साधु-सन्तों के आगमन से वह स्थान मुखरित हो उठा। ज्यादा जन-समागम के फल से वहाँ खाद्य-द्रव्यों की कमी पड़ गई। प्रबन्धकों ने भीत हो भक्त प्रवर दादू की शरण ली। उनकी कृपा के सिवा इस विपद् से उद्धार पाने की कोई भी आशा नहीं थी। दादू-पंथियों के बीच प्रसिद्ध है कि दादू ने अपने उपास्य को भोग लगाया और उधर भोज्य का भंडार जैसे अक्षय हो उठा। महोत्सव के प्रबन्धकों के आयोजन के अनुपात से उस दिन अभ्यागतों की सख्या कई गुना अधिक थी। किन्तु दादू के अलौकिक शक्ति-फल से उस दिन कोई असुविधा न हुई।

दादू स्वयं इस प्रकार विभूति या सिद्धि-प्रदर्शन के पक्षपाती नहीं थे। केवल विशेष-विशेष अवसर पर ही भक्तों और शिष्यों के मध्य वह इसका प्रकाश करते। पतिव्रता के समान एकान्त निष्ठा और स्मरण-मनन ही इस परम भागवत का स्वभाव-धर्म था। स्वामी के साथ युक्त होने ही से तो उनके सभी ऐश्वर्य करतलगत हो जाते हैं—दादू की वाणी में यही सुर स्फुरित हुआ है—

निमित्त हरि भजे
भगति निमित्त भजि सोई।
सेवा निमित्त सांई भजे
सदा सजीवनि होई।
हिरदै राम रहै जा जनकै
ताकौं उना कौन कहै।
अठ सिधि नौ निधि ताके आगे
सम्मुख ठाढ़ो सदा रहै।

अर्थात् किसी उद्देश्य से हरि का भजन करना हो तो भक्ति के उद्देश्य से ही भजन करना चाहिए। सेवा के उद्देश्य से स्वामी को

भजने से जीवन सदा सार्थक सिद्ध होता है। जिसके हृदय में राम अधिष्ठित हैं, उसे कौन छोटा कह सकता है ? अष्टसिद्धि, नव-निधि सब कुछ उस भक्त के सम्मुख सदा आज्ञावान के समान खड़े रहते हैं।

दादू कहते हैं—'योग समाधि सुख सुरति सें सहजैं-सहजै आर।" एक ओर योग-समाधि का साधन-पथ और दूसरी ओर आनन्द-सुरति; इन्हीं के मध्य वर्त्ती सहज-पथ का दादू ने प्रधानतया अनुसरण किया। किन्तु यह महाप्रेमी क्या योग-साधना की पूर्णतया अवहेलना करते थे ? उनकी एक विशिष्ट वाणी में इस पर प्रकाश पड़ता है—"हे दादू ! सबद (शब्द) हुई सूई, प्रेम ध्यान हुआ तागा, इस काया को ही बनाया अपनी कंथा। योगी लोग युग पर युग इसी कन्था का परिधान करते हैं, यह कभी भी छिन्न नहीं होता।"

दादू उस समय अम्बर में वास कर रहे थे। उनके चारों ओर मुमुक्षु हिन्दू-मुसलमान साधकों की भीड़ लगी रहती थी। एक मरमी सिद्ध-पुरुष के रूप में उस समय सारे उत्तर भारत में उनकी ख्याति फैल चुकी थी। यह खबर सम्राट् अकबर के कानों में भी पहुँचते देर न लगी। साधु संतों के दर्शन के उत्साही सम्राट् ने दिल्ली से उनके निकट दूत भेजा। दादू के निकट उपस्थित हो इस दूत ने निवेदन किया, "सम्राट् आप के साथ साक्षात् करने के बड़े अभिलाषी हैं।" भक्त दादू के निकट जैसे यह एक रहस्यमय प्रस्ताव हो। धीर कंठ से उन्होंने उत्तर दिया, "भाई मैं समझ नहीं पाता कि मेरे साथ दिल्ली के बादशाह के साक्षात् करने का क्या प्रयोजन हो सकता है। मुझे लेकर इतनी खींचा-तानी क्यों ? मेरे लिए तो जाना सम्भव नहीं है।"

दूत के मुख से सारी बात सुनकर सम्राट् ने उसे कहा, "इस महा साधक के संग इस तरह की बात कर तुमने भला नहीं किया। तुम फिर वहाँ जाओ और उनसे निवेदन करो कि भागवत्- प्रसंग-लुब्ध अकबर आपके दर्शन की प्रार्थना करते हैं। कब और कहाँ भेंट होगी, आप दया कर बतावें।"

दादू ने इस बार स्पष्ट बात कहने में इतस्ततः नहीं किया। कहा, "ऐश्वर्यमय दिल्ली जाकर मिलने से सम्राट् उन्हें ठीक तरह पहचान नहीं सकेंगे। फिर वैसे उन्हें भी कम असुविधा नहीं होगी। उस भीड़ और आडम्बर में अपने को खोज पाना कठिन होगा।' अकबर ने इसके उत्तर में कहलाया, "राजधानो के मायावी वातावरण में आपको बुलाऊँ ऐसा मूढ़ मैं नहीं। सागर से एक पात्र जल लाकर सागर का रूप क्या मैं देख सकूँगा? उत्तरा खण्ड की एक शिला लाकर ही हिमालय की महिमा क्या समझूँगा? मैं आपके अपने निजस्व परिवेश में, भक्त साधकों के केन्द्र-स्थल में ही आपके दर्शन करने जाता, किंतु मेरा दुर्भाग्य कि मैं इस देश का सम्राट् हूँ। मेरे आपके यहाँ जाने से बावेला मच जायगा। आपकी शांति में बाधा पड़ेगी और आपका साधन स्थल भी अशांत हो उठेगा। आप या मैं किसी को भी स्वस्ति नहीं मिलेगी।' अंत में स्थिर हुआ कि दादू और सम्राट् अकबर का साक्षात्कार होगा फतेहपुर-सिकरी के निकट एक निर्जन-प्रांतर में।

दादू कई अंतरंग शिष्यों के साथ सम्राट् से मिलने को चले। रास्ते में एक भक्त उत्साह से भरकर कहने लगे—"इस अलख पंथी ब्रह्म-सम्प्रदाय के कार्य्य में सम्राट् की सहायता पाने से आपको कितनी सुविधा होगी! प्रचार और संगठन का कार्य कितनी शीघ्रता से सम्पादित होगा।" दादू ने गंभीर हो उत्तर दिया, "भाई,जिसकी प्रतिष्ठा करने का व्रत हमने लिया है, उसके ऊपर ही पूर्णतः निर्भर रहने का सबसे ज्यादा प्रयोजन है। इसके अलावे सोचो तो जरा, मैं ही यदि प्रभु को त्याग दूँ, मैं ही यदि उनके नाम की घोषणा और प्रतिष्ठा से विरत रहूँ, तब कौन उनकी ओर अग्रसर होगा? परम-सत्य धीर गति से ही तो आत्म-प्रकाश करता है! इसके लिए राजा-रजवाड़ों की सहायता की कोई आवश्यकता नहीं।"

दादू के साथ सम्राट् अकबर का धर्मालाप प्रायः चालीस दिनों तक चलता रहा। यह गाथा विशिष्ट दादू-भक्तों के लेखों में सन्निविष्ट है। बादशाह का मन ज्ञान पिपासा से भरा था। वह प्रश्न पर प्रश्न करते। अकबर ने जिज्ञासा की, "महात्मन्! मुझे बतावें, इस विश्व-

ब्रह्मांड-सृष्टि का क्रम क्या है? अल्लाह ने पहले किस वस्तु को— आकाश, वायु, जल अथवा भूमि को पैदा किया?"

दादू ने सहास्य उत्तर दिया, "यह क्या सम्राट्! मेरे प्रभु की शक्ति को इस तरह सीमित क्यों कर रहे हैं? सर्व शक्ति के जो आधार हैं, उनके लिए कौन आगे, कौन पीछे का प्रश्न ही क्यों उठता है?"

एक सबद सब कुछ किया,
ऐसा समरथ सोई।
आगें पीछें तौ करै
जे बलहीना होई।

अर्थात्, मेरे प्रभु ऐसे समर्थ हैं कि वह एक आनंद-ध्वनि से ही समस्त-कुछ की एक साथ ही सृष्टि कर सकते हैं। आगे-पीछे की तैयारी करने का प्रश्न तो उसके सम्बन्ध में ही उठता है जो बल-हीन हो।'

कथा-प्रसंग में अकबर ने कहा, 'साधारण लोगों के बीच एक प्रचलित धारणा है कि संत कबीर अपनी साधना के द्वारा अध्यात्म-तत्त्व का जो कुछ मक्खन था, मथकर ले गये। इस कथन का अर्थ क्या है?" कबीर द्वारा प्रचारित मरमी साधना ही दादू की साधना का उत्स था, यद्यपि उन्होंने अपने सामर्थ्य से इसकी धारा को स्पष्ट और विस्तृततर किया था। अतः ये कबीर को गुरु की तरह मानते थे। उनके प्रति इनकी श्रद्धा की सीमा नहीं थी। किंतु अकबर के इस प्रश्न से सत्यनिष्ठ साधक उद्दीपित हो उठे। उत्तर दिया, 'यह कौन सी बात! कोई कितने ही बड़े साधक क्यों न हों इस भगवत-रस-सागर को कौन उलीच कर खाली कर सका है? पक्षी अपने चंचु में सागर का कितना भाग ले सकता है? यह केवल साम्प्रदायिक बुद्धि की बात है, संकीर्ण चित्त की कल्पना है। यद्यपि कबीर मेरे गुरु-स्वरुप हैं, फिर भी मैं गुरु के नाम पर अन्याय को प्रश्रय नहीं दे सकूँगा। अपने गुरु को लाठी बनाकर दूसरे का माथा फोड़ने जाना— यह तो है अपने ही गुरु का चरमतम अपमान।"

बादशाह के साथी पंडितगण इस निरक्षर चर्म्मकार के ज्ञान से विस्मित हो गये। अंत में उन्होंने दादू से प्रश्न किया, "सब समझा, किन्तु दादू! इसबार स्पष्ट कर बताओ—तुम्हारा शास्त्र कौन है? साधना की पद्धति और मंत्र क्या है?" उत्तर मिला, "अपने इस काया-महल में ही मैं नमाज पढ़ता हूँ—वहाँ कोई जन-प्राणी नहीं आ सकता। मन की माला पर मेरा निरंतर जप चलता है, इसीसे स्वामी का मन तुष्ट रहता है। चित्त-सागर में मेरा स्नान और 'वजू' चलता है। फिर निर्मल अंतर को बिछाकर, अपने प्रभु की वंदना करता हूँ; उसके चरणों में अपने को अर्पित कर देता हूँ।" पंडितों से घिरे हुए सम्राट विस्मय-विमुग्ध नयनों से इस सिद्ध पुरुष की ओर देखते रहे।

जयपुर के राजा भगवंत दास का इस समय अम्बर पर अधिकार था। राज्य के सभी विशिष्ट व्यक्ति राजा को श्रद्धा-निवेदन करते, उनसे भेंट करने आते। कोई-कोई तो अनुग्रह और सहाय्य की आशा से राज-सभा में आते। राजा के कानों में प्रायः दादू की सुख्याति-चर्चा आती। किन्तु यह क्या? यह भक्त साधक तो एकबार भी राजधानी में राजा से मिलने नहीं आया! अम्बर-पति के अभिषेक के दिन भी दादू अभिनन्दन करने नहीं गये। अपनी अन्तर-साधना में यह डूबे हुए हैं, किसी सामाजिकता की परवाह ही नहीं करते। किन्तु राजा भगवंत दास उनके इस व्यवहार को कभी भूल नहीं सके।

भारत-सम्राट् अकबर के निमन्त्रण और संवर्द्धना के बाद जन-साधारण की दृष्टि दादू की ओर आकृष्ट हुई थी। एक दिन अम्बर-पति हठात् इस सुविख्यात साधक को देखने उपस्थित हो गये। राजा ने प्रश्न किया, "आप कितने दिनों से अम्बर में हैं? दादू ने उत्तर दिया, "महाराज बहुत वर्षों से रहता हूँ।" भगवंत दास ने आत्माभिमान को संयत कर संक्षिप्त भाव से केवल इतना ही कहा, "कहाँ, आपको तो कभी देखा नहीं!" राजा के कथन में जो प्रच्छन्न इंगित था, उसे समझने में देर नहीं हुई। किन्तु दादू सबकुछ समझकर भी चुप रहे।

दादू की दो लड़कियाँ बड़ी हो गई थीं। परन्तु अबतक विवाह नहीं हो सका था। सामाजिक संस्कार एवं आचार-निष्ठा का भगवंत दास मन और प्राण से समर्थन करते। दादू का यह उदार मतवाद और उनकी वचन-भंगी राजा को जरा भी न सुहाई। लड़कियों को दिखाकर दादू से राजा ने पूछा कि उनके विवाह की उम्र क्या बीत नहीं रही है? दादू ने सविनय बताया, "लड़कियों ने अध्यात्म-जीवन को ही एकांत भाव से गले लगा लिया है, साधन-भजन में ही वे लीन हैं। दूसरे विवाह का उपाय भी तो कहीं दिखाई नहीं पड़ता। 'जो पति बर्‌यो कबीरजी, सो करि बर्‌यो निचाहि।' - कबीर ने जिसे पतिरूप से वरण कर लिया था, कन्याओं ने भी उसे ही पतिरूप में ग्रहण कर लिया है।" समाज-नियम के सम्बन्ध में सदा सजग रहनेवाले अम्बर के राजा के कानों को किन्तु ये बात अच्छी नहीं लगी।

उस दिन के साक्षात के बाद भगवंत दास चले गये। किन्तु राजा के साथ दादू पंथियों का विरोध जैसे बढ़ ही गया। उसके कुछ दिनों बाद दादू ने विरक्त हो अम्बर त्याग दिया। मारवाड़, बीकानेर, कल्याणपुर, प्रभृत्ति स्थानों में कुछ-कुछ समय तक रहकर वह शेषकाल में नारायणा में उपस्थित हुए।

दादू की साधना का पथ है सहज पंथ। भौतिक जीवन एवं शाश्वत जीवन के बीच सहज योग-सूत्र की स्थापना द्वारा ही इसका परिपूर्णता और सार्थकता है। उन्होंने इसीलिए कहा है, "नदी के समान एक संग ही प्रतिदिन की साधना और शाश्वत साधना के भीतर अपने को ढाल दो। व्यर्थ ही संसार के कर्त्तव्य को बाधा देकर अस्वाभाविकता का बेड़ा न खड़ा करो। एक ही संग अपनी सेवा द्वारा दोनों तीरवालों को तृप्त करो, फिर सहज योग के आनन्द से उद्वेलित हो महासागर में जाकर मिलन के आनन्द का उपभोग करो। भक्त साधक के जीवन में नदी का धर्म और द्वैत साधना ही विकसित हो उठे।"

किन्तु दादू के इस मतवाद को उनके सभी शिष्यों ने न माना।

उनके बीच संसार त्यागी साधकों की संख्या कम न थी। फिर दादू पंथी नागा संन्यासियों की संख्या भी प्रचुर थी। उनका प्रभाव उत्तर काल में भारत के बहुत से स्थानो में क्रमशः विस्तृत होने लगा।

भक्तों के साधन-भजन की सुविधा के लिए दादू ने भक्ति-रसाश्रित पदों के दो विस्तृत संग्रह-ग्रन्थों की रचना का निर्देश दिया। तदनुसार उनके हिन्दू शिष्य जगन्नाथजी एवं मुसलमान शिष्य रज्जबजी ने यथा क्रम 'गुण गञ्जनामा' एवं 'सर्वांगी' नामक दो भक्ति-ग्रन्थों का संकलन किया। इनमें मरमी साधना के पदों और संगीत का समावेश है। अन्य सम्प्रदायों के भक्ति-साधकों की रचनाएँ भी इनमें सन्निविष्ट हैं।

दादू की साधना का मुख्य सूत्र है—ईश्वर-प्रेम और ईश्वर-विरह। उनकी दृष्टि में यह प्रेम और विरह ही है चरम सत्य। कारण, मनुष्य की आत्मसत्ता तो परम प्रभु की ही सृष्टि है और परम प्रभु के रस-सिंचन से ही वह जीवंत है। प्रभु के लिए भक्त जैसे रोता फिरता है—भक्त के लिए भी हमारे प्रभु वैसे ही क्या व्याकुल, विरह विधुर नहीं? प्रियतम का प्रेमाकषण ही तो मानव-साधना के रस-सागर को अविरत उद्वेलित करता रहता है—

हाँ माई,
म्हारो लागी राम वरागी
तजा नहीं जाई।
प्रेम बिथा करत उर अन्तर
बिसरि सुख नहीं पाई।
जोगिन ह्वे फिरुंगी विदेश
जिउ की तपन मिटाई।
दादू को स्वामी है रे उदासी
घर सुख रहा किमि जाई।

अर्थात, मेरे लिए ही राम मेरे वैरागी हुए, इसीलिए तो उनको त्याग देना संभव नहीं। मेरा अन्तर प्रेम की वेदना से आर्त्त हो रहा है,

उसे भूल कर तो कोई सुख ही नहीं पाता। योगिनी हो मैं देश-विदेश में विचरण कर अन्तर की आग मिटाऊँगा। ओ रे! दादू का स्वामी तो उसके लिए उदासी हो गया है, फिर किस तरह घर में रहा जाय?

भक्त दादू की इस प्रेम-साधन में नाम-जप का स्थान बहुत ऊँचा है। "मन पवना गहि सुरति सौं दादू पावै स्वाद"—मन और पवन द्वारा अर्थात मन द्वारा प्रतिश्वास योग में प्रेम के साथ नाम लेने से। हे दादू, तुम अमृत का आस्वाद पाओगे। अपने इस नाम-जप के क्रम के सम्बन्ध में भी वह कह गये हैं—पहले होता है नाम-श्रवण, दूसरे उपजता है नाम में रस, तीसरे हृदय में ध्वनित होता नाम-गान, चौथे मन होता है मग्न, प्रति रोम-कूप में उफनता है भक्ति और प्रेम रस।

दादू के 'सहज-पंथ' ने भक्त और साधक के सम्मुख सहज तीर्थ का पथ खोल दिया था—'सहज समर्पण सुमिरन सेवा, तिरवेनी तट संगम सपरा।' सहज आत्म-समर्पण, स्मरण और सेवा के द्वारा ही इस पुण्य-त्रिवेणी पर साधक पहुँचने में समर्थ होता है। काया के मध्य कायाहीन का, सीमा के मध्य परम असीम का जो दर्शन दादू ने पाया, इसका परिचय देते हुए उन्होंने बताया है—"काया के अन्तर में ही मैंने पाया त्रिकूटी का तीर। सहज ही प्रभु ने अपने को प्रकाशित किया, सर्व शरीर में वह परिव्याप्त हो रहे। काया के अन्तर में ही पाया उस निराधार निराकार को, सहज ही वहाँ उन्होंने अपने को प्रकाशित किया, मेरे स्वामी ऐसे ही समर्थ हैं। अपनी काया के भीतर ही मैंने उपलब्धि की उनकी असीम-अनाहत वंशी ध्वनि को। शून्य-मंडल में विराजित हो उन्होंने अपने को किया सुप्रकट, काया के अभ्यन्तर ही दर्शन किया देवों के देव का, सहज ही अपने को उन्होंने किया प्रकाशित—प्रभु मेरे हैं ऐसे ही अलख और अनिवचनीय।

इस अरूप दिव्य धाम का आभास सिद्ध पुरुष दाद ने एक गान में दिया है—

राम तहाँ परगट रहे भरपूर।
आतम कमल जहाँ, परम पुरुष तहाँ,
झिलिमिलि झिलमिलि नूर॥
कोमल कुसुम दल,
निराकार ज्योति जल।
वार नहि पार।
शून्य सरोवर जहाँ
दादू हँस रहे तहाँ,
बिलसि-बिलसि निज सार।"

भगवान उसी आत्मकमल में प्रकट होकर रहते हैं। परम पुरुष जहाँ विराजित हैं, वहीं ज्योति निरंतर झिलमिल करती रहती है। कोमल कुसुमदल है, निराकार ज्योति का सलिल है—शून्य सरोवर जहाँ, वहाँ नहीं है कूल-किनारा। हंस हो दादू वहाँ रहते हैं, बिहार और विलास से अपने को वह कर देते हैं सार्थक।

मरमी साधक दादू की आत्मानुभूति में एक अपूर्व प्रिय मिलन, अपूर्व आत्मिक योग का तत्व उद्भासित है—तेजःपुञ्ज से ही रचित है यह सुन्दरी जीवात्मा, और तेजःपुञ्ज का ही बना है यह कांत परमात्मा। तेजःपुञ्ज के ही इस मधुर मिलन में बसंत खिल पड़ा है, प्रेम का पुष्प सदा ही बरसता रहता है। श्री हरि के भक्त जन फाग खेलने में मस्त हैं। दादू! तुम्हारा यह परम सौभाग्य है जो ऐसा आनन्द-रंग तुम देख रहे हो। ध्यान से देखो—परब्रह्म वर्षण कर रहे हैं अमृत धारा, ज्योति-पुञ्ज झर रहा है झिलमिल-झिलमिल। साधकगण उसका ही पान कर रहे हैं। अनंत कोटि धाराओं में यह रस-वर्षण चल रहा है। दादू, वहाँ ही मन को निश्चल कर लगाये रहो, तभी तुम्हारे बीच बसंत सदा विराजित रहेगा।"

प्रेम-साधना की सार्थकता ने दादू की सत्ता को पूर्ण कर, ऊपर उठा दिया है। बहिरंग जीवन पर क्रमशः एक यवनिका गिरती जा रही है। अंतर्लोक में चल रहा है—अविराम आनन्द-रसपान। किन्तु

इस अनुभूति को दूसरों को समझाने का मन ही उनका अब कहाँ रहा ? "गूँगे का गुड़ का कहुँ मन जानत है भाई, राम रसाईन पीवता सो सुख कह्या न जाई।" अर्थात्, यह जैसे गूँगे का गुड़ खाना है। वह क्या बोले ? केवल मन ही मन उसका स्वाद जानता है। उसी प्रकार राम-रसामृत पान करने का जो आनंद है, वह तो कहा नहीं जा सकता !"

दादू आजकल कुछ मौन से हो गये हैं। भक्त-प्रवर वाजिद खाँ ने एक दिन उनपर अभियोग लगाते हुए कहा, "आप पहले भक्त और मुमुक्षु साधकों का कितना साथ देते थे, उनको लेकर कितनी आनन्द-चर्चा चलाते थे। इस समय केवल भगवान को लेकर आप दिन-रात मग्न रहते हैं। भगवान के बनाये हुए मनुष्यों का क्या कोई मूल्य ही नहीं ?" उत्तर में दादू ने कहा, "निश्चय ही है भाई ! मनुष्य सच्चे रूप में जो पाना चाहता है, वह उसे भगवान के माध्यम से ही पाता होगा। परम-प्रभु के मध्य ही तो सब विधृत हैं। इसीसे उसके भीतर से देखना ही तो यथार्थ देखना है, उसे पाना ही तो यथार्थ पाना है—

देव निरञ्जन पूजिये
सब आया उस माहिँ।
डाल पात फल फूल सब
दादू न्यारे नाहिँ।

अर्थात् "देव निरञ्जन की ही पूजा करो, तभी सब उसके संग-संग उसके भीतर आ जायंगे। डाल-पात, फल-फूल सब कुछ ही उसी मूल द्वारा विधृत हैं, यह सारा वस्तु-प्रसार मूल से भिन्न कुछ भी नहीं है।"

मन के गोपन मणि-कोठा में प्रेममय स्वामी के साथ दादू का रास-रंग और अनिर्वचनीय लीला-विलास सदा ही चलता है। श्यामसुन्दर बनमाली आज दादू के मनमाली रूप में अवतीर्ण हैं। परम-भक्त की अध्यात्म-सत्ता में उपवन की रचना कर पुण्याकीर्ण आँगन में परम-प्रभु आज क्या मधुर खेल खेल रहे हैं—

मोहन माली सहजि समानाँ
कै जान साधु सुजानाँ
काया बाड़ी माँ हैं
माली तहाँ रास बनाया।
सेवग सौं स्वामी खेलन कौं
आप दया करि आया।
बाहरि भितरि सब हिं निरंतरि
सब मैं रह्या समाई
परगट गुपत गुपत पुनि परगट
अविगत लख्या न जाई।

मोहन माली मेरे अंतर के सहज लोक को परिपूर्ण कर रहे हैं। केवल साधु सुजान ही इसे जानते हैं। काया-उद्यान के बीच बास कर माली ने वहाँ रास रचाया है। सेवक के साथ खेल करने के लिए मेरे स्वामी आप ही दयाकर वहाँ आ गये।

अंतर्कुञ्ज में रास का यह रस-माधुर्य, यह परम-अमृत त्याग देना क्या दादू चाहेंगे? इसी से उन्होंने अपनी आकुल आकांक्षा हृदय नाथ को ज्ञापित की—"जुगि जुगि-तारनहार जुगि-जुगि दरशन देखिये, जुगि-जुगि मंगलाचार जुगि-जुगि दादू गाइये।" अर्थात् युग-युग में वही हैं तारणकर्त्ता, युग-युग में उनका ही दर्शन होता है, युग-युग में उनका ही मंगलाचार चलता है। युग-युग में दादू उनका स्तव गान करता है। अद्वैत-ज्ञान से परम भागवत दादू को कोई प्रयोजन नहीं—युग-युग में वह परम प्रभु को दयित के रूप में ही पाना चाहते हैं, उनके प्रेम रस का आस्वादन कर कृतार्थ होना चाहते हैं। चीनी होने का उन्हें प्रयोजन नहीं, चीनी को खाने के वह चिर-अभिलाषी हैं। भक्त-प्राण की यह परम आकांक्षा दादू की वाणी में व्यक्त हुई है।

प्रेम पियाला नूर का
आसिक भरि दीया
दादू दर दिदार मैं
मतवाला कीया।
दादू अमली मिक
रस बिन रह्या न जाई।

पलक एक पीव नहीं
तलफि तलफि मरि जाई ।
दादू राता राम का
पीव प्रेम अघाई
मतवाला दीदार का
मांगै मुकुति बलाई ।

अर्थात्, ज्योति के प्रेम प्याला से प्रभु ने आशिक को पूर्ण कर दिया । दादू को प्रियतम ने दर्शन दे मतवाला कर दिया। दादू को राम का नशा चढ़ गया । इस रस के बिना उसका बचना कठिन है । एक पलक यदि वह इस रस का पान न करे तो छटपट कर उसे मरना होगा । दादू राम के प्रेम से रँग गया है । दिन रात वही प्रेम-रस पीकर वह तृप्त रहता है । अरे! जो राम के रूप-माधुर्य से मतवाला हो चुका है, वह क्यों मुक्ति का झमेला खोजता फिरे ?

रसोज्ज्वल साधना का दीर्घ पथ पार कर दादू जीवन के अंतिम काल में आ पहुँचे । राजस्थान के छोटे से जनपद-नारायणा में इस समय वह वास कर रहे हैं। महा-समाधि का परम लग्न उपस्थित हो गया है। साधकों को भी यह मालूम था। इस समय में न केवल उनके अनुरक्त भक्त और शिष्यगण ही उपस्थित थे, बल्कि अनेक उच्चकोटि के साधु भी हठात् वहाँ उपस्थित हो गये। भक्त दादू भक्ति की महिमा बढ़ाने के लिए शेष समय में हर्षोत्फुल्ल कंठ से बोल उठे—

दादू मम सिर मोटे भाग
साधूँ का दर्शन किया
कहा करै जम काल
राम रसाईन भरि पिया ।

"कैसा महान मेरा सौभाग्य ! इन साधुओं का दर्शन इस समय पाया, राम-रसायन का पान किया, अब काल-यम मेरा क्या करेंगे ?"

१६०३ खृष्टाब्द, ज्येष्ठ मास, कृष्णाष्टमी, शनिवार—प्रेमक साधक दादू शरीर त्यागकर गोलोक चले गये। उस समय उनका वयःक्रम था उनसठ वर्ष । नारायणा में आज भी दादू की 'गद्दी' परम श्रद्धा से पूजित होती है। उनके ग्रंथ के सम्मुख देश-देशांतर के साधक भक्ति-आप्लुत अंतरसे अपनी प्रणति अर्पित करते हैं।

———

योगीवर गम्भीरनाथजी

नर्मदा नदी के तट से होकर एक संन्यासी आगे बढ़ रहे हैं। मस्तक पर लंबी जटा है, किन्तु वयस से अभी युवक ही हैं। शरीर का गठन सुडौल और समुन्नत है—अंगों की कांति स्वर्णाभ। मुख-मंडल पर महिमा विराज रही है और दोनों नयन आनंद की द्युति से उज्ज्वल हैं। हजारों साधु-संतों की भीड़ में भी दिव्य श्रीमंडित इस साधक को सहज ही पहचान लिया जा सकता है।

प्रायः चार वर्ष पूर्व इन्होंने यह पाद परिक्रमा-व्रत ग्रहण किया था। नर्मदा नदी के उद्गम स्थल पर अमरकंटक नामक एक पुण्य-तीर्थ है। यहीं से इस यात्रा का आरम्भ हुआ था। समुद्र-संगम से लौटकर फिर उस पुण्यस्थल में ही इसका अन्त होगा।

इस मार्ग से पुण्यार्थी यात्री और साधु संत लगातार चलते ही रहते हैं। कभी साधुओं की जमात के साथ कभी निःसंग यह साधक आगे बढ़ते चले जा रहे हैं। अपने आप आनन्द में मग्न रहते हैं। पुण्य-सलिला नदी के नाना तीर्थों एवं घाटों में उन्हें स्नान करना होता है। कभी नदी-तट की बालुकाराशि में गुफा बना कर वह कई दिनों तक वहीं बैठे बैठे ध्यान में मग्न रहते हैं। जंगल में यदि कोई स्थान पसन्द पड़ जाता है तो यह साधक कुटिया बना कर वहाँ, आत्म-समाहित अवस्था में, दस-पाँच दिन व्यतीत कर देते हैं।

उस दिन अपराह्न का समय था। संध्या होने में अब बहुत देर नहीं थी। संन्यासी ने देखा—सामने नदी-तट पर एक छोटी-सी

पर्ण-कुटी है। बिलकुल सुनसान स्थान, पास में कहीं कोई नहीं। समझा किसी तपस्वी ने साधन-भजन के लिए यह कुटिया बाँधी है। इस समय किसी काम से कहीं गये हुए हों।

कुटिया के आँगन में प्रवेश करते ही उनका अन्तर एक अज्ञात आनन्द से भरपूर हो गया। क्या यह स्थान-महात्म्य है? या उन्हीं की एक विशेष प्रकार की अनुभूति है? कारण जो भी हो उन्होंने दो-चार दिन वहाँ ठहरने का निश्चय किया।

कुछ क्षणों तक विश्राम करने के बाद संन्यासी आसन लगा कर ध्यान करने लगे। शीघ्र ही वहाँ एक विस्मयजनक घटना घटित हुई। आँखें खुलने पर उन्होंने देखा कि एक बहुत बड़ा साँप फण काढ़ कर सामने खड़ा है। इसके बाद साँप ने जो कुछ किया वह और भी अद्भुत था। निश्चल भाव से, कुछ समय तक स्थिर दृष्टि से देखते रहने के बाद, नाग प्रवर ने उस तरुण साधक की प्रदक्षिणा की। इसके बाद ही वह जंगल में न मालूम कहाँ चला गया। इसके साथ ही एक दिव्य अनुभूति की तरंग संन्यासी की सम्पूर्ण सत्ता को आलोड़ित कर गई।

तीन दिनों तक संन्यासी यहाँ ध्यान-भजन में लीन रहे। और अत्यंत आश्चर्य का विषय कि प्रति दिन उनके आसन पर बैठने पर यह साँप वहाँ उपस्थित हो जाता। फिर साँप के वहाँ से अदृश्य हो जाने पर वह समाधिस्थ हो जाते।

तीन दिनों के बाद उस कुटिया के साधु लौट कर आ गये। वह एक तपस्वी ब्रह्मचारी थे। बहुत समय से नर्मदा के तट पर वास करते हुए साधन में निमग्न रहे। कुटिया में पहुँचने पर अतिथि संन्यासी का उन्होंने सादर स्वागत किया। इसके बाद उनके साथ वार्त्तालाप के प्रसंग में जब उन्होंने साँप की बात सुनी, उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। मौन-भाव से कुछ समय तक तरुण संन्यासी की ओर देखते हुए ब्रह्मचारी बोले, "भाई एक साधक के

रूप में सचमुच आप भाग्यशाली हैं। गत बारह वर्षों से मैं इस नाग प्रवर के दर्शन की आशा लगाये हुआ हूँ, कुटिया बाँध कर उनके लिए दिन गिन रहा हूँ। किन्तु पूर्व-जन्म की सुकृति के अभाव में अब तक उनके दुर्लभ दर्शन से वंचित रहा। वस्तुतः वह एक असाधारण महापुरुष हैं। स्वेच्छा से सर्प का शरीर धारण कर साधकों पर कृपा करने के लिए विचरण कर रहे हैं। आपने तीन दिनों के अंदर ही किस प्रकार इनकी कृपा प्राप्त कर ली, यह सचमुच मेरे लिए एक दुरूह रहस्य है।

नागरूपी छद्मवेशी महापुरुष के आशीर्वाद से कृतार्थ यह तरुण संन्यासी ही बाद में चल कर गंभीरनाथ बाबा के नाम से प्रसिद्ध हुए। केवल नाथ योगमार्गी साधकों के गुरु के रुप में ही नहीं, बल्कि सारे भारत के एक श्रेष्ठ योगी एवं ब्रह्मज्ञानी महापुरुष के रूप में भी इनकी असीम ख्याति एवं प्रतिष्ठा थी।

नाथयोगी-सम्प्रदाय इस देश की एक प्राचीन योग-साधना की धारा का वाहक रहा है। महायोगी गोरखनाथ इस विशिष्ट साधन-प्रणाली के प्रवर्त्तक थे। बाद में चलकर इस सम्प्रदाय में अनेक स्वनामधन्य योगी हुए और इन शक्तिधर महापुरुषों द्वारा योग-साधन की धारा भारत के विभिन्न प्रदेशों में फैली। आज भी भारत के विभिन्न अंचलों में नाथपंथी साधकों द्वारा स्थापित मठ, आश्रम आदि देखे जाते हैं।

गोरखपुर का प्रसिद्ध गोरखनाथ-मठ इन साधन-केन्द्रों में विशिष्ट स्थान रखता है। विशेषकर योगी गोरखनाथजी की स्मृति से सम्बन्धित होने के कारण इस स्थान का माहात्म्य और भी बढ़ा हुआ है। कहते हैं कि सुदूर अतीत में किसी समय गोरखनाथजी ने इस अंचल में कठोर तपस्या की थी। उस समय यहाँ सघन जंगल था। बाद में चलकर उनकी इस तपोभूमि पर मठ एवं मंदिर की स्थापना हुई। आज का गोरखपुर शहर गोरखनाथजी की साधन-स्थली के ही चारों ओर बसा हुआ है।

गोरखपुर मठ की प्रसिद्धि अब पहले जैसी नहीं रह गई है। तपोनिष्ठ योगमार्गी साधकों के लिए उपयुक्त निर्जन परिवेश भी अब वहाँ नहीं रह गया है। फिर भी गोरखनाथ मठ अपने परम्परागत गौरव एवं साधन-ऐतिह्य को वहन करत चला आ रहा है। तीर्थ-कामी यात्री एवं साधु सन्यासियों का आना-जाना यहाँ लगा ही रहता है। नाथ पंथी योगियों के केन्द्र स्थल के रूप में गोरखपुर-मठ का वैशिष्ठय आज भी बना हुआ है।

उन्नीसवीं शताब्दी के मुख्य भाग्य में भारतीय योगी-समाज में गोरखपुर-मठ के महंत बाबा गोपालनाथजी की उस समय बड़ी प्रसिद्धि एवं प्रतिपत्ति थी। दूर-दूर से आये हुए मुमुक्षु उनके पद-प्रांत में बैठकर योग-साधना किया करते थे। उस समय तक गोरख-पुर-मठ जनाकीर्ण नहीं हुआ था। चारों ओर निर्जन बाग-बगीचा और वन-जंगल होने से साधनोपयोगी परिवेश देखा जाता था। आश्रम के नाथ-मंदिर के चतुर्दिक छोटे-छोटे कितने ही साधन-कुटीर थे। योग-साधन-व्रती संन्यासी यहाँ आसन लगाया करते थे।

एक दिन एक सुदर्शन युवक मठ में आ पहुँचा। वह कीमती रेशमी वस्त्र पहने हुए था। मुख मंडल पर मर्यादा की छाप अंकित थी। एक बार देख लेने पर इस चारुदर्शन व्यक्तित्व-संपन्न युवक को किसी प्रकार भी भुलाया नहीं जा सकता था। उस दिन आश्रम में जितने लोग थे सब उत्सुक होकर उक्त युवक को देखने लगे।

सब के मन में यह धारणा हुई कि युवक किसी धनी परिवार की संतान है। युण्यार्थी के रूप में या कौतूहलवश मठ में घूमने के लिए आया है। दर्शन कर लेने पर फिर अपने घर लौट जायगा। उसकी भावभंगीमा और आचरण से कुछ ठीक पता नहीं चलता था। भाव तन्मय होकर बहुत समय तक वह बाबा गोपालनाथजी के चरणों में बैठा रहा। महंथ महाराज के प्रकोष्ठ से जब वह बाहर निकला तब जाना गया कि युवक ने योगी गुरु के समीप सदा के लिए आत्म-समर्पण कर दिया है।

मोक्ष की अदम्य पिपासा लेकर वह घर से बाहर निकला था।

वहाँ लौट जाने की उसकी तनिक भी इच्छा नहीं है। उसका गार्हस्थ्य-जीवन धन-जन पूर्ण है, किसी वस्तु का अभाव नहीं है। किंतु, फिर भी उसने त्याग वैराग्यमय जीवन को ही वरण किया है। प्रवीण साधकों ने उसे योग-मार्ग के कष्ट-साधन तथा उसकी दुस्तर कठिनाइयों से अवगत करा दिया, किंतु इन सबका कोई प्रभाव उसके मन पर नहीं पड़ा।

अपने अध्यात्म-जीवन को सार्थक बनाना उसकी एकमात्र कामना है। इस सकंल्प से च्युत होने का कोई प्रश्न ही उस दिन उसके मन में नहीं उठा। बहुत थोड़े समय के सान्निध्य और बातचीत से उस युवक के अंतर्लोक में बाबा गोपालनाथ को किस महान तपस्वी का पता चला,यह कौन बता सकता है? देखा गया कि जिस प्रकार उस मुमुक्षु तरुण के आत्म-समर्पण में विलंब नहीं हुआ उसी प्रकार योगी गोपालनाथ ने भी उसे तत्क्षण ग्रहण कर लिया। दीक्षा-दान के बाद इस सौम्य-दर्शन साधु का उन्होंने नामकरण किया— गम्भीरनाथ, नाम के साथ नाम- धारण करने वाले व्यक्ति की एकात्मकता बहुत कम साधकों के जीवन में उस रूप में सार्थक देखी जाती है जिस रूप में कि गम्भीरनाथ के जीवन में।

जम्मू-काश्मीर के एक छोटे से गाँव में गम्भीरनाथजी का जन्म हुआ था। एक उन्नतिशील मध्यवित्त परिवार में उनका पालन-पोषण हुआ। उस समय तक सुदूर गाँवों में शिक्षा का विस्तार नहीं हुआ था। इसलिए गाँव के प्राथमिक विद्यालय में सामान्य शिक्षा प्राप्त करके ही उन्हें संतुष्ट रह जाना पड़ा।

बालक बड़ा प्रतिभाशाली था। लिखना-पढ़ना और खेलकूद के साथ-साथ ललित कला के प्रति भी उसकी कुछ अभिरुचि थी। भजन, गान और सितार बजाने में उसने कुशलता प्राप्त कर ली। शरीर भी सुन्दर, सुडौल और सुदृढ़ था। प्रियदर्शिता एवं पारदर्शिता का एक विचित्र समाहार उसमें देखा जाता था। बूढ़े-बच्चे, स्त्री-पुरुष सब इस बालक से प्रेम करते थे। वह सब लोगों के साथ एक

निष्कलुष प्रेम में आबद्ध हो गया था। गांव में जो लोग दुःखी एवं विपन्न थे उनके प्रति उसको असीम सहानुभूति थी। उनकी सेवा और सहायता करने में वह सदा तत्पर रहता था।

गम्भीरनाथ का गृहस्थ जीवन समृद्ध था। सुखोपभोग की सारी सुविधाएँ सुलभ थीं, फिर भी इनकी ओर उनका कोई आकर्षण नहीं था। एक स्वाभाविक वैराग्य का स्रोत फल्गु-धारा की तरह, प्रच्छन्न रूप में उनके अंतस्तल में प्रवाहित हो रहा था। उनमें एक सहजात अनाशक्ति-भाव बाल्यावस्था से ही देखा जाता था। उनके समवयस्क छात्र और खेलकूद के साथी उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखा करते थे। गाँव से कुछ ही दूर पर श्मशान-भूमि थी। किशोर गम्भीरनाथ की वैराग्य वृत्ति प्रायः उन्हें वहाँ खीच ले जाया करती थी। चिताधूम से आच्छन्न श्मशान-भूमि के एक कोने में आत्म-विस्मृत बन कर वह मौन-भाव से बैठकर घंटा पर घंटा बिता देते थे।

उस श्मशान में जटाजूट-मंडित त्रिशूलदंड-धारी सन्यासियों के दल प्रायः आया करते थे। गम्भीरनाथ बड़े आनंद के साथ उनकी सेवा में लगे रहते थे। आटा, घी, धूनी का लकड़ी आदि जुटाने का काम वह बड़े उत्साह के साथ किया करते थे। अवसर मिलते ही साधकों के चरणों में तन्मय होकर बैठ जाते थे। उनका मन किस अज्ञात लोक का यात्री बना हुआ था, यह कौन जाने ?

संन्यासियों के समीप जाकर बैठते ही गम्भीरनाथ भाव-विभोर हो जाते थे। कई दिन सारी रात धर्म—चर्चा म बीत जाती थी। इसके लिए परिवार के लोगों का तिरस्कार एवं भर्त्सना उन्हें सहन करनी पड़ती थी, फिर भी आदत नहीं छूटती थी।

भयंकर निर्जन श्मशान में न मालूम किस अज्ञात आकर्षण की ओर उनका मन दौड़ जाता था। श्मशानचारी संन्यासियों के सत्संग में उनके जीवन का मूल्य--बोध ही बदल गया। वैराग्यमय जीवन की ओर उनकी प्रवृत्ति धीरे धीरे बढ़ने लगी। समर्थ साधक पुरुष को

देखते ही वह श्रद्धा भाव से उनकी सेवा-परिचर्या में लग जाते, धर्म एवं साधन-रहस्य की शिक्षा के लिए व्याकुल हो उठते।

क्रमशः मुक्ति की खोज में उनका किशोर जीवन चंचल एवं व्यग्र हो उठा। उन्हें ऐसा लगा कि योग-साधना की परम सिद्धि के मार्ग पर उन्हें अविलंब अग्रसर होना होगा। किन्तु उनके मन में बारबार यह प्रश्न ठता कि इस तपस्या के मार्ग में कृपामय गुरु का आविर्भाव उनके जीवन में कब संभव होगा? गुरु का पता उन्हें कहाँ मिलेगा?

अंतर की व्याकुलता एवं ईश्वर की कृपा के कारण उन्हें सद्गुरु का पता शीघ्र ही लग गया। गाँव के इस श्मशान में कभी-कभी एक वृद्ध योगी आ-जाया करते थे। गम्भीरनाथ इनकी सेवा में आंतरिकता के साथ लग जाते थे। इस साधक के प्रति उनकी असीम श्रद्धा थी। यह महात्मा बीच-बीच में उन्हें कुछ साधनोपदेश भी दिया करते थे।

एक दिन गम्भीरनाथ ने इन महात्मा से दीक्षा-दान के लिए प्रार्थना की। महात्मा ने कहा "बेटा, मुझसे तुम्हें दीक्षा प्राप्त नहीं होगी। तुम्हारे गुरु हैं, गोरखनाथ-मठ के महंत बाबा गोपालनाथ। इस सिद्ध योगी के चरणों का तुम आश्रय ग्रहण करो।" मुक्ति की खोज में रहने वाले गम्भीरनाथ के जीवन में उस दिन वह शुभ घड़ी उपस्थित हो गयी थी। प्रेरित दूत के रूप में वह महात्मा उस दिन उसी का निर्देश दे गये थे।

हृदय में जो अव्यक्त वेदना अब तक गुबार के रूप में थी, उदासीन गंभीरनाथ को वह संसार से खींच कर बाहर ले आई। गृह-परिवार का स्नेह, ग्रामीण जीवन का आनन्दमय परिवेश, सब कुछ उन्हें केवल तुच्छ ही नहीं बल्कि अत्यन्त दुःसह प्रतीत होने लगा।

बाबा गोपालनाथ उत्तर भारत के एक महासमर्थ योगी थे। वह केवल असाधारण ऋद्धि-सिद्धियों के अधिकारी ही नहीं थे बहुत से मुमुक्षुजनों के परमाश्रय भी थे। इन्हीं चरणों में आत्म-समर्पण करने के लिए उस दिन गम्भीरनाथ घर छोड़ कर चले आये थे। महायोगी

गोपाल की कृपा से उनके जीवन में एक नये अध्याय का आरम्भ हुआ। नाथपंथ की विशिष्ट योग-साधना को अपना कर गंभीरनाथजी उसके चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने लगे।

बाबा गोपालनाथ को प्रथम साक्षात् में ही यह समझने में देर नहीं लगी कि यह तरुण साधनार्थी एक उत्तम अधिकारी है। इतना ही नहीं, शरीर और मन से प्रस्तुत होने की दिशा में यह तरुण असाधारण है, यह भी उनकी दिव्य दृष्टि से छिपा नहीं रहा। योग-मार्ग के मंत्र, साधन आदि की एक-एक कर वह यत्नपूर्वक शिक्षा देने लगे। एक ओर नवीन शिष्य की साधन निष्ठा और दूसरी ओर गुरु-कृपा की संजीवनी धारा दोनों के संयोग से पूर्व जन्म का जो योग-संस्कार था, वह साधक की अंतश्चेतना में उद्बोधित हो उठा।

दीक्षा-ग्रहण करने के बाद गंभीरनाथजी उत्साह पूर्वक गुरु-प्रदत्त साधन-पद्धति का अभ्यास करने लगे। कुछ समय बीत जाने पर उनका शिखा-छेदन का पवित्र अनुष्ठान सम्पन्न हुआ। नाथयोगियों की पद्धति के अनुसार नवोन साधक को 'औघड़' की श्रेणी में प्रविष्ट कराया गया नाद, सेलो और कौपीन' धारण करके उन्होंने पूर्ण संन्यास ग्रहण किया। निष्ठावान तरुण साधक के जीवन में यह नूतन तात्पर्य को लेकर प्रकट हुआ।

प्रियदर्शन, तपोनिष्ठ गंभीरनाथजी को इस समय जो भी देखता उनकी ओर आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। संन्यास से पूर्व के उनके जीवन का परिचय प्राप्त करने की उत्कंठा बहुत लोगों को थी। इस सम्बन्ध में उनसे जो भी प्रश्न किये जाते सब का उत्तर वह इतना ही देते—"प्रपंच से क्या होगा? अर्थात्, मायामय संसार की बात जान कर क्या करेंगे?

सर्वस्व-त्याग कर ही सर्वमय परमात्मा को प्राप्त करना होगा—इस संकल्प की दीप-शिखा गंभीरनाथजी के अंतर में निरंतर प्रज्वलित थी। साधन, भजन एवं ध्यान में वह अपने को सम्पूर्ण रूप से डुबो देना चाहते थे, किन्तु गुरुजी ने कुछ समय तक उन्हें सेवा-धर्म के

कार्य में नियोजित किया। आश्रम में नाथजी की पूजा, गुरु महाराज की सेवा शुश्रूषा एवं अतिथि साधु-संतों का स्वागत-सत्कार उन्हें ही करना पड़ता था। पालतू गाय--भैसों की देख-भाल और आय-व्यय का हिसाब रखने का भार भी उन्हीं के ऊपर था। मठ के विभिन्न व्यावहारिक कार्यों के संपादन में भी वह सहायता पहुँचाया करते थे। मितभाषी, गंभीर मूर्त्ति इस साधक को कभी किसी ने समय का अपव्यय करते नहीं देखा। नित्य के कार्य को चुपचाप निष्ठा के साथ सम्पन्न कर वह गुरु द्वारा उपदिष्ट साधना में रत हो जाते थे।

मठ के जन-कोलाहलपूर्ण वातावरण में सेवा-सुश्रूषा आदि विभिन्न कर्मों का संपादन करते हुए भी तरुण योगी सदा अंतर्मुखीन रहा करते थे। गुरु गोपालनाथ की यही इच्छा थी कि वाह्य जीवन की चंचलता के बीच भी वह निर्लिप्त एवं प्रशांत बने रहें। इस दिशा में गभीरनाथ ने जो प्रगति की थी वह मठ के निवासियों के लिए कम आश्चर्यजनक नहीं थी।

नाथ योगियों की साम्प्रदायिक रीति-नीति के अनुसार साधकों का अंतिम अनुष्ठान है 'कर्णवेध'। योगीश्वर महादेव के प्रतीक के रूप में गुरुजी ने शिष्य के कानों में दो कुण्डल पहना दिये। इस प्रकार के कुण्डल को दर्शनी' कहते हैं। नाथ-सम्प्रदाय के संन्यासियों के कानों में छेद कर उनमें इसका प्रवेश करा दिया जाता है। इसलिए उन्हें 'दर्शनी योगी' भी कहा जाता है। पश्चिम भारत के जनसाधारण में यह लोग 'कनफटा योगी' के नाम से परिचित हैं। गुरु गोपालनाथ इसके बाद गंभीरनाथजी की कर्ण-भेदन दीक्षा के लिए तैयारी करने लगे। उनकी व्यवस्था के अनुसार प्रवीण एवं प्रसिद्ध नाथयोगी बाबा विश्वनाथजी द्वारा यह दीक्षा-दान सम्पन्न हुआ।

जितने साम्प्रदायिक आचार, अनुष्ठान आदि थे सब क्रमशः समाप्त हो गये। किंतु इन सबसे गम्भीरनाथजी की अंतर की पिपासा शांत नहीं हुई। पूर्णांग योग के जिस उच्चतम स्तर तक वह पहुँचना चाहते थे, सिद्ध नाथ-योगियों के अनुयायी साधक के रूप में जिस चरम अध्यात्म-अनुभूति का वह आस्वादन करना चाहते थे, उसकी

प्राप्ति कहाँ हो रही थी ? इस जन-बहुल मठ में इतनी कर्म-व्यस्तता के बीच रहते हुए क्या वह उसे पा सकेंगे ?

शिवकल्प गोरखनाथजी का साधन-जीवन गंभीरनाथ का आदर्श था। सांसारिक आवेष्टन से बाहर सघन वन में बैठ कर इस महायोगी ने दीर्घकाल तक तपस्या की थी। उन्होंने असाधारण योगैश्वर्य एवं ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया था। उसी परम प्राप्ति की आशा में गंभीरनाथ व्याकुल हो उठे। कठोरतर तपस्या के लिए तैयार होने में विलंब करना अब उनके लिए असह्य हो उठा।

अध्यात्म-अनुभूति का द्वार अब एक-एक कर खुलता जा रहा था। इसलिए साधक की इच्छा हुई कि किसी सुदूर निर्जन स्थान में जाकर निरवच्छिन्न साधन में लग जायँ। गुरु गोपालनाथजी ने इस बार उन्हें बाधा नहीं दी। तीन वर्षों तक अपने घनिष्ठ साहचर्य में रखने के बाद उन्होंने अपने स्नेह-भाजन शिष्य को आश्रम त्यागने की अनुमति दी।

गोरखपुर से दक्षिण दिशा में उन्होंने यात्रा आरंभ की। पहले वह विश्वनाथपुरी वाराणसी पहुँचे। वाराणसी युग-युगांतर से साधकों की चिर अभिलषित तपोभूमि रही है। उनकी इच्छा हुई कि कुछ दिनों तक यहाँ रह कर साधन—भजन करें। अकिंचन योगी केवल एक कौपीन और कंबल का संबल साथ लेकर मार्ग पर बढ़ते चले जा रहे हैं। भूख, प्यास और टिकने के स्थान की ओर उनका बिलकुल ध्यान नहीं है। उस समय उन्होंने अयाचक वृत्ति ग्रहण कर ली थी।

मार्ग पर चलते-चलते एक दिन गम्भीरनाथजी बहुत थक गये। भूख-प्यास से व्याकुल हो रहे थे। इसी समय देखा गया कि एक पूर्व—परिचित ब्राह्मण तेजी से उनकी ओर बढ़ता चला आ रहा है। समीप आकर उसने गम्भीरनाथ को एक वृक्ष की छाया में बैठाया। इसके बाद सविनय कहने लगा, 'गत रात श्रीनाथजी ने मुझे स्वप्ना-देश दिया-'इस स्थान में एक श्रांत, क्षुधा-पीड़ित परिव्राजक का आगमन होगा. तुम उसके भोजन एवं सेवा परिचर्या की व्यवस्था करो"। ब्राह्मण इसीलिए वहाँ दौड़ा हुआ आया था। अयाचित रूप में

प्राप्त भोजन की वस्तुओं को खा लेने के बाद गम्भीरनाथजी ने फिर चलना आरंभ कर दिया।

काशी पहुँचने पर उन्हें असीम आनंद प्राप्त हुआ। उनके विचार से यह प्रसिद्ध तीर्थ सब तीर्थों का राजा था। गंगा-स्नान एवं विश्व-नाथजी की पूजा समाप्त करके उन्होंने नदी-तट में एक निर्जन स्थान चुन लिया और वहीं लगातार तीन वर्षों तक योग-साधन में निमग्न रहे। उन्होंने यहाँ तप करते हुए अनेक उच्चतर अध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त कीं। एक शक्ति-मान साधन के रुप में क्रमशः उनकी ख्याति बढ़ने लगी। अब लोगों की भीड़ बढ़ने लगी जिससे योग-साधन के अनुकूल निर्जन परिवेश नहीं रह गया। इसलिए गम्भीर-नाथजी ने काशो का परित्याग कर दिया।

इसके बाद प्रयाग उनका साधन-स्थान हुआ। झूसी के एक एकांत स्थान में बालू की गुफा में रहकर वे कठोर तपस्या करने लगे। संयोगवश मुकुटनाथ नामक एक युवक साधु वहाँ कहीं से आ पहुँचे। अध्यात्म साधना के क्षेत्र में वे भी नाथपंथ के ही अनुयायी थे। साधक गम्भीरनाथ उस समय निरवच्छिन्न ध्यान-जप एवं योगसा-धना में निमग्न थे। सर्दी, धूप, वर्षा सहन करते हुए वे तपस्या में रत थे। शरीर की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं था। न मालूम क्यों, तरुण साधक मुकुटनाथ ने इस त्याग–तितिक्षामय योगी के प्रति एक विशेष आकर्षण का बोध किया। इस समय से साधन–रत गम्भीर–नाथ की समस्त सेवा का भार उन्होंने साग्रह अपने ऊपर लिया।

गम्भीरनाथजी क्रमशः योग साधन की गहनतम अवस्था में निमग्न होते जा रहे हैं। उनके अंतर में उस समय तीव्र व्याकुलता एवं अदम्य संकल्प था-योग सिद्धि की उच्चतम स्थिति पर उन्हें पहुचना ही होगा। साधन-गुफा के बाहर इस समय वे कदाचित् ही निकला करते थे। बाहर के लोगों के साथ मिलना-जुलना तो दूर रहा, एकनिष्ठ सेवक मुकुटनाथ के साथ भी उनकी बहुत कम बात–चीत हुआ करती थी। जिस दृढ़ संकल्प एवं एकाग्रता को लेकर वे योग–साधन के व्रती हुए थे, इस समय अनेकांश में वह सफल हो रही

थी। एकनिष्ठ तपस्या के फलस्वरुप उनकी साधन-सत्ता में असाधारण योग शक्ति विकसित हो उठी।

झूंसी की इस बालुकामय गुफा में गम्भीरनाथ ने लगातार तीन वर्ष व्यतीत कर दिये। इस के बाद प्रयाग छोड़कर उन्होंने नर्मदा की परिक्रमा करने का व्रत ग्रहण किया।

कठोर तपस्या के फलस्वरुप इस बार गम्भीरनाथजी ने साधना की स्थिर भूमि प्राप्त की। इसके बाद उनके साधक जीवन में व्यापक पर्यटन का दौर आरम्भ हुआ। भारत के समतल और पहाड़ी-प्रदेशों में सर्वत्र, जहाँ जो कुछ सुगम और दुर्गम तीर्थ हैं, एक-एक की उन्होंने यात्रा की। अपने परिव्राजक जीवन में उन्होंने विचित्र अनुभव प्राप्त किये और इस प्रकार के जीवन को कल्याणकर बताया। अपने शिष्यों से कहा करते थे, "जान रखो नित्य के जीवन के अभाव--अभियोग, सुख-दुःख के सम्पर्क में आकर पर्यटन करनेवाले साधक के भ्रम और संशय नष्ट हो जाते हैं—वैराग्य भाव सुदृढ़ होने पर उनकी देहात्म-बुद्धि भी क्रमशः नष्ट हो जाती है। पर्यटन का सबसे बड़ा लाभ यही है।"

परिव्राजक गम्भीरनाथजी एक बार कुछ समय के लिए गुरुधाम गोरखपुर लौटकर आये। इस बीच सिद्ध पुरुष के रूप में जन समाज में उनकी अच्छी ख्याति हो गयी थी। उनके त्याग एवं तप की चर्चा भी साधु-संतों में विशेष रूप से हुआ करती थी। प्रिय शिष्य को पुनः समीप पाकर गोपालनाथजी को जिस प्रकार अपार संतोष हुआ उसीप्रकार आश्रमवासी भी अत्यंत आनंदित हुए। किंतु मठ के जन-कोलाहलपूर्ण वातावरण में गम्भीरनाथजी बहुत दिनों तक नहीं रह सके। परम तत्त्व की प्राप्ति की आकांक्षा आज भी उनके जीवन में पूर्ण नहीं हुई थी। इसलिए एकांत में तपस्या करने के लिए यह साधक व्यग्र होकर पुनः बाहर निकल पड़े।

गया के निकट ब्रह्मयोनि पहाड़ है। इसके शिखर पर कपिल-धारा नामक एक मनोरम निर्जन स्थान है। परिव्राजक संन्यासी एक दिन इसीके समीप आकर रुक गये। यह स्थान ही क्या उनकी अभीष्ट सिद्धि की निर्दिष्ट भूमि है? मानो सहसा किसीने इस स्थान के साथ

घनिष्ठ योग बंधन की बात उन्हें जना दी हो। एक अपूर्व प्रेरणा उनके अंदर उद्बुद्ध हो उठी और उन्होंने निश्चय कर लिया कि अपनी साधना की चरम सिद्धि के लिए इसी स्थान पर आसन लगाऊँगा।

स्थान का प्राकृतिक परिवेश बड़ा ही रमणीय था। तपो-भूमि की पवित्रता मानो वहाँ के वायुमंडल में ओत-प्रोत थी। तीन ओर तरु-लता शोभित श्यामल पर्वत-श्रेणी और एक ओर जंगल से होकर टेढ़ी-मेढ़ी पग-डंडी। नीचे समीप में ही जंगल से घिरा हुआ कपि-लेश्वर शिव का प्राचीन मंदिर। समस्त अंचल में एक आश्चर्यजनक निःशब्दता एवं शून्यता छाई हुई थी। दो एक साधन-रत संन्यासियों को छोड़कर वहाँ स्थायी रूप में रहनेवाला और कोई नहीं था। आस-पास के स्थान भी किसी समय साधना एवं तपस्या भूमि के रूप में पुनीत हो चुके थे। विष्णपाद यहाँ से बहुत समीप ही था। बुद्ध एवं चैतन्य ने यहीं सिद्धि प्राप्त की थी। इस पुण्यमय परिवेश में ही गम्भीर-नाथ जी की साधना परिपूर्ण सिद्धि की दिशा में अग्रसर हुई।

कपिलधारा के निर्जन पहाड़ी प्रदेश में गम्भीरनाथ की तपस्या की धारा उस समय निरवच्छिन्न भाव से प्रवाहित होने लगी थी। कभी उन्मुक्त आकाश के नीचे, कभी ब्रह्मयोनि पहाड़ की गुफा में साधक आत्म-समाहित रहा करते। शीत, वर्षा, ग्रीष्म एक-एक ऋतु आती और उनके मस्तक के ऊपर से होकर चली जाती। किसी दिन भी ऋतु-परिवर्त्तन की ओर उनका ध्यान नहीं गया। अविचल निष्ठा के साथ अध्यात्म-जीवन के एक-एक स्तर को वे पार करते जा रहे हैं।

इस समय गम्भीरनाथ जी ने अपने वाह्य जीवन में बहुत-कुछ का त्याग कर दिया था। कृच्छ्रव्रती कौपीन-धारी संन्यासी के पास एक कंबल, नारियल का खप्पर और योग-दंड के सिवा और कुछ नहीं था। कोई संगी या सेवक भी नहीं था। अंतर्मुखी योगी दिन-रात ध्यान में निमग्न रहा करते थे।

योग-क्षेम भी इस समय मानो भगवान के अदृश्य संकेत पर ही

पूरा हो रहा था। गया के पड़ोस में अक्कू कुर्मी नामक एक व्यक्ति रहता था। वह बड़ा गरीब था। जंगल से लकड़ी काटकर शहर में बेचता और इसी से जीविका निर्वाह करता था। लकड़ी काटने के लिए उसे बीच-बीच में कपिलधारा के जंगल में जाना पड़ता था। वहाँ एक दिन गम्भीरनाथजी की दिव्य मूर्त्ति उसने देखी।

दर्शन के साथ साथ अक्कू के जीवन में एक परिवर्त्तन घटित हुआ। नवीन तपस्वी के चरणों में आत्म समर्पण किये बिना वह नहीं रह सका। धूनी के लिए लकड़ी और आग जुटाने का भार उसने स्वेच्छा से अपने ऊपर ले लिया। इसके साथ ही साधु बाबा के लिए फलाहार और दूध भी वह ले आया करता था। यह कठोरव्रती साधक कौन थे, कहाँ से आये थे, कैसे थे यह वह नहीं जानता था। किंतु उनकी सेवा, परिचर्या के लिए वह व्याकुल रहा करता था। बाद में उसका भाई मुन्नी भी साधु बाबा का भक्त बन गया। इस प्रकार क्रमशः सारा कुर्मी परिवार साधु बाबा की सेवा में निरत हो गया।

सीधा-सादा अक्कू और उसके परिवार के अन्य लोग साधु बाबा' को ही अपना अभिभावक और हितैषी समझने लगे। दुःख-विपत्ति पड़ने पर बाबा के निकट अपने अंतर का आवेदन पहुँचाकर अपने हृदय का भार वे हल्का कर लेते। अक्कू परिवार के इस अपनापन, सेवा एवं त्याग को देखकर गम्भीरनाथ जी उसके प्रति एक सहज आत्मीयता के बंधन में आबद्ध हो गये। केवल इस समय में ही नहीं, बाद में चलकर भी देखा गया कि योगी की स्नेहपूर्ण दृष्टि बराबर इस गरीब परिवार पर निबद्ध रहती थी। उनके भाव एवं आचरण को देखकर सब लोग यही समझने लगे थे कि इस दरिद्र कुर्मी परिवार के प्रति वे अपने को चिर-ऋणी समझते थे।

इसके बाद गम्भीरनाथजी के एकांत सेवक के रूप में दो नये साधक देखे गये-नृपत्नाथ और सिद्धनाथ। गृह-त्याग करने के बाद नृपत्नाथ सद्गुरु की खोज में विभिन्न- स्थानों में भटक रहे थे। ऐसे समय

में ही सहसा एक-दिन कपिलधारा में गम्भीरनाथजी से उनका साक्षात्कार हुआ। उसी दिन इस सौम्यदर्शन योगी के चरणों में आश्रय ग्रहण करने के लिए वे कृत-संकल्प हुए। बाबा गम्भीरनाथ सहसा किसी को दीक्षा देने के लिए राजी नहीं होते थे, इसलिए उस दिन उन्होंने नृपत्नाथ के आवेदन को स्वीकार नहीं किया। फिर भी नृपत्नाथ उन्हें ही गुरु मानकर एकांत निष्ठा के साथ उनकी सेवा करते रहे। ध्यान मग्न योगी की दैनंदिन परिचर्या का भार इस समय से प्रधानतः उनके ऊपर ही पड़ा।

केवल गम्भीरनाथ की देह-रक्षा का भार ही नहीं, उनके साधन-मार्ग में किसी प्रकार की विघ्न-बाधा नहीं हो इस ओर भी नृपत्नाथ की सजग दृष्टि रहती थी। योगीवर के निर्विघ्न साधन-भजन में जिन वस्तुओं की आवश्यकता थी उन सब की व्यवस्था करते हुए वे चारों ओर से उन पर पहरा देते थे। भयंकर भैरव वेश में सज्जित सेवक नृपत्नाथ को हाथ में त्रिशूल लिये प्रायः हिंसक जीव-जंतुओं को भगाते हुए-देखा जाता था। तीर्थ-यात्री कौतूहलवश गम्भीरनाथजी की योग-साधना में विघ्न न डालें इस ओर भी नृपत्नाथ सतर्क रहा करते थे। उस समय भैरव वेश में नृपत्नाथ को देखकर बहुतों को ध्यान-मग्न योगी के सामने उपस्थित होने का साहस नहीं होता था।

गम्भीरनाथ के साधन-स्थल से कुछ नीचे खर्पर भैरव नामक स्थान में नृपत्नाथ और सिद्धिनाथ रहा करते थे। योगी की सेवा-परिचर्या कर लेने के बाद दोनों कपिलधारा से नीचे उतर आते और अपनी पर्ण कुटी में विश्राम करते। इससे गम्भीरनाथजी को एकांत में अपनी कठोर तपस्या में अग्रसर होने का सुयोग मिलता।

ब्रह्मयोनि पहाड़ की एकांत गुफाओं में दो एक साधु-तपस्वी स्थान-स्थान पर देखे जाते थे। धीरे-धीरे इन तपस्वियों में भी गम्भीर-नाथजी की योग-साधना की चर्चा फैलने लगी। इसलिए ये कभी—कभी योगी के सम्मुख आ जाया करते थे। गम्भीरनाथजी के समीप बैठकर साधन-रत होने पर वे भी सहज ही गम्भीर ध्यान में डूब जाते

थे। केवल ब्रह्मयोनि पहाड़ के आस-पास में ही नहीं; गया-क्षेत्र में भी धीरे-धीरे इस महासाधक के योगैश्वर्य की ख्याति फैल गयी। कपिलधारा का दिव्य दर्शन एवं शक्तिमान महात्मा की बात उस समय सब लोग जान गये थे।

गया के माधोलाल पंडा एक धनी-मानी व्यक्ति थे। संयोग से वे एक जटिल एवं विपज्जनक मामले में फँस गये। यदि यह मामला वे हार जाते तो उनके लिए दर-दर का भिखारी बनने के सिवा और कोई चारा नहीं था। और, मामला का जैसा रंग ढंग था उसमें उनके जीतने की तनिक भी आशा न थी। उनके सामने भविष्य अंधकार-मय दिखाई पड़ता था। विपन्न माधोलाल निरुपाय होकर गम्भीर-नाथजी के शरणार्थी हुए और साश्रु नेत्रों से योगी-प्रवर के सामने अपना दुःख कह सुनाया। उनकी दुःख कथा सुनकर बाबा द्रवित हो गये। उन्हें सांत्वना प्रदान करते हुए प्रशांत कंठ से बोले, "चिन्ता मत करो। तुम्हारा भला ही होगा।"

अत्यंत अप्रत्याशित रूप में माधोलाल यह मुकदमा जीत गये और इस प्रकार सर्वनाश होते-होते बचा। इस के बाद से वे गम्भीर-नाथजी के एकांत भक्त हो गये। और बराबर उनकी सेवा में दत्तचित्त रहने लगे। अपने इस भक्त के साग्रह अनुरोध पर गम्भीरनाथजी ने उन्हें कपिलधारा के साधन-स्थल में एक योग गुहा और वेदी-निर्माण करने की अनुमति प्रदान की। लगभग बारह वर्षों तक लगातार वहीं रहकर गम्भीरनाथजी साधन-भजन करते रहे।

योग-गुहा के भीतर के प्रकोष्ठ में गम्भीरनाथ दिनरात ध्यान-मग्न होकर सामधिस्थ हो जाते। सेवक-गण इस प्रकोष्ठ के बाहर थोड़ा-सा दूध उनके लिए रख जाते। जब उनका ध्यान टूटता, आवश्यकता होने पर गम्भीरनाथ केवल वही दूध पी लेते। इस प्रकार वहाँ अवस्थान करते हुए वे योगसाधना की उच्चतर अवस्थाओं को एक-एक कर पार करने लगे।

आरंभ में योगीवर एक सप्ताह या पखवाड़े के बाद अपनी योग-

गुहा से बाहर निकला करते थे। दूर-दूर से आये हुए भक्त, मुमुक्षु एवं आर्त्तजन उनके साधनस्थल में उपस्थित होकर नियत समय में उनके दर्शनों की प्रतीक्षा करते। गम्भीरनाथजी उस समय भी अंतर्मुखीन ही रहा करते थे। मौन एवं प्रशांतवदन गम्भीरनाथ भक्त-मंडली को आशीर्वाद देकर पुनः अपने योग-प्रकोष्ठ में लौट जाते और ध्यानस्थ हो जाते।

मौनी योगीवर एक बार लगातार तीन मास तक अपनी योग-गुहा में ही रह गये। इस समय की अत्यन्त उग्र साधना के फल-स्वरूप उन्हें अभीप्सित परम वस्तु प्राप्त हुई। अमित योगसामर्थ्य प्राप्त कर लेने पर एक शक्तिधर ब्रह्मज्ञानी पुरुष के रूप में उनका अभ्युदय हुआ।

गम्भीरनाथजी की सत्ता में योगविभूति, ज्ञान एवं माधुर्य का अपूर्व समाहार देखा जाता था। अपने साधन-ऐश्वर्य को वे इतने सहज स्वच्छंद भाव से मधुरता के साथ वहन किये रहते कि एक असाधारण योगी के रूप में सर्वसाधारण के लिए उन्हें पहचानना संभव नहीं था। हाँ, उस समय के जो विशिष्ट साधक एवं ब्रह्मज्ञ पुरुष थे उनकी दृष्टि में गम्भीरनाथ की लोकोत्तर सत्ता छिपी नहीं थी।

बराबर पहाड़ के दो प्रवीण नाथयोगी, धनिया पहाड़ के नानकपंथी महापुरुष ठाकुरदास बाबा गम्भीरनाथजी के प्रति विशेष श्रद्धाभाव प्रदर्शित करते थे। वृन्दावन के स्वनामधन्य ब्रह्मज्ञ पुरुष रामदास काठियाबाबा के मुख से भी महायोगी के साधन-ऐश्वर्य की बात सुनी जाती थी।

प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी गम्भीरनाथजी के प्रति आंतरिक श्रद्धा-भाव रखते थे। उन्होंने योगीवर से अनेक साधन सीखकर अपने को कृतार्थ किया था। इन महायोगी के सम्बंध में जब कभी चर्चा होती तो गोस्वामी जी विशेष उत्साह प्रकट करते और अपने अंतरंग शिष्यों से वे प्रायः कहते थे, 'बाबा गम्भीरनाथजी क्षणभर में सृष्टि-स्थिति-प्रलय करने में समर्थ हैं। ऐश्वर्य भाव से सिद्धिलाभ करने के बाद अब उन्होंने माधुर्य भाव में डूबकी लगाई है।"

विजयकृष्ण गोस्वामी के एक शिष्य नवकुमार विश्वास महाशय ने योगीवर गम्भीरनाथ एवं गोस्वामीजी के सम्बन्ध में एक मनोज्ञ विवरण दिया है—"आकाशगंगा के आश्रम में हम सोये हुए हैं। सब कुछ नीरव एवं निस्तब्ध, चाँदनी रात। बीच-बीच में सुनाई पड़ता, जैसे कोई पहाड़ के शिखर पर एक-दो बजे सितार बजाकर भजन कर रहा हो। गोस्वामीजो हमलोगों से कहा करते, "सुनिये बाबा गम्भीरनाथ जो कितने मधुर स्वर में भजन कर रहे हैं।" किसी किसो दिन यह भजन सुनकर वह अकेले मध्यरात्रि में वहाँ दौड़कर चले जाते। दो-एक घंटा के बाद फिर वहाँ से लौटकर आ जाते। एक दिन गोस्वामोजी बोले, बाबा प्रेमिक और शक्ति-संपन्न महात्मा हैं। हिमालय के नीचे इस प्रकार का और कोई सिद्ध महात्मा नहीं देखा जाता है। पहाड़ पर बाघ, साँप आदि कितने ही हिंसक जन्तु हैं किन्तु बावा की शक्ति से मुग्ध होकर कोई उन्हें हानि नहीं पहुँ-चाता।"

बाबा गम्भीरनाथ और गोस्वामीजी के मिलन का मधुर चित्र अंकित करते हुए मनोरंजन गुहठाकुरता ने लिखा हैं :"हिंसक जीव-जंतुओं से भरे हुए गया के पहाड़ पर निर्जन कपिलधारा के शिखर के ऊपर बैठे हुए गम्भीरनाथजी गंभीर रात्रि में सितार बजाकर भजन गा रहे थे, और आकाश-गंगा के पहाड़ से गोस्वामीजी संगियों को छोड़कर वन-जंगल का बीहड़ मार्ग पार करते हुए उन्मत्त-मन से दौड़कर वहाँ पहुँच जाते थे। यह किसका प्रेम था। कौन सा आकर्षण था। किस प्रेम में ये दोनों बँध गये थे ? इस बधन का सूत्र कहाँ था ? किस मालाकार ने बीच में आकर दो हृदयों को इस रूप में आवद्ध कर दिया था ? इस पुण्य कहानी को सुनने से भो प्राणी को धर्म होता है। क्षण भर के लिए हृदय विस्मित एवं स्तंभित हो जाता है।'

उत्तर भारत के अनेक महात्मा एवं योगी गम्भीरनाथजी के संग और सौहार्द की कामना करते थे। इनमें एक थे गंगोत्री के बाबा सुन्दरनाथ। इन महात्मा की योग-विभूति इतनी बढ़ी-चढ़ी थी कि एक ही समय में विभिन्न स्थानों में यह सशरीर उपस्थित हो सकते थे।

बाबा गम्भीरनाथ के साथ इनकी घनिष्ठ मैत्री थी। इनके दर्शन के लिए यह महापुरुष यदा-कदा गोरखपुर भी जाया करते थे।

गम्भीरनाथजी अपने योगैश्वर्य को यों सर्वसाधारण में प्रकट नहीं करते थे। इस प्रकार की समस्त शक्ति-विभूतियों को वह प्रपंच कहा करते थे। किंतु सर्वथा स्वाभाविक रूप में योगीवर की योग-विभूति की लीला स्थान विशेष में कभी-कभी प्रगट हुए बिना नहीं रहती। सूर्य के उत्ताप के समान उनके सहज योगैश्वर्य की दीप्ति उनके समग्र परिपार्श्व को देदीप्यमान कर देती।

अक्कू और मुन्नी ये दोनों कुर्मी-बंधु बहुत दिनों तक स्वामीजी की सेवा में लगे रहे। उनका सारा परिवार ही धीरे-धीरे इन महात्मा की शरण में आ गया। एक बार बाबा का प्रिय भक्त अक्कू किसी कठिन रोग मे पीड़ित हुआ, बचने की कोई आशा नहीं थी। अंत में एक दिन देखा गया कि रोगी मरणासन्न अवस्था में पहुँच गया है। शरीर में प्राण का कोई लक्षण नहीं दिखाई पड़ रहा है। आत्मीयजन मृतक के संस्कार का प्रबंध करने में लगे हुए हैं। अक्कू का छोटा भाई मुन्नी शोक-विह्वल होकर धैर्य खो रहा था। दौड़ा-दौड़ा गम्भीरनाथजी के आसन के पास पहुँचा। बाबा का पाँव पकड़ रो-रो कर कहने लगा, "बाबा, आपका एकनिष्ठ सेवक अक्कू चल बसा, किंतु हम लोग जानते हैं कि आपके लिए असाध्य कुछ नही है। कृपा कर आज आप उसे बचायें।"

ध्यान मग्न योगी ने आँखें खोलो। आर्त्त-आकुल जन के क्रंदन ने उन्हें करुणार्द्र कर दिया। मुन्नीको घर जाने का आदेश देते हुए उन्होंने कहा कि शव का अग्नि-संस्कार रोक रखो। इसके साथ साथ वे शीघ्र ही अक्कू की रुग्न शय्या के पास पहुँच गये। भक्त का शरीर स्पर्श करने के बाद गम्भीरनाथजी ने कमंडलु से कुछ बूँदें उसके मुख में डाल दी। जो लोग वहाँ उपस्थित थे सब ने आश्चर्य के साथ देखा कि अक्कू में प्राण के लक्षण पुनः प्रकट होने लगे हैं।

उसने धीरे धीरे आँखें खोली और बिछावन पर करबट बदली। उस दिन उसके लिए पथ्य की जो व्यवस्था की गयी, वह भी बड़ी विचित्र थी। अक्कू के पथ्य के लिए खिचड़ी तैयार करने का आदेश देकर बाबा गम्भीरनाथ कपिलधारा के आसन पर लौट गये। इसके बाद भी अक्कू बहुत दिनों तक जीता रहा।

कपिलधारा में गम्भीरनाथजी के आसन के समीप कभी कभी एक बाघ आ जाया करता था। बाघ वहाँ पहुँचकर योगी की प्रदक्षिणा करता और फिर कहाँ चला जाता, कोई नहीं जानता था। प्राय: यह बाघ उस समय आता जब योगी के पास कोई नहीं होता। किंतु एक दिन यह बहुत लोगों के सामने ही आ पहुँचा। उस दिन बाबा भक्तों एवं साधुओं से घिरे हुए बैठे थे। बाघ को देखते ही सब लोग डर से काँप उठे। बाबा ने तुरत सब को आश्वासन देते हुए प्रशांत कंठ से कहा "आप लोग डरें नहीं और न यहाँ से हटने के लिए व्यग्र हों। यह व्याघ्र-रुपी एक महापुरुष हैं। सब लोग चुप-चाप बैठे रहिए।" अपने आसन पर बैठे हुए सब लोग भीति--विस्मय-मिश्रित नेत्रों से भयंकर बाघ की ओर देखते रहे। इसके बाद बाघ कुछ क्षणों तक एक दृष्टि से योगिराज को देखता रहा और धीरे धीरे आश्रम के आँगन से चला गया।

जंगल के बाघों के साथ गम्भीरनाथजी बराबर मैत्री और अप-नापन का व्यवहार करते थे। उपर्युक्त घटना के बाद भी उनके समीप एक-एक बाघ आ पहुँचता था। बाघ का भाव-भगी देखकर ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि उसमें नरभक्षक पशु की किंचित भी हिंस्र प्रकृति है–ऐसा लगता था मानो वह बाबा का पालतू जानवर हो।

बाद में चलकर गोरखपुर मठ के पिंजड़े में गम्भीरनाथजी का एक पालतू अनुगत बाघ देखा जाता था। उसकी देख-भाल के सम्बन्ध में बाबा बहुत सतर्क रहा करते थे। सेवकों की असावधानी से बाघ किसी किसी दिन पिंजड़े से बाहर निकल आता था। गम्भीरनाथ जी के साथ बहुत हिलमिल गया था। सामना होने पर वह

उससे कहा करते, "अरे, तुम्हारे भय से आश्रम के साधु लोग भाग पड़ते हैं। अब शांत हो जाओ और पिंजड़े के अंदर चले जाओ, बेटा।" इसके बाद सस्नेह उसके कान को पकड़ कर खींचते हुए उसे पिंजड़े की ओर ले जाते। खुशी से दुम हिलाते हुए बाघ तब पिंजड़े के अंदर प्रविष्ट हो जाता।

मुन्नूलाल धारीवाल नामक एक गयावाल के पागलपन के कारण सब लोग परेशान हो उठे थे। कई बार वह साधुओं पर भी अत्याचार करने से बाज नही आया। एक दिन कपिलधारा में आकर वह साधु महात्माओं को तंग करने लगा। इस बार स्वामीजी की कृपा-दृष्टि उनके ऊपर पड़ी। उन्होंने जोर से उसके गाल पर दो तमाचे लगा दिये इसके फलस्वरुप केवल उस दिन के लिए ही उसका उपद्रव बंद नहीं हो गया, बल्कि सदा के लिए ही वह शांत एवं सुस्त हो गया। इसके बाद बहुत वर्षों तक स्वाभाविक रूप में वह अपना कारवार चलाता रहा और फिर कभी पागल नहीं हुआ।

प्रयाग के कुंभ मेला में एक बार दंगा हो गया। किसी कारणवश उत्तेजित होकर बैष्णव नागा साधुओं ने योगियों एवं संन्यासियों पर आक्रमण कर दिया। मेला में उस दिन खून-खराबी हो गई और योगियों में कितने घायल हुए। योगी सम्प्रदाय के नेता गम्भीर-नाथजी उस समय उधर ही डेरा डाले हुए थे। ध्यानासन पर बैठे हुए उनके कानों तक इस उत्तेजना और मारपीट की कोई खबर नहीं पहुँची थी। लाठी और चिमटा लिए हुए जब नागा साधु उनकी छावनी में प्रवेश करने जा रहे थे उस समय भी वह अचल ध्यानस्थ बैठे हुए थे।

इसी समय एक भक्त उनके आसन के सम्मुख उपस्थित होकर जोर से चिल्ला उठा—"महाराज, जरा देखिये तो कैसी विपत्ति आ पड़ी है। मारपीट करने के लिए ये सब भीतर चले आये हैं।" इस बार गम्भीरनाथजी का ध्यान टूटा। आँख खोल कर उच्च स्वर में केवल इतना ही बोले, "बस, शांत होओ।, शांत होओ।" क्षण भर में

एक जादू जैसी घटना हो गई। आक्रमणकारी नागा एकाएक रुक गये। उनकी उत्तेजना एक बारगी शांत हो गई। लाठी, चिमटा आदि झुका कर वे नतमस्तक धीरे-धीरे वहाँ से चल दिये।

गम्भीरनाथ जी के जीवन में योग-विभूति एवं अलौकिक शक्ति का जो कुछ प्रकाश देखा गया है वह आस-पास के लोगों पर कृपा के रूप में। साधारणतः वे अपनी इन शक्तियों को सतर्कता के साथ गोपन रखते थे। जिज्ञासु भक्तों को वह अपनी अलौकिक शक्ति की अपेक्षा सहज लौकिक शक्ति का परिचय देना ही अधिक अच्छा समझते थे।

गम्भीरनाथजी के एक शिष्य ने त्याग एवं सेवा--निष्ठा में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। अपने गुरुदेव के लिए वह निःसंकोच परिश्रम करते और उनकी तुष्टि के लिए मुक्त हस्त होकर अर्थ- व्यय भी करते। अपनी दीर्घकाल की सेवा—परिचर्या के बीच किसी दिन भी उन्हें गम्भीरनाथ-जी की अलौकिक योग-विभूति का परिचय नहीं मिला। इसका उन्हें बराबर खेद रहा।

एक दिन बाबा से वह अपनी विभूति--लीला दिखाने के लिए बार-बार साग्रह अनुरोध करने लगे। उन्हें दृढ़ विश्वास था कि बहुत समय से गुरुजी की जो वह सेवा करते आ रहे हैं, इससे उनके गुरुजी उनके इस अनुरोध को अस्वीकार नहीं करेंगे। गम्भीरनाथजी समझ गये कि शिष्य को सेवा का अभिमान हो गया है। इसके सुधार के लिए उन्होंने नाथ-सम्प्रदाय की पुरानी कहानी का वर्णन किया। कहानी इस प्रकार थी: —

महायोगी गोरखनाथजी एक बार बहुत समय तक तपस्या-रत थे। इस समय एक भक्त ब्राह्मण उनकी देख--भाल करता और प्रति दिन उन्हें पायस भोजन कराता। बहुत दिनों की सेवा के बाद इस ब्राह्मण को योगीवर की विभूतियों को प्रत्यक्ष करने का कौतूहल हुआ। उसकी यह धारणा थी कि एकनिष्ठ सेवा द्वारा वह गोरख-नाथजी का स्नेह-भाजन बन गया है। इसलिए उनके अनुरोध को वह कभी टालेंगे नहीं। गोरखनाथ जी ने विचार किया- भक्त को सेवा का अहंकार हो गया है, शीघ्र इस अहंकार को नष्ट कर देने की

आवश्यकता है। उसी समय उन्होंने विपुल परिमाण में दूध, चीनी और चावल उनके सामने उगल दिये और गम्भीर स्वर में बोले — देखो, तुमने जो सब चीजें खिलायी थीं वे सब यहाँ पृथक-पृथक रूप में रखी हुई हैं।" इस अलौकिक दृश्य को देखकर भक्त ब्राह्मण भय एवं विस्मय से अवाक हो गया। सेवा-निष्ठा का जो अहंभाव उसमें जाग्रत हो गया था, वह चूर्ण हो गया।

बाबा अपने शिष्यों एवं भक्तों के कल्याण के लिए अनेक अवसरों पर इस कहानी को दोहराया करते थे। गुरूजी की योग-शक्ति का चमत्कार देखने का कौतूहल जिन लोगों के मन में उत्पन्न होता, उन्हें फिर आगे बढ़ने का साहस नहीं होता।

कपिलधारा के शांत-समाहित जीवन के परिवेश को छोड़कर गम्भीरनाथजी बीच-बीच में तीर्थ-भ्रमण के लिए निकल जाते थे। चाहे कितना ही दुर्गम एवं विपद-संकुल क्यों न हो, भारत का कोई भी तीर्थ उनसे अपरिचित नहीं था। पर्यटन के बाद वह फिर लौटकर गया-अंचल में ही आ जाते।

उनके आश्रम में इस समय भक्तों का विशेष रूप में समागम होने लगा था। एकांत तपस्या-स्थल में क्रमशः मंदिर, वास-भवन आदि निर्मित हो चुके थे। अब कपिलधारा के परिवेश को गम्भीरनाथजी एकांत-वास के अनुपयुक्त समझने लगे थे। अतः भक्त माधोलाल ने वामनी घाट में योगी-राज के लिए निर्जन में एक बार उद्यान-भवन बनवा दिया था। तीर्थाटन से लौट कर गम्भीरनाथजी विशेषतः इस उद्यान में ही आसन लगाया करते थे।

साधुओं और तीर्थ-यात्रियों के बीच बिलकुल साधारण भाव से चलते फिरते रहने पर भी गम्भीरनाथजी की अलौकिक शक्ति का परिचय प्रायः लोगों से छिपा नहीं था। राख से ढकी हुई आग कब किस फाँक से धधक उठेगी, यह कोई ठीक नहीं जान सकता। एक बार गम्भीरनाथजी आठ-दस संगियों के साथ उदयपुर गये हुए थे। एक निर्जन मैदान में सब लोग धुनी जलाकर बैठ गये। बरसात का

समय था। देखते-देखते सारा आकाश बादलों से भर गया और जोर से वर्षा शुरू हो गई। चारों ओर जल ही जल हो गया, किन्तु आश्चर्य का विषय कि बाबा गम्भीरनाथ मैदान के जिस भाग में बैठे हुए थे वहाँ एक बूँद भी पानी नहीं बरसा। साथ में जो संन्यासी थे उन्हें गम्भीरनाथजी का माहात्म्य मालूम था। उन्हें समझने में देर नहीं लगी कि यह अलौकिक घटना महापुरुष की योग-शक्ति के कारण ही घटित हुई है।

इस घटना के बाद ही गम्भीरनाथजी की ख्याति उस अंचल में फैल गई। लोगों की भीड़ इतनी होने लगी कि संन्यासियों के लिए वहाँ ठहरना कठिन हो गया। इसके अलावा एक और विपत्ति आ पड़ी। उदयपुर के महाराणा के कानों तक इन योग-विभूति संपन्न महापुरुष की बात पहुँच गई। गम्भीरनाथजी को अपने राज-प्रासाद में लाने के लिए वह बार-बार अपना आदमी भेजा करते थे। किन्तु योगी-प्रवर का नियम था किसी गृहस्थ के आवास में वह पदार्पण नहीं करेंगे। केवल एक बार अपने भक्त अक्कू कुर्मी को प्राणदान करते समय उन्हें बाध्य होकर गृहस्थ के घर में जाना पड़ा था। महाराजा के आमंत्रण को अग्राह्य करने पर भी विपत्ति से छुटकारा नहीं मिला। महाराज स्वयं योगीराज के समीप उपस्थित होने के लिए तैयार हो गये। यह संवाद सुनते ही गम्भीरनाथजी ने तत्क्षण उदयपुर से प्रस्थान कर दिया।

गम्भीरनाथजी असामान्य ऋद्धि-सिद्धि के अधिकारी बन चुके थे। असंख्य साधु-संन्यासियों की जमात में भी उन्हें सहज ही पहचाना जा सकता था। साधुओं की जिस किसी भी पंगत या मेले में वह उपस्थिति होते थे, वहाँ अत्यंत स्वाभाविक रूप में उनका नेतृत्व स्थापित हो जाता था। इस सम्बन्ध में बाबा गोकुलनाथ ने अपने प्राचीन संस्मरण के प्रसंग में लिखा है, "मेरे पूर्वज वंशानुक्रम से सारंग कोट के योगियों के शिष्य थे। १८९० ई० में मैं अपने पिता के साथ सारंग कोट के पीर एलाचीनाथ के भंडारा में गया हुआ था। वहाँ सुनने में आया कि एक 'राज योगी' अमरनाथ से आये हुए हैं।

मैं भी अपने पिता के साथ इस 'राज योगी' को देखने गया। उक्त भंडारा में १२०० साधु उपस्थित थे। उनके बीच गम्भीरनाथ बाबा एक राज योगी के समान ही परिलक्षित हो रहे थे।"

गृहस्थ, तीर्थयात्री अथवा साधु-संन्यासी जिस किसी के पास योगीवर पहुँच जाते थे, वह अपने अंतस्थल में एक दिव्य आनन्द का अनुभव किये बिना नहीं रहता। उनकी सदा प्रसन्न दिव्य मूर्त्ति से असीम माधुर्य एवं शांति की धारा चारों ओर विस्तारित होती रहती।

एकबार पुरी-धाम में जटिया बाबा के आश्रम में गम्भीरनाथजी कई दिनों तक रहे। प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी के शिष्यगण बाबा के अत्यन्त प्रियपात्र थे। उनके आमंत्रण पर ही वह यहाँ आये हुए थे। गोस्वामीजी के शिष्यों ने उनकी जैसी आव-भगत की उससे वह बड़े प्रसन्न हुए। इस समय गम्भीरनाथजी का सान्निध्य-लाभ कर आश्रम-वासियों का जो कल्याण साधन हुआ, उसका वर्णन करते हुए शारदाकांत वन्द्योपाध्याय ने लिखा है, "उस समय उनका जिसने दर्शन किया उनकी कृपा चिरकाल के लिए उसके हृत्पटल पर अंकित हो गई। आश्रम का सेवा-कार्य सम्पन्न कर कभी-कभी अपराह्न में उनके समीप जा बैठता। उनके पास बैठते ही अनुभव करता, मेरा गुरु-प्रदत्त 'नाम' स्वतः मेरे अन्तर में बड़े वेग से उच्चारित हो रहा है। कुछ क्षणों के बाद बाबा का आदेश होता—'जाओ, अब सेवा कार्य करो।'

गोस्वामीजी के शिष्य मनोरंजन गुहठाकुरता ने प्रयाग के कुम्भ-मेला के कथा-प्रसंग में महायोगी गम्भीरनाथजी का एक मनोज्ञ आलेख्य अंकित किया है। उन्होंने लिखा है, "जिस प्रकार देखकर और किंचित् सिर हिलाकर इशारे से वह मन प्राण को मुग्ध कर देते हैं, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। वह अत्यन्त अल्पभाषी हैं। साधकगण इन्हें सिद्ध पुरुष के रूप में जानते हैं। बहुत से शिष्यों के साथ वह मेला में उपस्थित थे। एक दिन एक धनी व्यक्ति इनके आसन के समीप पाँच सौ कम्बल रखकर चले गये। बाबा गम्भीरनाथजी उस समय ध्यानस्थ

थे। कुछ समय के बाद जब उनके नेत्र खुले, उन्होंने अपने सामने कम्बलों का ढेर देखा। बायें हाथ की अंगुली से इशारा करते हुए कहा—जिन्हें इनकी जरूरत हो, उन्हें ये सब दे डालो। उसी समय सारे कम्बल बाँट दिये गये।

शक्तिधर योगी होने पर भी गम्भीरनाथजी व्यावहारिक जीवन में एक सहज-सुन्दर प्रेमिक पुरुष थे। लौकिक जीवन की विभिन्न समस्याओं और द्वन्द्वों के बीच उनके करुणा-घन रूप को ही व्यक्त होते हुए सबसे पहले देखा जाता था।

एकबार गया के पहाड़ पर उनके भक्तों एवं दर्शनार्थियों की संख्या बहुत बढ़ चली थी। लोक-समागम अधिक होने से बीच-बीच में चोरों के उपद्रव भी होने लगे थे। एक दिन आधी रात में कुछ बदमाश ढेला फेंकने लगे। इससे भक्तगण कुछ विचलित हो उठे। बाबा गम्भीरनाथ के कानों तक इस खबर के पहुँचने में देर नहीं लगी। निर्विकार महा-पुरुष धीरे-धीरे चल कर उन बदमाशों के सामने उपस्थित हुए। उन्हें बुलाकर सस्नेह कण्ठ से कहा, "तुमलोग ढेला क्यों फेंकते हो ? आओ, तुम जो कुछ चाहो इस आश्रम से ले जाओ। कोई रोक टोक नहीं करेगा।"

सेवक-शिष्य नृपत्नाथ ने गुरु के आदेश से घर का दरवाजा खोल दिया। यह सब देखकर जो लोग चोरी करने आये थे उन्हें कुछ घबड़ा-हट जैसी हुई। किन्तु उनका लोभ प्रबल हो उठा—इस मौका को वे किस प्रकार छोड़ सकते थे ? धीरे-धीरे उन्होंने आश्रम में प्रवेश किया। अतिथियों की सेवा के लिए वहाँ रखे हुए अन्न, वस्त्र, कम्बल आदि सब उठाकर वे चलते बने। जाने से पहले सिद्ध-महात्मा गम्भीरनाथजी को प्रणाम कर उनसे आशीर्वाद की याचना करना वे नहीं भूले।

चोरों के प्रति करुणा एवं समवेदना से महापुरुष का अन्तर आर्द्र हो उठा। स्नेह-भरे स्वर में उन्होंने कहा, "बेटा, सचमुच तुमलोग अभाव-ग्रस्त हो, दुःख में पड़ कर ही ये सब दुष्कर्म कर रहे हो, यह मैं

समझ रहा हूँ। फिर दस-पन्द्रह दिनों के बाद आना। उस दिन भी आज की तरह कुछ चीजें मिलेंगी। किन्तु लोगों पर अत्याचार नहीं करना।" दिव्य करुणा का यह स्पर्श उन दुर्वृत्तों को भी प्रभावित किये विना नहीं रहा। नत-मस्तक वे वहाँ से बिदा हुए।

भक्त माधोलाल आश्रम के लिए अधिकांश आवश्यक वस्तुएँ जुटाया करते थे। दूसरे दिन वह व्यस्त होकर चावल, दाल, घी आदि वस्तुएँ खरीद कर ले आये। अब उन चोरों का दल जब कभी अभाव-ग्रस्त होता, बाबा के सामने आ उपस्थित होता। योगीवर आवश्यक वस्तुएँ उनके बीच ज्यों ही बांट देते, त्यों ही वे सब चीजें फिर आश्रम के भंडार में लाकर माधोलाल भर देते।

माधोलाल को इस तरह बार-बार अनावश्यक व्यय-भार वहन करना पड़ता था। एक दिन स्वयं गम्भीरनाथजी ही इस विषय में सतर्क हुए। उन्होंने कहा, जब तक मैं यहाँ से कहीं और जगह नहीं चला जाऊँगा, तब तक यह अपव्यय कम करना संभव नहीं हो सकता। इस-लिए उन्होंने गया छोड़ देने का विचार किया। भक्त माधोलाल के दोनों नेत्र सजल हो आये। उन्होंने हाथ जोड़कर कहा, "बाबा केवल इसीलिए आप यह स्थान छोड़कर चले जायेंगे, यह क्यों कर हो सकता है? इसके सिवा चोर आखिर लेंगे ही कितना? आप इसकी जरा भी फिक्र न करें।"

चोरों का एक दूसरा दल एक दिन आश्रम में उपस्थित हुआ। किन्तु उस दिन साधुओं के पास दान देने योग्य कोई वस्तु नहीं थी। अस्तु, गम्भीरनाथजी ने अपने निज के व्यवहार का कम्बल उनलोगों के सामने रखकर कहा, "आज तो तुमलोगों को देने लायक कोई विशेष वस्तु नहीं है, इसलिए यह कम्बल लेकर ही चले जाओ।" किन्तु, न मालूम क्यों चोरों ने महापुरुष द्वारा व्यवहृत कम्बल को लेने में विशेष उत्साह नहीं दिखलाया। वे चुपचाप आश्रम छोड़कर चले गये।

चोर अभी कुछ ही दूर गये होंगे जबकि आश्रम के एक नवागत साधु ने लम्बी साँस लेते हुए कहा, "जाओ, अच्छा ही हुआ कि हम-

लोगों के पास जो कुछ रुपये हैं, उनका पता इन्हें नहीं लग सका। हम खूब बचे!" यह साधु और उसके कई संगी नवागत अतिथि थे। वे गम्भीरनाथ के आश्रित भक्तों में कोई नहीं थे। वे सब तीर्थ-भ्रमण में निकले थे, और मार्ग में कई दिनों के लिए यहाँ ठहर गये थे। किन्तु गम्भीरनाथजी इन अतिथियों को छोड़ने वाले नहीं थे। उनकी बात को सुनकर उन्होंने फौरन दृढ़ स्वर में कहा, "अभी दौड़ कर जाओ। पास में जो कई रुपये हैं, उन्हें दे आओ।" उनके इस आदेश को अमान्य करने का साहस नवागत साधुओं को नहीं हुआ। उनमें एक उसी क्षण दौड़कर गये और चोरों के हाथ में अपने पास के रुपये देकर चले आये।

गुरु गोपालनाथजी के महाप्रयाण के बाद गम्भीरनाथ के ज्येष्ठ गुरुभाई बलभद्रनाथजी महन्त के पद पर प्रतिष्ठित हुए। इसके बाद क्रमशः उनके शिष्य दिलवरनाथजी और सुन्दरनाथजी गद्दी पर बैठे। इस बीच एक योग-सिद्ध महापुरुष के रूप में गम्भीरनाथजी की ख्याति साधु-समाज में फैल चुकी थी। कुम्भ-मेला में आये हुए प्रसिद्ध साधु-संन्यासियों में भी उनकी कम मान प्रतिष्ठा नहीं थी! इसलिए नाथ-पंथी योगियों में कितने ही ऐसे थे जो सोचते थे कि गम्भीरनाथजी को यदि महन्त का पद स्वीकार करने के लिए किसी प्रकार राजी किया जा सके तो बड़ा अच्छा होता। इससे केवल सम्प्रदाय की मर्यादा में ही वृद्धि नहीं होगी, गोरखनाथजी के साधन-पीठ का कार्य भी अच्छी तरह चलेगा।

किन्तु इस वीतराग संन्यासी को गद्दीधारी बनने के लिए कौन राजी करायेगा? विशिष्ट नाथ-पंथी साधक प्रायः इस प्रस्ताव को लेकर उनके समीप उपस्थित होते, युक्तिपूर्वक उनसे अनुनय करते। किन्तु सबकुछ सुनने के बाद योगीवर गम्भीर भाव से केवल इतना ही संक्षिप्त उत्तर देते—'नहीं।' यह उत्तर सुनकर सबलोग चुप हो जाते।

महायोगी के चरणों में आश्रय लेने के लिए भारत के दूर-दूर के

प्रदेशों से बहुत से साधक लोग आया करते थे। किन्तु किसी को दीक्षा-दान करने में वह सहज तैयार नहीं होते थे। कोई यदि अत्यन्त अनुरोध करता तो वह उसको कठोर भर्त्सना करते हुए कहते, "क्या मैं अपने जीवन के अंतकाल में एक फौज का गठन करूँगा ?"

किन्तु विधि-विधान से उन्हें बाद में चलकर इस 'फौज' का गठन करना ही पड़ा। कपिलधारा वनांचल त्यागकर गम्भीरनाथजी को अंततः गोरखपुर-मठ में आकर रहने के लिए वाध्य होना पड़ा। उनका आश्रय प्राप्त कर बहुत से लोगों ने अपने को धन्य समझा।

गोरखपुर-मठ के महन्त सुन्दरनाथ युवक और अव्यवस्थित-चित्त के थे। सम्प्रदाय का नेतृत्व, पूजा और अतिथि सत्कार आदि का भार उन्हीं के ऊपर था। किन्तु इस भार को वहन करने की उनमें क्षमता कहाँ थी ? मठ की संपत्ति का प्रबन्ध ठीक तरह से नहीं हो रहा था। सबलोग मिलकर इस दुरवस्था की बात बार-बार गम्भीरनाथजी के कानोंतक पहुँचाने लगे। अंत में गुरुधाम के इस संकट को देखकर वह उससे दूर नहीं रह सके। सुन्दरनाथजी को महन्त पद पर कायम रखकर वह मठ के सब कामों पर नियन्त्रण रखने लगे। अब सारे काम उनकी देख रेख में सुव्यवस्थित रूप से चलने लगे।

गम्भीरनाथजी १९०६ ई० में गोरखपुर-मठ में आकर स्थायी रूप से वहाँ वास करने लगे। अब गोरखनाथजी के मन्दिर में ही उनका साधन-आसन स्थापित हुआ। इसके फलस्वरूप उत्तर के बहुत से साधकों एवं मुमुक्षुजनों को उनकी कृपा प्राप्त करने का सुयोग मिला।

महंत न होकर भी गम्भीरनाथजी मठ के अध्यक्ष के रूप में समस्त कार्यों का संचालन करने लगे। मठ के प्रतिदिन के कामों में हलचल और व्यावहारिक झंझटें लगी ही रहती थीं। किन्तु यह निर्विकार महा-पुरुष बिल्कुल सहज भाव से सबकुछ का संचालन करते थे। सम्प्रदाय का नेतृत्व, गृहस्थजनों को उपदेश दान, साधु-महात्माओं की सेवा आदि कर्त्तव्यों का पालन जिस निष्ठा के साथ वह करते थे उसी निष्ठा के साथ

प्रजागण के दु:ख-कष्ट और अभाव-अभियोगों के निवारणार्थ भी तत्पर रहा करते थे। किन्तु इस प्रकार कर्म-व्यस्त रहते हुए भी उनके निर्विकार एवं सदा प्रसन्न रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता था।

महायोगी की द्वैत-सत्ता क इस रूप का अक्षय बन्द्योपाध्याय ने बड़े ही सुन्दर रूप में चित्रण किया है। उन्होंने लिखा है, "जिनके नेतृत्व में इतना बड़ा एक आश्रम सुव्यवस्थित रूप में संचालित हो रहा था, उनकी ओर जभी दृष्टि जाती तभी उन्हें आत्मस्थ देखा जाता था। वाह्य जगत् की ओर उनकी दृष्टि बिल्कुल नहीं थी। वह मानों एक निर्विकार-शांत-तरंगहीन परिपूर्ण आनन्द की प्रतिमूर्त्ति के रूप में इस विकारमय संसार में विराजमान हो रहे थे। कर्मचारीगण लौकिक कार्य के सम्बन्ध में निवेदन कर रहे हैं—ऐसा लगता था मानों भक्त अपने उपास्य देवता के समीप अपनी मनोकामना व्यक्त कर रहे हों। उनका कथन समाप्त होने पर वह 'हाँ' या 'नहीं' या 'अच्छा' इतना कहकर अथवा आवश्यक होने पर संक्षेप में दो-चार शब्द बोलकर उनके कर्त्तव्य का निर्देश कर दिया करते थे।

इसी प्रकार कभी कोई नौकर-चाकर आदेश की प्रतीक्षा कर रहा है, कभी कोई दरिद्र भिक्षुक सहायता की याचना कर रहा है, कभी कोई आगन्तुक आश्रम का अतिथि हुआ है, कभी साधुगण किसी विषय को लेकर विवाद कर रहे हैं और विवाद की मीमांसा के लिए उनसे अनुरोध कर रहे हैं; इस प्रकार एक ही समय में विभिन्न श्रेणी के लोग अपने-अपने अनुरोध को लेकर उनके सामने उपस्थित हैं। वह अर्द्ध वाह्य अवस्था में ही मृदु स्वर में जिसे जो कुछ कहना होता, दो एक वाक्य कहकर, जिसे कुछ देना होता उसे देकर, अतिथि-अभ्यागतों के लिये यथोचित सेवा की व्यवस्था करके पुनः आत्मस्थ हो जाते, किन्तु इतने से ही सब विषयों का सुप्रबन्ध हो जाता। वह आश्रम-वासियों को जो कुछ आदेश या उपदेश देते उनसे पता चलता कि आश्रम-सम्बन्धी कोई भी विषय ऐसा नहीं था जिस पर उनकी दृष्टि नहीं थी।

सबलोगों के प्रति, समस्त कर्त्तव्यों के प्रति वह सदा सजग रहते थे, यद्यपि उनकी ओर देखने से प्रायः सर्वदा ऐसा लगता था कि उनके नेत्र या तो बन्द अथवा अधखुले हैं।

मठाध्यक्ष के रूप में गम्भीरनाथजी का जीवन अत्यन्त सहज और आडम्बरहीन था। उनका पहनावा था—एक कौपीन और उसके ऊपर एक शुभ्र-वस्त्र। शरीर के ऊपर भी एक खण्ड-वस्त्र डाले रहते थे। पादुका के रूप में सदा खड़ाऊँ का व्यवहार करते थे। गौर वर्ण, लावण्य-मंडित शरीर सुडौल और समुन्नत था। बड़े-बड़े सफेद बाल कन्धों तक लटके हुए थे। प्रशांत-दिव्योज्ज्वल मुखमण्डल मूँछ और दाढ़ी से शोभित था। उन्हें देखकर सहसा कोई अनुमान नहीं कर सकता था कि यह ही महाशक्तिधर योगी बाबा गम्भीरनाथ हैं। नये दर्शनार्थियों को वह किसी कुलीन गृहस्थ घर के प्राचीन भद्र पुरुष जैसे प्रतीत होते थे।

महंत जिस दो-मंजिला मकान में रहते थे उसीके नीचे के तल्ले में एक छोटी-सी कोठरी में बाबा गम्भीरनाथ रहा करते थे। एक चौकी के ऊपर कम्बल बिछा हुआ था। यही उनकी शय्या थी। इस कोठरी में वह समाधि अथवा अर्द्ध वाह्य अवस्था में घण्टों व्यतीत कर देते थे। यही कोठरी मठ के प्रबन्ध के लिए समय-समय पर कार्यालय भी बन जाती थी। यहाँ देश के विभिन्न स्थानों से आये हुए भक्तों और योगियों को वह दर्शन और उपदेश दिया करते थे।

आश्रम के अन्य लोग जो भोजन करते थे वही उनका भी भोजन था। अपने भोजन के सम्बन्ध में किसी प्रकार की विशेषता उन्हें पसन्द नहीं थी। नाथजी का भण्डारा प्रस्तुत हो जाने पर साधु-संन्यासियों के लिए जो भोजन परोसा जाता था, वही भोजन वह नित्य किया करते थे। सन्ध्या की आरती हो जाने पर वह मन्दिर की प्रदक्षिणा करते और इसके बाद गुरु गोपालनाथजी के समाधि-मन्दिर के बरामदे पर आकर बैठ जाते। भक्त और मुमुक्षुजनों को प्रायः इसी समय उनका

सत्संग-लाभ होता था। घण्टों वहाँ चुपचाप बैठे रहकर वह उस भावाविष्ट महापुरुष के मुख से दो-चार वाक्य श्रवण कर अपने को धन्य समझते।

मठ की ओर से अतिथि सेवा के लिए गम्भीरनाथजी ने जो व्यवस्था कर रखी थी उसमें किसी प्रकार त्रुटि न थी। साधु तथा गृहस्थ अभ्यागतों के आगमन का सिलसिला सदा लगा ही रहता था। इनके भोजन और शयन आदि की देख-भाल में उनकी ओर से कभी कोई भूल-चूक नहीं देखी गई। आश्रम के किसी एक कोने में कोई नवागत भक्त या अतिथि सूखी लकड़ी के अभाव में भोजन बनाने में असमर्थ है, सर्वज्ञ बाबा से इस तरह की साधारण बात भी छिपी नहीं रहती थी। देखा जाता था, सेवक-शिष्य के द्वारा वह तुरत ईंधन भेज देते थे। अतिथि या आश्रितों को जब जिस वस्तु की जरूरत होती, अर्द्ध वाह्य ज्ञान की अवस्था में भी यह जान लेने में उन्हें देर नहीं लगती। ऐसी थी उनकी सर्वात्मक दृष्टि।

अतिथि सेवा के मामले में कभी-कभी गम्भीरनाथजी को अलौकिक शक्ति का व्यवहार करते देखा जाता था। विभिन्न ऋतुओं में तथा मठ के उत्सवों के अवसर पर साधु-सन्तों और ब्राह्मणों को भोजन कराने की प्रथा थी। इस समय में निमंत्रित अतिथियों की परितृप्ति के लिए गम्भीरनाथजी का उत्साह देखते बनता था। भोज के समय प्रायः ऐसा देखा जाता कि दोगुनी संख्या में लोग आ गये हैं। आश्रम के कार्यकर्त्ता ऐसे अवसर पर किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाते थे, और कोई उपाय न देखकर वह बाबा के शरणापन्न होते थे।

गुरुधाम और गोरखनाथजी के मठ की मर्यादा का प्रश्न इसके साथ जड़ित था। इसलिए गम्भीरनाथजी के ध्यान निमीलित नयन तत्काल सजग हो जाते थे। अपना आसन छोड़कर वह धीरे-धीरे पेटी के पास गये। उसमें से एक नई चादर निकालकर सेवक के हाथ में दे दी और प्रशांत कण्ठ से बोले, "भोजन की जो कुछ सामग्री है उसे इस चादर से ढक दो। इसके बाद भोजन सामग्री को एक ओर

से परोसना शुरु कर दो। भय मत करो, नाथजी की कृपा से किसी वस्तु का अभाव नहीं होगा।" निर्देशानुसार भोजन परोसा गया। अब लोगों ने साश्चर्य देखा, दुगुनी संख्या में अतिथियों के पूर्ण तृप्ति के साथ भोजन कर लेने पर भी यथेष्ट मात्रा में भोज्य सामग्री बच गई थी।

आश्रम के बगीचे में ज्यों ही आम पकना शुरु होता, गम्भीरनाथजी प्रतिवर्ष भोज का आयोजन करते थे। इस अवसर पर अतिथियों को भरपेट आम खिलाये जाते थे। एक बार के आमंत्रण में अप्रत्याशित रूप में बहुत से अभ्यागत आ गये। सहसा इतने लोगों के आ जाने से आश्रमवासी हतबुद्धि हो गये। बाजार से आम खरीद कर लाने का समय भी नहीं बच गया था। कार्यकर्त्तागण बाबा के निकट गये और अपनी परेशानी उन्हें कह सुनाई। उन्होंने आदेश दिया आम की सारी टोकरियों को लाकर मेरी चौकी के नीचे रख दो। ऐसा ही किया गया। फिर उन्होने एक सफेद चादर से उन टोकरियों को ढँक दिया। इसके बाद सेवकों ने एक तरफ की टोकरियों से एक-एक आम निकालकर परोसना शुरु किया। आश्चर्य की बात; महापुरुष की योग-विभूति के प्रभाव से फलों को समाप्त होते नहीं देखा गया। बहुसंख्यक लोगों ने उस दिन छककर भोजन किया।

गोरखनाथजी की दोहाई देकर किसी किसी समय आर्त्त भक्तगण बाबा गम्भीरनाथजी को अपने योगैश्वर्य की महिमा प्रदर्शित करने के लिए विवश कर देते थे। अतुलबिहारी गुप्त ने 'मृत्यु के बाद और पुनर्जन्मवाद' नामक पुस्तक में इस सम्बन्ध में एक प्रत्यक्ष घटना का विवरण दिया है।

अतुल बाबू गोरखपुर में सरकारी स्कूल के एक शिक्षक थे। एक दिन विद्यालय के प्रधान शिक्षक, गम्भीरनाथजी के अन्यतम भक्त अघोरनाथ चट्टोपाध्याय के साथ गोरखनाथ-मठ में गये। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने एक करुण दृश्य देखा। शहर के एक विशिष्ट धनी एवं

कुलीन परिवार की वृद्धा महिला गम्भीरनाथजी के दोनों पाँव पकड़ कर आकुल क्रन्दन कर रही है। महिला का पुत्र बारिष्टरी पढ़ने विलायत गया हुआ था। गत चार महीनों से उसका कोई कुशल पत्र नहीं मिला था। उसका एक मित्र विलायत में ही रहता था। उसके पास भी पत्र भेजा गया किंतु वह भी कोई पता न दे सका। इस प्रकार उक्त महिला के पुत्र का इस समय कोई पता ही नहीं चलता था।

महिला को किसी प्रकार टालने के उद्देश्य से गम्भीरनाथजी शांत स्वर में कहने लगे, "माई, मैं एक गरीब, संसार-त्यागी व्यक्ति हूँ। विलायत की खबर मैं किस प्रकार जान सकता हूँ, कहो तो ?"

किंतु पुत्र-विरह-सन्तप्ता माता किसी प्रकार भी उन्हें छोड़ना नहीं चाहती थी। बहुत अनुनय-विनय करती हुई बोली, "बाबा, मैं जानती हूँ, आप इच्छा करते ही मेरे पुत्र का संवाद मंगा सकते हैं। दोहाई भगवान गोरखनाथजी की, आप मुझ पर दया कीजिए, और इस महासंकट से मेरा उद्धार कीजिए।"

सौम्य-दर्शन योगीवर के मुखमण्डल पर इषत् हास्य की रेखा खेल गई। उन्होंने कहा, "अच्छा माई देखता हूँ, इस विषय में मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ।"

इसके बाद गम्भीरनाथजी अपने कमरे में गये और उसका द्वार बंद कर दिया। लगभग चालीस मिनट वहाँ रहकर फिर लौट आये। इस बार महिला को आश्वासन देते हुए कहा, "माई आगामी सोमवार को तुम्हारा पुत्र गोरखपुर में ठीक आ जायेगा। इस समय वह जहाज पर है। तुम उसके लिए कोई दुश्चिता न करो।" योगीवर के ऊपर वृद्धा महिला को बड़ा विश्वास था और उनके प्रति उसके हृदय में श्रद्धा भी कम नहीं थी। पुत्र के आगमन का संवाद तथा बाबा द्वारा आश्वासन पाकर वह वहाँ से चली गई।

बाद की घटना के सम्बन्ध में अतुल गुप्त ने लिखा है, "परवर्ती बुधवार को अपराह्न में लगभग चार बजे अघोर बाबू ने मुझे बुला भेजा। उनके बंगला पर उपस्थित होकर देखा कि साहबी पोशाक

पहने हुए एक युवक उनके साथ बात-चीत कर रहे हैं। मुझे देखकर अघोर बाबू बोले, 'यह उस वृद्धा के वही पुत्र हैं जिनका कोई पता नहीं चलता था। जैसा बाबा ने कहा था, सोमवार को यह यहाँ पहुँचे हैं। बाबा के साथ इनकी माता का जो साक्षात्कार हुआ था उस संबंध में यह कुछ नहीं जानते। मैं अभी ही इन्हें और तुमको बाबा के समीप ले जाऊँगा। बाबा को मैं एक महामानव मानता हूँ। ....आज तुम्हारा बहुत दिनों का एक कुसंस्कार समूल नष्ट हो जायगा।

बाबा अकेले कुटिया के सामने दालान में बैठे हुए हैं। तरुण बारिस्टर बाबा को देखते ही विस्मित होकर बोले— हेलो बाबा ! यू आर हियर।' अघोर बाबू विरक्त भाव ले बोले, 'बाबा अंगरेजी नहीं जानते।' हम सबलोगों के बैठने पर बारिस्टर साहब इस बार हिन्दी में बोले, 'आप यहाँ कब आये ? मैं जहाज से उतर कर इंपीरि-यल मेल ट्रेन से रवाना हुआ। किंतु उस गाड़ी में आप भी थे ऐसा तो नहीं लगता।'

अघोर बाबू ने बारिस्टर साहब से कहा, आपकी बात से ऐसा लगता है कि आपने बाबा को किसी अन्य स्थान में देखा है। क्या यह ठीक है ? बारिस्टर—'बिलकुल ठीक हमारे जहाज को जब बंबई पहुँचने में एक दिन की देर थी, उस समय मैंने बाबा को ठीक अपने केबिन के सामने देखा था। एक साधु को प्रथम श्रेणी के निकट चक्कर लगाते देखकर मैं अपने केबिन से निकला और लगभग पाँच मिनटों तक उनके साथ बात-चीत की। इसके बाद बाबा दूसरी ओर चले गये।'

मैं—"आपको याद है कि आपने कब और किस समय में जहाज पर बाबा के साथ बात चीत की थी ?"

"पाठकों को ज्ञात होगा कि उक्त बुधवार को संध्या से पहले बाबा अपने कमरे में चले गये थे और लगभग चालीस मिनटों तक वहीं रहे। और इधर साहब कह रहे हैं कि इसी समय उन्होंने बाबा को जहाज के ऊपर देखा था। इस समस्या का उत्तर यही है कि बाबा सूक्ष्म शरीर धारण कर उस जहाज के ऊपर पहुँच गये थे।"

महायोगी की योग-विभूति का यह चमत्कार अन्यान्य अवसरों पर भी देखा गया था। इसके सिवा एक साथ ही विभिन्न स्थानों में स्थूल शरीर से उपस्थित रहने की बात भी उनके कुछ घनिष्ठ शिष्यों को मालूम थी।

गम्भीरनाथजी उस समय योग–सिद्धि के उच्चतम शिखर पर पहुँचे हुए थे। उस समय समाधि एवं ब्रह्म-ध्यान में ही उनका अधिकांश समय व्यतीत होता था। किंतु इस प्रकार सूक्ष्म-लोक में विचरण करते हुए भी वह स्थूलजगत के साधारण से साधारण मनुष्य की इच्छा या अभाव–अभियोग की कभी उपेक्षा नहीं करते थे। गम्भीरनाथजी के शिष्य बिनोद बिहारी दत्त गुप्त ने अपने संस्मरण में इसका कुछ उल्लेख किया है—

"मठ में रामेश्वर नाम का एक किशोर–वयस्क सेवक था जो बाबा की सेवा किया करता था। एक दिन दोपहर में नाथजी का प्रसाद पा लेने के बाद गम्भीरनाथजी अपने कमरे में विश्राम कर रहे थे। इसी समय बिनोद बाबू ने चुपके से उस कमरे में प्रवेश किया। बाबा की सेवा करने का अब तक उन्हें कोई सुयोग नहीं मिला था। आज उनकी प्रबल इच्छा हुई कि रामेश्वर के हाथ से पंखे की डोरी लेकर कुछ समय तक सोये हुए बाबा की सेवा करें।

कमरें में प्रवेश करते ही बिनोद बाबू ठमक गये। गम्भीरनाथजी पलंग पर बैठे हुए थे और बालक भृत्य उनके समीप खड़ा था। बाबा को प्रातः काल सेब, बेदाना आदि फल प्रचुर मात्रा में भेंट स्वरुप प्राप्त होते। उन्हीं फलों में से दो–चार फलों को वह हाथ में लिए हुए थे। उनका मतलब था उस नौकर को खाने के लिए दो--चार फल देना। उस दिन बालक को इस प्रकार आदर करके फल देने वाला और दूसरा कौन था? इसलिए वह इस समय उसे चुपचाप फल निकाल कर दे रहे थे। ठीक इसी समय एक तीसरे व्यक्ति के आकस्मिक आगमन से दाता और गृहीता दोनों ठिठक गये। बिनोद बाबू उसी क्षण कमरे से बाहर हो गये।

मठ की जमींदारी का कोई कर्मचारी यदि अपराधमूलक कार्य

करता तो गंभीरनाथजी उसकी कठोर भर्त्सना करते थे। कभी-कभी उसे दूसरे काम में लगा देते। किंतु किसी अपराधी को काम से हटा देने के लिए यदि शिष्यगण जोर देते तो वह किसी प्रकार भी राजी नहीं होते। व्यथित होकर कहा करते थे, 'बेचारा बिना खाये मर जायगा। तुमलोग क्या उसे और भी पाप के गड्ढे में ढकेल देना चाहते हो ?"

दीन-दरिद्र, पड़ोसी और प्रजा के वह पिता एवं प्रतिपालक थे। कोई यदि एक बार उनकी सहायता अथवा आश्रय की याचना करता तो उसे कभी निराश नहीं करते। यही कारण है कि उनके देहावसान के बाद उनके समाधि-मंदिर के सामने प्रायः दीन-दरिद्र जनों को आँसू बहाते देखा जाता था। उनकी आर्त्तवाणी सुनाई पड़ती "बुड्ढे महाराज! आप आज कहाँ छिपे हुए हैं ? आप जहाँ भी हों-आपकी कृपा-दृष्टि हमलोगों के ऊपर बनी रहे। हमारे दुःख-कष्ट को सुनने वाला, हमारे अभावों को दूर करने वाला, अब कौन रह गया है ?"

केवल मनुष्य ही नहीं, अन्य प्राणी भी महायोगी के स्नेह-स्पर्श से वञ्चित नहीं थे। गम्भीरनाथजी जभी मठ के बरामदा या आँगन में आकर बैठते ये कुत्ते वहाँ आकर उनके चरण-तल के पास लेट जाते थे। चाहे वह कितने ही गंदे क्यों न हों, बाबा के पास से उन्हें हटा देना संभव नहीं था। यदि उनके शिष्य कुत्तों को वहाँ से मार भगाने की कोशिश करते तो वह स्वयं उन्हें मना करते।

बिनोद बाबू ने एक रात की चमत्कारपूर्ण घटना का यों वर्णन किया है:—"एक दिन रात के अंतिम पहर में बाबा के घर में खट-खट शब्द सुने जाने पर किवाड़ खोलकर उसके अंदर प्रवेश किया; देखा, बाबा पलंग के नीचे रोटी को टुकड़े-टुकड़े करके चूहों को दे रहे हैं। मुझे देखकर वह कुछ लज्जित जैसे होकर पलंग पर जा बैठे और मेरा ध्यान दूसरी ओर फेरने के लिए मुझे चिलम भरने का आदेश दिया। बाबा की आँखों में कभी एक बूँद भी आँसू नहीं देखा गया, किंतु उनका अंतःकरण बड़ा कोमल था, जिसका प्रमाण उनकी दृष्टि एवं व्यवहार से पग पग पर मिलता था।"

रेशमी वस्त्र पहनना गम्भीरनाथजी पसंद नहीं करते थे। कोई भक्त या शिष्य यदि इस प्रकार की पोशाक उन्हें भेंट करता तो वह उसे प्रत्यक्ष रूप में अस्वीकार न करके अपने किसी शिष्य-सेवक से उसे उठा कर दूसरी जगह रख देने के लिए कहते। एक बार उनसे जब रेशमी वस्त्र धारण करने के लिए बहुत अनुरोध किया गया तो उन्होंने शांत भाव से उत्तर दिया, "जो लोग रेशम का सूत तैयार करते हैं वे रेशम के कीड़ों के साथ कोओं को गरम जल में रख देते हैं। कीड़ें कोओं के अंदर का रेशम काट व दें इसलिए ऐसा किया जाता है। इससे बहुत से कीड़े मर जाते हैं।" अब सब लोगों को मालूम हुआ कि गम्भीरनाथजी रेशमी वस्त्र पहनना क्यों नापसंद करते थे।

१६०६ ई० से गम्भीरनाथजी ने लोक गुरु के रूप में आने को प्रकट किया। योगी-जीवन के एक करुणाघन-अध्याय का इस समय से आरम्भ हुआ। बहुत से मुमुक्षुजन एवं भक्त उनके समीप आया-करते थे और उनमें कुछ लोग उनका शिष्यत्व प्राप्त करके अपने को धन्य समझते थे। ऐसे शिष्यों में बंगालियों की संख्या ही अधिक थी।

महायोगी गम्भीरनाथजी के प्रति प्रभुपाद विजयकृष्ण गोस्वामी की बड़ी श्रद्धा थी। वह स्वयं जिस प्रकार अपनी साधना के सम्बन्ध में गम्भीरनाथजी से निर्देशादि ग्रहण करते थे उसी प्रकार अपने भक्तों के बीच शक्तिधर महापुरुष का गुण-कीर्त्तन करने में भी थकते नहीं थे। ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में गोस्वामीजी सद्गुरु-लाभ पर अत्यधिक जोर दिया करते थे और इस दिशा में जिज्ञासुओं को बाबा का आश्रय ग्रहण करने के लिए उत्साहित करते थे। उस समय के बंगाली शिक्षित समाज में बाबा गम्भीरनाथ की बात गोस्वामीजी के उत्साह से ही विशेष रूप में प्रचारित हुई थी जिससे इस महायोगी के आश्रय में क्रमशः भक्तों की संख्या में वृद्धि होने लगी थी।

लोगों के मुँह से गम्भीरनाथजी के अलौकिक जीवन की महिमा सुनकर बहुत से भक्त दर्शनार्थी उनके समीप आने लगे थे। उनमें कितनों ने उनके निकट अपने आपको सम्पूर्णतः समर्पित कर दिया था।

कुमिल्ला के एक डाक्टर भगवान के बड़े भक्त थे। उन्होंने एक दिन स्वप्न देखा कि किसी अपरिचित स्थान में वह पहुँच गये हैं। वहाँ एक सौम्य दिव्य-दर्शन योगी ने उन्हें दीक्षा प्रदान की है। इस अद्‌भुत स्वप्न का गूढ़ार्थ डाक्टर समझ नहीं सके। किंतु इस सम्बन्ध में उनकी व्याकुलता क्रमश: बढ़ने लगी। विजयकृष्ण गोस्वामी उनके मित्र थे। संयोग से एक दिन गोस्वामीजी के साथ डाक्टर की भेंट हो गई और उन्होंने अपने स्वप्न की बात कह सुनाई। गोस्वामीजी ने अपने मित्र के मुँह से सारी बात सुनकर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, "तुमने स्वप्न में जिस महात्मा को देखा है मालूम होता है वह गोरखपुर के गम्भीरनाथजी हैं। तुम तुरत उनकी शरण में जाओ।"

कई दिनों के अंदर ही डाक्टर को आकस्मिक रूप में यात्रा-व्यय का प्रबंध हो गया। इसके बाद जब वह गोरखपुर पहुँचे, उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। उन्हें ऐसा लगा कि स्वप्न में उन्होंने इस मठ का ही दृश्य देखा था; और बाबा गम्भीरनाथ ही उनके स्वप्न-दृष्ट गुरुदेव थे। दीक्षा-दान के बाद उन्होंने गम्भीरनाथजी से अपने स्वप्न के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उत्तर में बाबा ने कहा "बेटा तुम्हारा संस्कार था, और तुम्हारे साथ मेरा पूर्व सम्बन्ध भी था।"

नोआखाली के सुदूर अंचल के एक बालक को भी इसी प्रकार स्वप्न में गम्भीरनाथ जी की दिव्य मूर्त्ति का दर्शन हुआ था। यह महात्मा कौन हैं, बालक बिलकुल नहीं जानता था। फिर भी उनके चरणों में पहुँचने के लिए वह उत्कंठित हो उठा। एक दिन फेनी शहर में पहुँचकर किसी परिचित व्यक्ति के घर में उसने गम्भीरनाथजी के एक आलोक चित्र (फोटो) का दर्शन किया। यही उसके स्वप्न-दृष्ट महापुरुष की प्रतिकृति है इसमें उसे तनिक भी संदेह नहीं रह गया।

इस बालक भक्त की व्याकुलता क्रमश: बढ़ने लगी। किसी प्रकार यात्रा-व्यय का प्रबंध कर वह शीघ्र गोरखपुर आ पहुँचा। रात में

तीन बजे गोरखपुर पहुँच कर उसने देखा-बाबा गम्भीरनाथजी एक जलती हुई लालटेन के सामने खाट पर बैठे हुए हैं। दूर देश से आये हुए उस बालक की प्रतीक्षा में ही मानो वह बैठे हुए हों। प्रणाम करते ही योगीवर ने स्नेहपूर्ण शब्दों में उससे कुशल-समाचार पूछा और कहा कि तुम्हारे विश्राम के लिए बिछावन का प्रबंध पहले से ही ठीक हो चुका है।

मैमनसिंह के एक भक्त बालक का अनुभव भी कम विचित्र नहीं है। अल्प वयस में ही वह एक योग-साधक के निर्देशानुसार योगाभ्यास करने लगा था। एक दिन जब वह ध्यान मग्न हो रहा था; गम्भीरनाथजी की दिव्य मूर्त्ति उसके मानस-पटल पर प्रतिभासित हो उठी। आश्चर्य-मिश्रित आनन्द से वह बालक अधीर हो उठा। इससे पहले इस प्रकार के किसी महापुरुष का चित्र या उनके सम्बन्ध में कोई वार्त्ता न तो उसने देखी थी और न सुनी थी। कुछ दिनों के बाद बाबा गम्भीरनाथ जी के एक शिष्य के साथ बालक का सम्पर्क स्थापित हुआ और शीघ्र ही वह योगीवर के आश्रम में पहुँच गया।

ऐसे भक्तों की संख्या भी कम नहीं है जिनके साथ अलौकिक रूप में गम्भीरनाथजी का सम्बन्ध स्थापित हुआ था। इस सम्बन्ध में कार्य-कारण पर विचार करते हुए ऐसा लगता है कि ईश्वर-निर्दिष्ट किसी विशेष विधान के अनुसार ही योगीवर अपने संभाव्य शिष्य की अंतर-सत्ता में अपने को प्रतिफलित करते थे। एक अमोघ आकर्षण के फलस्वरूप वह एक-एक कर उनके पास आ जुटते थे।

गम्भीरनाथजी के अन्यतम शिष्य अध्यापक अक्षय कुमार बन्द्योपाध्याय ने लिखा है, "स्वभावतः ऐसा लगता था कि बाबाजी ने अपनी शिष्यमंडली का आवाहन तथा अपनी ओर आकर्षण कर अपनी कृपा से उनके जीवन को सार्थक कर दिया है। किंतु साक्षात् दर्शन के समय में उन्होंने कभी इसका परिचय किसी को होने नहीं दिया। अलौकिक दर्शन के सम्बन्ध में यदि कोई साहस करके कुछ

कहता तो वह बहुधा यही उत्तर दिया करते थे कि– 'स्वप्न स्वप्न ही है, उसके प्रति मनोयोग देने को आवश्यकता क्या है ?'' यदि कभी कोई अत्यन्त व्यग्र होकर प्रश्न करता तो सान्त्वना देते हुए कहते, ''तुम्हारे साथ सम्बन्ध था,' अथवा 'तुम्हारा संस्कार था' ।''

योगीगुरु गम्भीरनाथजी की अलौकिक शक्ति से न मालूम कितने मुमुक्षुजन उनके पास खिंच कर चले आते थे, और उनकी करुणा का स्पर्श पाकर उनका जीवन रूपांतरित हो जाता था। इन सब जीवंत मनुष्यों के साथ-साथ अशरीरी आत्मा भी कभी-कभी इन महापुरुष की कृपा से वञ्चित नहीं होता था।

एक बार एक भक्त ने गम्भीरनाथजी से सपत्नीक दीक्षा-ग्रहण करने का निश्चय किया। इस विषय में उनकी पत्नी का विशेष आग्रह था। किंतु उक्त महिला के दुर्भाग्य से यह संभव नहीं हो सका। कुछ दिनों के बाद ही अकस्मात् उसका देहांत हो गया। बाद में भक्त को स्वामीजी से दीक्षा लेने की बात निश्चित हुई। उस समय उन्होंने हाथ जोड़ कर गम्भीरनाथजी से कहा, 'बाबा, मेरी पत्नी की बड़ी अभिलाषा थी कि वह मेरे साथ मिलकर दीक्षा ले। आज के इस शुभ अनुष्ठान के अवसर पर उसकी अपूर्ण अभिलाषा चरितार्थ हो और उसके ऊपर गुरु की कृपा हो-यही हमारी एकांत प्रार्थना है।'' गम्भीरनाथजी के समीप वह बार बार कातर भाव से यह प्रार्थना दोहराने लगे।

अक्षय बाबू ने इस घटना का एक मनोज्ञ विवरण दिया : "योगीराज ने पहले तो धीर भाव से उत्तर दिया, प्रेतात्मा को दीक्षा–दान किस प्रकार संभव हो सकता है ? किन्तु भक्त को यह विश्वास था कि योगीराज के लिए यह असंभव नहीं है। पति की व्याकुलता देख–कर योगी-प्रवर ने दो आसन रखवाये। दीक्षार्थी पति एक आसन पर स्वामीजी के सम्मुख बैठे। स्वामीजी ने उन्हें आँख मूँद कर बैठने का आदेश दिया।

''दीक्षा–लाभ करने के साथ-साथ शिष्य को अनुभव हुआ कि उनकी पत्नी भी दीक्षा प्राप्त कर कृतार्थ हुई है। गुरुदेव की असाधारण

करुणा देखकर उनका हृदय आनन्द से भर गया। अपनी अनुभूति को विश्वास से सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने विनीत भाव से प्रश्न किया-'मेरी पत्नी को दीक्षा प्राप्त हुई या नही ?" गुरुदेव ने मृदु-स्वर में उत्तर दिया-हाँ।' अहेतुक कृपा-सागर गुरुदेव ने दया कर प्रेतात्मा को भी आवाहन कर अपने चरणों में स्थान दिया, यह सोच कर उनका हृदय विस्मय, भक्ति एवं कृतज्ञता से विह्वल हो उठा।'

अपने शिष्यों को गम्भीरनाथजी मुख्य रूप से दो उपदेश दिया करते थे-'विश्वास रखना--विचार करना'। उनके प्रथम वाक्य का गूढ़ार्थ था, गुरु एवं ईश्वर के प्रति विश्वास तथा आत्म-समर्पण की भावना। दूसरे वाक्य का अर्थ था-'इस सतत परिवर्त्तनशील माया-मय संसार के सम्बन्ध में विचार करते रहना। इस प्रकार विचार करते रहने से ही ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, यही उनका निर्देश था।

किंतु इस समय उपदेशादि देना गंभीरनाथजी के लिए बाहरी बात थी। अंतरंग क्षेत्र में उनके द्वारा प्रदत्त दीक्षा एवं साधन के फल-स्वरूप न मालूम कितने साधु-संन्यासियों एवं शिष्यों के जीवन कृतार्थ हो रहे थे। उनके कृपापात्र शिष्यों की अध्यात्म-अभिज्ञता एवं अतीं-द्रिय अनुभूतियों की जो सब बातें सुनी जाती हैं वे कम आश्चर्य-जनक नहीं हैं।

शिष्यों एवं भक्तों के दिन-प्रतिदिन के जीवन पर योगीवर की सदा सर्तक दृष्टि रहा करती थी। उनके मन की साधारण से साधा-रण तरंग भी उनके मानस के ऊपर प्रतिफलित हुए बिना नहीं रहती थी। ऐसा लगता था कि वह अपनी समग्र सत्ता द्वारा अपने आश्रितों के जीवन को घेरे रहते थे। लौकिक एवं आध्यात्मिक किसी भी आव-श्यकता की पूर्त्ति के लिए वह 'बाबा' के ऊपर निर्भर कर सकते थे।

एक दिन योगीवर के बहुत से दर्शनार्थियों के बीच उनके एक विशेष भक्त उनके सम्मुख बैठे हुए थे। चाय-पान के वे अभ्यासी थे किंतु संकोच वश वहाँ अपनी इच्छा को दबाये हुए थे। गम्भीरनाथजी

एकाएक अर्द्धवाह्य अवस्था से जाग्रत हुए और उक्त भक्त के प्रति दृष्टि क्षेप करते हुए बोले, 'अरे, जाओ, जाओ, जल्दी से चाय तो पी लो।"

मठ से सटा हुआ जो उद्यान-गृह था उसमें शिष्यगण कभी कभी सपरिवार आकर ठहरा करते थे। महिलाओं में कोई कोई जेवर भी अपने साथ लाया करती थीं। अँधेरी रात में उस सुनसान बगीचे में उन्हें भय भी लगता था। अंतर्यामी गम्भीरनाथजी से ये सब बातें छिपी नहीं थीं। एक सतर्क अभिभावक की तरह वह उन्हें बुला भेजते और उनके जेवर के बक्स को अपने कमरे में सुरक्षित रख देते ताकी वह निश्चिन्त होकर सो सकें।

एक दिन गम्भीरनाथजी ध्यानाविष्ट अवस्था में अपने आसन पर बैठे हुए थे। चारों ओर भक्तों और शिष्यों की भीड़ लगी हुई थी। ध्यान में मुँदी हुई आँखें खोलकर बाबा ने सहसा कमरे के एक कोने की तरफ अँगुली से इशारा किया। देखा गया वहाँ एक घी का टीन रखा हुआ है। उसे धूप में रखने का इशारा करके बाबा फिर पूर्ववत् ध्यान-मग्न हो गये। किंतु बात यहाँ खतम नहीं हो गई। कुछ क्षणों के बाद उन्होंने फिर आँखें खोलीं। इस बार घी के बरतन की ओर इशारा करते हुए उन्होंने निर्देश दिया, उसमें से कुछ घी निकाल कर एक दूसरे बर्तन में रखा जाय और उसे तुरंत हाथी शाला के दोमंजिले पर पहुँचा दिया जाय।

बाद में चलकर लोगों को इसका रहस्य मालूम हुआ। इस दोमंजिले के एक कमरे में एक भक्त उस समय सपत्नीक रह रहे थे। इस दम्पति का प्रधान कार्य था एकनिष्ठ भाव से योगीवर की सेवा-परिचर्या करना। घी के बने हुए भाँति--भाँति के खाद्य प्रस्तुत कर प्रति-दिन बाबा के भोजन के लिए वह भेजा करते। आज यह घी भेज-कर गम्भीरनाथजी ने उनकी सेवा-निष्ठा को सस्नेह स्वीकृति प्रदान की। जो लोग वहाँ उपस्थित थे उन्हें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आत्म-समाहित महायोगी के निकट भक्त-हृदय की एक साधारण से साधारण भावना का मूल्य भी तुच्छ नहीं था।

कांतिचंद्र सेन गोरखपुर के एक नामी डाक्टर थे। बाबा के प्रति उनकी असीम भक्ति थी। स्वयं एक यशस्वी चिकित्सक होने पर भी उनके परिवार का यदि कोई व्यक्ति कठिन रोग से ग्रस्त होता तो वह बराबर बाबा गम्भीरनाथ जी कृपा की याचना करते। उनके पास से धूनी की किंचित विभूति अथवा धूप लेकर परम निर्भरता के साथ रोगी को व्यवहार करने के लिए देते। इससे रोगी शीघ्र चंगा हो जा जाता।

डा० सेन का बालक-पुत्र एक बार मरणासन्न हो गया था। बचने की जब कोई आशा नहीं रह गई तब वह बाबा का शरणापन्न हुआ। बाबा द्वारा प्रदत्त धूप का धुआँ उसकी नाक के अन्दर कई बार प्रवेश कराने पर रोग का उपशम हुआ और वह भला-चंगा हो गया

अपने शिष्यों के साथ गम्भीरनाथजी एक बार हरिद्वार पहुँचे। उस समय वहाँ हैजा फैला हुआ था। भक्त उमेश बाबू के साथ उनके मुंशी का बालक-पुत्र भी घूमने आया था। सहसा वह हैजे से आक्रांत हो गया। उमेश बाबू दूसरे के बालक को लेकर बड़े संकट में पड़े। उमेश बाबू बाबा गम्भीरनाथजी के चरणों में गिर कर बालक की प्राण रक्षा के लिए कातर प्रार्थना करने लगे, बालक अपने गरीब पिता का एकमात्र पुत्र है—यदि मेरे अपने परिवार के किसी के जीवन के बदले इसकी प्राण-रक्षा हो जाय तो इसे भी मैं वांछनीय समझूँगा।

गम्भीरनाथजी कुछ क्षणों तक मौन रहे। उमेश बाबू के मन में इस प्रकार की विचार को उदित होते जानकर उन्होंने एक गहरी दृष्टि डाली और हुंकार-सूचक ध्वनि की। उमेश बाबू को यह समझने में देर नहीं लगी कि बाबा को उनके मनोभाव के अंदर एक प्रच्छन्न आत्माभिमान का बीज छिपा हुआ दिखाई पड़ता है। इसी लिए उन्होंने भर्त्सना सूचक हुँकार-ध्वनि की है। इसका तात्पर्य यह है—'हूं तुम अपने को इतना वीतराग और वीर समझ रहे हो कि अपने पुत्र के प्राण के बदले में दूसरे के बालक की जीवन-रक्षा के

लिए तैयार हो रहे हो।' इसके बाद एक भक्त की कातर प्रार्थना से द्रवित होकर उस दिन योगीवर को कहना पड़ा—"अच्छा, बच जायगा।" बालक का संकट उस दिन ही टल गया और शीघ्र ही वह रोग से छुटकारा पा गया।

भक्त और शिष्यगण चाहे जितनी दूर रहते हों, योगिराज के वरदहस्त की छाया सदा उनके ऊपर रहती थी। एक दिन बाबा गोरखपुर-मठ के अपने कमरे में बैठे हुए थे। सामने कई अंतरंग भक्त थे। एकाएक व्याकुल होकर उन्होंने पूछा, "उमेश बाबू का क्या समाचार है? वह अच्छे हैं न?"

उमेश बाबू उस समय सपरिवार हरिद्वार में थे। सब लोगों ने समझा, अवश्य ही उनके ऊपर कोई विपत्ति आ पड़ी है। तार द्वारा उनकी खोजखबर ली जाय या नहीं, यह पूछने पर गम्भीरनाथजी अधखुली आँखों से कुछ क्षणों तक मौन रहे। फिर बोले, "हाँ, कल देखा जायगा।" दूसरे दिन जब उनके सामने इस विषय की पुनः चर्चा की गई, उन्होंने संक्षेप में उत्तर दिया—'इसके लिए अब व्यग्र होने की आवश्यकता नहीं।'

कई दिनों के बाद उमेश बाबू की चिट्ठी से ही विस्तृत समाचार मालूम हुआ। बाबा गम्भीरनाथजी जिस समय उनकी कुशल-वार्त्ता के लिए व्यग्र हो रहे थे, ठीक उसी समय उमेश बाबू रेल यात्रा कर रहे थे। चलती ट्रेन का हैंडिल पकड़ कर वह यात्रा कर रहे थे, जिससे प्राण-नाश की आशंका थी। डब्बे के अंदर से उनके परिवार के लोग कातर-भाव से चीत्कार कर रहे थे। उनका आर्त्तस्वर सुदूर अवस्थित गम्भीरनाथजी के कानों तक पहुँचा। करुणार्द्र योगी उसी क्षण उनकी प्राण-रक्षा के लिए अवहित हो गये।

और एक दिन की घटना है। गम्भीरनाथजी अर्द्ध वाह्य अवस्था में अपने आसन पर बैठे हुए हैं। सहसा किसी अज्ञात कारण से उनका ध्यान टूट गया। आँख खोलकर व्यस्त भाव से उन्होंने अपने भक्तों और शिष्यों से पूछा, "मास्टर बाबू मठ लौट आये?"

यह मास्टर बाबू उनके अन्यतम शिष्य प्रसन्न कुमार घोष थे।

शिक्षा विभाग की नौकरी से अवकाश-ग्रहण कर गुरु की सेवा के लिए उस समय गोरखपुर में रह रहे थे। उस दिन रात में एक घोड़ा-गाड़ी पर सवार होकर मठ आ रहे थे। रास्ते में एकाएक घोड़ा भड़क उठा और गाड़ी गिर कर टूट गई। प्रसन्न बाबू आश्चर्यजनक रूप में बच गये। उन्हें साधारण चोट लगी।

एक बार गम्भीरनाथजी कुछ समय के लिए कलकत्ता पधारे। उस समय शहर में एक शक्तिमान साधक का आगमन हुआ। अपनी योग-शक्ति के द्वारा वह यत्र-तत्र विचरण कर सकते थे। उनके सम्बन्ध में नाना अलौकिक कहानियाँ सुनी जाती थीं। योगबल से पर-काया में प्रवेश करने की चर्चा इतनी अधिक होने लगी थी कि कुछ लोग उन्हें 'पर-देह-प्रवेशी' नाम से अभिहित करने लगे थे। यह भी कहा जाता कि यदि कोई उन्हें बार बार स्मरण करता तो वह सूक्ष्म शरीर धारण कर उसके सामने प्रकट हो जाते थे।

बाबा गम्भीरनाथ के एक शिष्य बीच बीच में इस साधक के समीप जाया करते थे। एक दिन इस शिष्य ने अपने घर में बैठकर महापुरुष के प्रति चित्त निविष्ट किया और मन ही मन उनका आवा-हन किया। शीघ्र ही उक्त शक्तिधर योगी उनके सम्मुख प्रकट हो गये।

इस शिष्य से उसके उस दिन के अद्भुत अनुभव का विवरण सुनकर अक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय महाशय ने लिखा है; "महा-पुरुष ने उन्हें (शिष्य को) दीक्षा देने की इच्छा प्रकट की जिससे उन्हें भय हुआ। एक अन्य महापुरुष का शिष्य होकर वह क्या दूसरे से दीक्षा ग्रहण करेंगे? किंतु बिना प्रयोजन इस महात्मा का आवाहन करना भी तो अनुचित हुआ है– ऐसा सोचते हुए वे किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो गये। 'पर-देह-प्रवेशी' साधक ने उन्हें समझा दिया कि वह उनके पूर्व-लब्ध मंत्र की शक्ति नष्ट करके उन्हें दीक्षा दान करेंगे। इसी समय उन्होंने देखा कि पीछे से बाबाजी की ज्योति पूर्ण मूर्त्ति 'पर-देह-प्रवेशी' साधक की ओर तीक्ष्ण दृष्टि से देख रही है और उस

दृष्टि से अग्नि-स्फुलिंग विकीर्ण होकर 'पर देह-प्रवेशी' को अभिभूत कर रहा है। उस तेज से विह्वल होकर भीत-चकित भाव से प्रणाम करते हुए वह वहाँ से विदा हो गये। बाबाजी की मूर्त्ति भी अंतर्हित हो गई।"

गम्भीरनाथजी के शिष्य उसी क्षण वहाँ से प्राण बचाकर भागे। बाबाजी की स्नेहमयी दृष्टि कवच की तरह सतत उनकी रक्षा कर रही है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करके उनके नयनों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। इसके बाद वह अनुतप्त शिष्य गम्भीरनाथजी के निकट उपस्थित हुए और अपनी इस गलती के लिए बार-बार क्षमा माँगने लगे। बाबाजी की स्नेह-मधुर वाणी से उन्हें आश्वासन मिला और उनका विक्षुब्ध हृदय क्रमशः शान्त हुआ।

गम्भीरनाथजी की योग-विभूति अपरिमेय थी। कभी बाहर के संघात से तो कभी कृपा परवश उनकी इस अलौकिक शक्ति का प्रकाश देखा जाता था। साधारण जन उनकी इस शक्ति का चमत्कार देख-कर विस्मय विमूढ़ बन जाते थे। किंतु उनके नित्य के आचरण अथवा व्यावहारिक जीवन में सदा उनकी लौकिक सहज मूर्त्ति का ही परिचय मिलता था। मन्दिर सम्बन्धी मामलों में गंभीरनाथजी वकील की राय-सलाह के ऊपर ही निर्भर करते थे। स्वयं यदि किसी कठिन व्याधि से ग्रस्त होते तो चिकित्सक के निर्देशानुसार ही दवा और पथ्य ग्रहण करते। इस स्थिति में उन्हें एक असहाय बालक के रूप में देखा जाता था। रोग की पीड़ा को सहज भाव से ग्रहण करते थे। अस्वस्थता की अवस्था में उन्हें बहुत दिनों तक डाक्टर की सलाह और निर्देश के बिना किसी आपत्ति का पालन करते नहीं देखा जाता था।

एक बार की बीमारी में उन्हें तीव्र पीड़ा सहन करनी पड़ी। उनकी इस अवस्था को देखकर उनके भक्त एवं शिष्यगण अत्यंत कातर हो उठे। उस समय उनकी सेवा-शुश्रूषा का भार उनके एक-निष्ठ सेवक-शिष्य काली नाथ ब्रह्मचारी के ऊपर था। ब्रह्मचारी ने एक दिन स्पष्ट रूप में बाबा से कहा, "बाबा, आप स्वेच्छा से इतना कष्ट

भोग रहे हैं। आपको देखकर हमलोगों को बड़ा कष्ट हो रहा है। अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग कर आप अभी रोग को दूर भगा दें।"

बाबाजी ने कोई उत्तर नहीं दिया। जब सेवक ने बार बार उनसे विनती की, तब वह केवल इतना ही बोले, "क्या मैं भगवान की करनी को पलट दूँगा ?"

१९१४ ई० के अंतिम चरण में उनका एक नेत्र एक असाध्य व्याधि से आक्रांत हुआ। निश्चय हुआ कि उन्हें कलकत्ता लाकर एक अच्छे शल्य-चिकित्सक से उनकी शल्य-चिकित्सा कराई जायगी। एक सुबोध बालक की तरह उन्होंने इस व्यवस्था को स्वीकार कर लिया। बाद में समझा गया कि यह रोग-भोग वस्तुतः इन महा-पुरुष की एक छलना है—अपनी नेत्र-चिकित्सा के बहाने वह उस समय ज्ञानांजन-शलाका द्वारा बहुत से मुमुक्षुजनों के नेत्रोन्मीलन की व्यवस्था कर रहे थे। अपनी चिकित्सा की अपेक्षा बंगाल के कुछ भाग्यवानों के बीच कृपा-वितरण करना ही महायोगी का मुख्य उद्देश्य था, यह बात उस दिन अनेक लोगों को समझने में देर नहीं लगी।

आरम्भ से ही यह देखा जाता था कि गम्भीरनाथजी दीक्षा-दान या शिष्य बनाने के विषय में विशेष उत्साही नहीं थे। १९१४ तक उन्होंने कुछ ही लोगों को शिष्य बनाया था। उस समय उनके दीक्षित शिष्यों की संख्या एक सौ से अधिक नहीं होगी। किंतु नेत्र चिकित्सा और इस बार की कलकत्ता यात्रा ने महापुरुष के लोक-गुरु जीवन के एक नूतन अध्याय का उद्घाटन कर दिया। कल-कत्ता-अवस्थान-काल में उन्होंने बहुत से मुक्तिकामी नर-नारियों को शिष्य रूप में ग्रहण किया। इसके बाद भी कितने ही लोग गोरख-पुर गये और उनका आश्रय प्राप्त कर धन्य हुए। नश्वर शरीर का त्याग करने से पूर्व तक गम्भीरनाथजी के बंगाली शिष्यों की संख्या लगभग छह सौ तक पहुँच चुकी थी। दीक्षा-दान के संबंध में

बाबा गम्भीरनाथजी की इस समय की उदारता को देखकर उनके पुराने शिष्यों का बड़ा आश्चर्य होता था। वे सानंद कहा करते थे, "बाबा बंगाल में आकर मानो कल्पतरु हो गये हैं।"

जिस समय बाबा कलकत्ते में थे, कुलदानन्द ब्रह्मचारी एक दिन अपने शिष्यों के साथ उनके दर्शनार्थ आये। उस समय योगीराज भोजन करके विश्राम कर रहे थे। विजयकृष्ण गोस्वामीजी के प्रति गम्भीरनाथजी का बराबर निविड़ स्नेह रहा। इसलिए उनके शिष्य कुलदानंदजी के आगमन से वह हर्षोत्फुल्ल हो उठे और बड़े आग्रह के साथ उन्हें अपने शयनकक्ष में बुला भेजा।

साष्टांग प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए कुलदानंदजी ने कहा, 'बाबा गोस्वामी के प्रति आपकी जैसी कृपा थी, वैसी ही कृपा इस दास के प्रति भी बनी रहे।" गम्भीरनाथ के युगल नयन आनंदोज्वल हो उठे। सस्नेह गोस्वामीजी के शिष्यों के ऊपर दृष्टिपात करते हुए उन्होंने बार बार आश्वासन दिया—"हाँ, हाँ।"

शल्य-चिकित्सा के बाद नेत्र-रोग दूर हो गया और गम्भीरनाथ जी गोरखपुर-मठ लौट आये। कुछ दिनों तक यहाँ रहने के बाद हरिद्वार-कुंभ-मेला के लिए उनकी अंतिम यात्रा हुई।

हरिद्वार में ब्रह्मकुंड के पास नाथजी का दलीचा है। यह स्थान उस समय नाथपंथी साधु-संतों के आगमन से भर गया था। इसके समीप ही गम्भीरनाथजी के लिए एक मकान भाड़े पर लिया गया। उनके साथ बहुत से भक्त-शिष्य थे। भक्त-शिष्यों के साथ वह इस मकान में ठहरेंगे, ऐसी व्यवस्था की गई थी।

किंतु बाबा ने सारी व्यवस्था ही उलट दी। पहले वह नाथजी के दलीचे में ही उपस्थित हुए। उनकी उपस्थिति से समागत साधु-संन्यासियों में मानो आनंदसागर लहराने लगा। किंतु इस दलीचे में गुरुदेव को कष्ट होगा, ऐसा सोचकर उनके शिष्यों की इच्छा थी कि वह भाड़े के मकान में रहें। दलीचे में जो सब पुराने साधु थे वे इसमें

आपत्ति करने लगे। वे आग्रह पूर्वक कहने लगे, 'हमारे बाबा यहीं ठहरेंगे। वही हमारे सर्वस्व हैं। हम कभी उन्हें छोड़ नहीं सकते।" इन साधुओं के आग्रह को देखकर बाबा अपने कतिपय शिष्यों के साथ दलीचे में ही ठहर गये। साथ में जो दूसरे शिष्य आये थे वे अन्यत्र अवस्थान करने लगे।

जिस समय बाबा नाथजी के दलीचे में अवस्थान कर रहे थे, हजारों मनुष्य उनके दर्शन के लिए आते थे। केवल नाथपंथी साधु-संन्यासी और महंथ ही नहीं, सब श्रेणी के स्त्री-पुरुष इन महायोगी के दर्शन के लिए आकुल हो रहे थे। अपने अंतर की श्रद्धा निवेदित कर अपने को कृतकृत्य समझते थे।

हरिद्वार-कुम्भ से लौटने पर योगीवर केवल दो वर्षों तक अपने नश्वर शरीर से जीवित रहे। उनके अंतरंग शिष्यों में जो लोग इस समय उन्हें ध्यान से देखते थे, उनकी दृष्टि में महायोगी का नूतन रुप छिपा नहीं था। एक ओर जहाँ उनमें लौकिक वस्तुओं के प्रति उदासीनता बढ़ती जाती थी वहाँ दूसरी ओर एक रहस्य घन अंतर्मुखीता में वे निमज्जित होते चले जाते थे। शिष्यगण उद्विग्न होकर सब उनसे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछ-ताछ करते, वह केवल इतना ही उत्तर देते, "अच्छा है।"

गोरखपुर के सन्निकट योगी चौक है। जाग्रत शिवलिंग का यह एक सिद्धपीठ है। इस बार शिवरात्रि के अवसर पर जब गम्भीर-नाथजी यहाँ गये तो तीन दिन रहकर लौटे। उनका शरीर बड़ा दुर्बल हो गया था। कई दिनों के बाद योगीवर ने सब लोगों को सूचित कर दिया कि वह देहात जायँगे।

उनकी बात को सुनकर सब लोगों ने समझा कि बाबा मठ की जमींदारी के अंतर्गत किसी विशेष स्थान में जाना चाहते हैं। उत्कंठित होकर शिष्यों ने प्रश्न किया दुर्बल शरीर लेकर बाबा के लिए कहीं अन्यत्र जाना क्या अच्छा होगा? योगीवर ने हँसते हुए उत्तर दिया,

चिंता न करो जहाँ मैं जाना चाहता हूँ वह स्थान परम निर्जन है। वहाँ की शांति एवं पवित्रता अपूर्व है। इसलिए वहाँ स्वास्थ्य अच्छा होने की ही संभावना है।"

देहात जाने का दिन निश्चित हुआ। पत्रा देखकर यात्रा का शुभ दिन निश्चित हुआ—चैत्र वारुणी, त्रयोदशी। इस देहात-यात्रा का विशेष उद्देश्य क्या है- गंतव्य स्थान कहाँ है, इस रहस्य का उद्घाटन उस दिन कोई शिष्य नहीं कर सका।

शरीर क्रमशः और भी खराब होने लगा। इस अवस्था में बाबा किस तरह देहात जायँगे ? शिष्यों के अनुनय-पूर्ण प्रश्न के उत्तर में गम्भीरनाथजी ने जो कुछ उत्तर दिया वह और भ्रांतिकारक तथा रहस्यपूर्ण था। उन्होंने उदास भाव से कहा, "वहाँ तो विपद का कोई कारण ही नहीं है। वहाँ एक बार जाने से स्वास्थ्य अच्छा होगा ही वह स्थान शुभाशुभ से परे है- चिर शान्ति-धाम !"

उसी पूर्व निर्दिष्ट महावारुणी तिथि—१९१७ ई० की २१ मार्च-को महायोगी ने अपने स्थूल नश्वर शरीर का सदा के लिए परित्याग कर दिया। अब सब लोगों की समझ में यह बात आई कि रहस्यमय 'देहात' का गूढ़ निहित अर्थ क्या था !

वामाक्षेपा

निःशब्द आधी रात का समय। नाटोर के राज--महल में रानी गाढ़ी निद्रा में सोई हुई हैं। सहसा उन्होंने एक दु.स्वप्न देखा और उनकी नींद टूट गई। भय-विह्वल होकर वह पलंग पर बैठ गई और सोचने लगीं—यह कैसी भयंकर बात है। तारा-पीठ की अधिष्ठात्री देवी—माँ तारा आज चार दिनों से उपवास कर रही हैं ?

देवी अभी स्वप्न में उनके सामने आविर्भूत हुई थीं। दीन वेश में शोकार्त्त- स्वर में वह कहने लगीं —"युगांतर से मैं इस सिद्ध--पीठ में विराज रही हूँ। किंतु अब ऐसा लगता है कि मुझे यहाँ से बिदा लेनी पड़ेगी। मंदिर के पुरोहित और तुम्हारे दरवान ने मेरे प्रिय पुत्र क्षेपा को बुरी तरह पीटा है और उसकी चोट मेरे शरीर पर लगी है—यह देखो, मेरी पीठ पर लहू का दाग ! और इसका कारण भी बहुत तुच्छ है। मंदिर में मेरी मूर्त्ति के सामने भोग-निवेदन किया गया था। मैंने अपने पागल बेटे को बुला कर कहा- क्षेपा आओ, मेरे साथ भोजन करो। वह मंदिर में प्रवेश कर खाने लगा-बस यही उसका अपराध है। क्षेपा को आज चार दिन हुए प्रसाद नहीं मिला है। बिना खाये-पीये वह श्मशान में घूमता रहता है। इसलिए मैं भी कई दिनों से उपवासी हूँ।"

रानी दुःख-भरे स्वर में रोने लगीं। उनकी अनुनयपूर्ण प्रार्थना सुनकर देवी ने कहा, "अच्छा, मैं तारा--पीठ छोड़ कर नहीं जाउँगी। किंतु, अब से ऐसी व्यवस्था करो कि प्रति दिन मुझे भोग के पूर्व मेरे प्रिय पुत्र क्षेपा को भोग दिया जाय।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि रानी ने फौरन यह स्वीकार कर लिया। अबसे तारा-पीठ में देवी के निर्देशानुसार ही भोगान्न निवेदित किया जायगा। इसके सिवा, क्षेपा की देख रेख में भी कोई त्रुटि नहीं होगी।

भय और विस्मय के कारण रानी को उस रात फिर नींद नहीं आई। विछावन पर लेटी हुई वह बार बार अपने मन में स्वप्न की बात पर विचार करने लगीं। इसके सिवा उनके मन में यह भी प्रश्न उठने लगा—यह क्षेपा कौन है? कितना बड़ा भाग्यवान साधक वह है! ब्रह्ममयी तारामाता का वह दुलारा बन गया है। जननी तारा-देवी के साथ इस क्षेपा की एकात्ममा अपूर्व है! यदि ऐसा नहीं होता तो उसकी पीठ की चोट माँ के दिव्य अंग पर इस रूप में क्यों पड़ती?

दूसरे दिन बहुत सवेरे राजमहल में दीवानजी को बुलाया गया। सजल नेत्रों से रानी ने गत रात्रि के स्वप्न की बात दीवानजी को कह सुनाई। फिर बोलीं 'कितनी हानि उठाकर नाटोर-राज्य के अपने मौजे के बदले में राजा असादुल्ला खाँ के मौजे तारापीठ को इस राज-सरकार के अंतर्गत किया गया है। इस सिद्ध पीठ की अब-मानना नहीं हो, माँ की सेवा में विघ्न नहीं हो, इसलिए यह सब किया गया। और हमारी सेवा-व्यवस्था में ही रहकर मेरी माँ चार दिनों से उपवासी हैं।"

राज-सरकार के आदेश और निर्देश के साथ दो विशिष्ट कर्म-चारी सुबह ही तारापीठ के लिए रवाना हो गये। साथ-साथ पूजा और भोग की बहुत-सी सामग्री भी चली।

देवी के स्वप्नादेश और रानी के हुकुम की बात सुनकर तारापीठ के सब लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ। पुरोहित और दरबान को उसी दिन काम से हटा दिया गया। किंतु जिसको लेकर यह सब कांड घटित हुआ था वह क्षेपा कहाँ है? बालक-तुल्य महासाधक राज-कर्मचारियों के आगमन की बात सुनकर भय से न मालूम कहाँ खिसक गया। बहुत ढूँढ़-ढाँढ़ करने के बाद उसका पता चला। दोनों कर्मचारियों ने हाथ जोड़कर नाटोर-राज की ओर से उस महापुरुष

से क्षमा-प्रार्थना की। षोड़शोपचार-विधि से तारा माँ की पूजा की गई और भोग-निवेदन किया गया। क्षेपा प्रधान कौल के पद पर नियुक्त हुए और सदा के लिए यह आदेश दिया गया—अब से तारा माँ को भोग लगाने के पूर्व माँ के पुत्र क्षेपा को भोग देना होगा।

दूसरी बार की एक घटना है। क्षेपा बाबा उस समय प्रायः भाव-समाधि में मग्न रहा करते थे— कभी वाह्य-चेतना-शून्य, कभी बिलकुल बालक की तरह आचरण! भावोन्मत्त अवस्था में एक दिन उन्होंने मंदिर की मूर्त्ति के ऊपर मूत्र त्याग कर दिया। पुरोहित और पंडागण चारों ओर से हाय हाय करते हुए वहाँ दौड़े आये। क्षेपा पर जब अभियोग लगाया गया तब बड़े आनंद के साथ बोल उठे, "ठीक किया है। अपनी माँ के शरीर पर मैंने पेशाब किया है, इससे तुम साला लोगों का क्या बिगड़ता है।"

सब लोग बड़े संकट में पड़े। तारा देवी की पवित्र मूर्त्ति को अपवित्र कर दिया गया है। विशेष पूजा-पद्धति द्वारा उनकी पुनः प्रतिष्ठा किये बिना काम नहीं चल सकता। उसी दिन राज-सरकार को यह खबर दी गई। इस बार भी माँ का फिर प्रत्यादेश हुआ। अधिकारियों ने तारा-पीठ में आदमी भेजकर सूचित कर दिया—'माँ की पूजा पहले की तरह चलती रहेगी। क्षेपा बाबा स्वेच्छाचारी स्वतंत्र पुरुष हैं। माँ का दुलारा पुत्र! उनके किसी भी कार्य में दोष ढूढ़ने की आवश्यकता नहीं। देवी-मूर्त्ति को अपवित्र करने का प्रश्न ही नहीं उठता। माँ-बेटे के मामले में दूसरों को माथा-पच्ची करने की जरूरत नहीं।"

तारा माँ की यह प्रिय संतान ही विख्यात तंत्र-सिद्ध महापुरुष वामाक्षेपा हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के बंगाल में शक्ति-साधना की एक अग्निशिखा के रूप में क्षेपा का महाजीवन प्रज्वलित हुआ था, और उसके दिव्य आलोक से बहुत से भाग्यवान साधकों के जीवन उद्भासित हो उठे थे।

तारा-मंदिर की एक ओर विस्तीर्ण बालुका-तट पर तारा-पीठ का श्मशान था। प्रवाहमयी द्वारक नदी अर्धचंद्राकर उस श्मशान को

घेरकर बह रही थी। यह श्मशान ही शिवकल्प महासाधक बाबा की विचरण-भूमि था—उनका तपस्या-क्षेत्र। इस पटभूमि में ही तारा-पीठ और महाकौल का वास्तविक रूप प्रस्फुटित हुआ था।

द्वारक नदी के तट पर अमावस्या की रात घनीभूत हो रही थी। घनांधकार की छाती चीरकर बीच-बीच में सियार और गीधों की कर्कश आवाज सुनाई पड़ती थी। चिताधूम और मुर्दा जलने की गंध चारों ओर फैल रही थी। लोगों का ऐसा विश्वास था कि तारा-पीठ-श्मशान में मृतक की अस्थि रखने से मुक्ति निश्चित है। इसलिए श्मशान में जैसी कि प्रथा थी, शव को प्रायः अर्धदग्ध अवस्था में चिता पर छोड़ दिया जाता था। उसके बचे-खुचे अंश को चीर-फाड़-कर सियार, गीध और कुत्ते अपना आहार बनाते थे। अर्द्धदग्ध सड़े-गले शव के अंश और कंकाल इधर-उधर बिखरे पड़े रहते थे। इन्हीं के बीच सेमल-वृक्ष के नीचे वशिष्ठदेव के पंचमुंडी आसन से सटकर वामाक्षेपा सोये रहते थे—इस शक्ति-पीठ के जाग्रत भैरव के रूप में।

क्षेपा बिलकुल दिगम्बर थे। लंबे कृष्णवर्ण शरीर में भीम-भैरव कांति फूट रही थी। मदिरा और गांजा-सेवन के फलस्वरुप दोनों बड़ी-बड़ी आँखें जवा पुष्प की तरह लाल रहती थी। किंतु जिज्ञासु साधकों की दृष्टि में छिपा नहीं था कि इस भीम-कांति शरीर के अंदर से एक आत्मभोला देवशिशु झांक रहा है जिसके नयनों में स्वर्गीय आनन्द की द्युति है।

क्षेपा बाबा के शरीर से सटकर खेलते रहते थे उनके प्रिय सह-चर श्वानदल जिनके नाम थे—केलो, भूलो, लाली और श्वेत फूली। श्मशान में परित्यक्त खाद्य को लेकर ये चीखते और दौड़-धूप करते रहते थे। मृतक की हड्डी और मांस के भी ये कम लोभी नहीं थे। खींचतान में कभी-कभी क्षेपा के आसन के पास भी हड्डी और मांस के दो-एक टुकड़े छिटक कर आ जाते थे। महापुरुष कभी लाड़-प्यार कर उन कुत्तों को अपनी गोद में बैठाते और कभी उन्हें दूर

हटा देते। ये कुत्ते कभी-कभी बिगड़ कर क्षेपा के शरीर को काट खाने से भी बाज नहीं आते। जब उनके शरीर से बहुत रक्त-पात होने लगता तभी उन कुत्तों को डांटते हुए वह कहते,—'साले, देखता हूँ तुम बहुत बढ़ते जा रहे हो।

भक्त और दर्शनार्थी आसपास में खड़े हैं। इस पिसाच-बालक-तुल्य ब्रह्मज्ञ महापुरुष की ओर जब उनकी दृष्टि जाती है, उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रहती। किसी के प्रति प्रसन्न होने पर क्षेपा उससे कहने लगते, "रे साला, कुछ माल-ताल लाया है तो बाहर निकाल।" मदिरा या गाँजा कुछ मिल जाने पर उन्हें बेहद खुशी होती थी। किंतु इस मनमौजी महापुरुष का सब कुछ दुर्जेय था। उसी समय यदि कोई अन्य व्यक्ति मद्य या गाँजा भेंट देने के लिए तैयार होता तो वह उसे बिना कारण गालियाँ देकर भगा देने से भी बाज नहीं आते।

तारा मंदिर की आरती समाप्त हो जाती। मंदिर का पुजारी क्षेपा बाबा के लिए श्मशान की बालू पर पत्ते में भोग-प्रसाद रख जाता। बाबा के भोजन के संगी थे उनके प्रिय सहचर श्वान दल। एक ओर ये श्वान छींट-छाट कर खा रहे हैं दूसरी ओर महामानव क्षेपा भी उनके साथ सानन्द भोजन कर रहे हैं। यह एक अद्भुत दृश्य था।

शव, शिव और श्वान से घिरे हुए श्मशानचारी क्षेपा बाबा के महाजीवन में अनेक विपरीत भावों का समावेश देखा जाता था। वह कभी उन्मत्त, कभी बालक पिशाचवत् दिखाई पड़ते थे। और इसके साथ ही इस शक्तिधर महापुरुष के अंतस्थल में प्रज्ञा एवं प्रेम की अंतःसलिला फलगुधारा भी प्रवाहित हो रही थी। इस रस-विभूति का पता केवल उन साधकों को ही लगता जिनकी दृष्टि क्षेपा की कृपा से खुल गई थी। महातांत्रिक के बहिर्जीवन का यह आव-रण लोगों को भुलावे में डाल देता था; कभी कभी क्षणभर में यह आवरण हटता हुआ दिखाई पड़ता। इस समय जो सच्चे अधिकारी साधक थे, दल के दल तारा-पीठ में उपस्थित होते। शक्तिधर महापुरुष क्षेपा की कृपा प्राप्त कर वे धन्य हो जाते।

क्षेपा की जन्मभूमि वीरभूम की आध्यात्मिक परंपरा बहुत दिनों से चली आ रही थी। तंत्र-साधना की धारा जिस प्रकार यहाँ प्रवहमान थी-उसी प्रकार वैष्णव साधना के भावोच्छवास भी कम नही देखे जाते थे। कवि जयदेव और चंडीदास इस वीरभूम की ही संतान थे। यहीं एक चौका गाँव में अवधूत श्रीनित्यानंद ने जन्म ग्रहण किया था। शाक्त एवं वैष्णव दोनों का साधन क्षेत्र यह वीरभूम है, किंतु युग युग से तंत्र साधना के बीच ही यहाँ की अध्यात्म-साधना को वास्तविक परिणति प्राप्त हुई है।

पुराणों में जिन इकावन शक्ति पीठों का उल्लेख किया गया है उनमें पाँच इस वीरभूम में हैं। इनके सिवा सिद्ध-पीठ और उपपीठ भी इधर-उधर विखरे हुए कम नहीं हैं। वशिष्ठदेव से आरम्भ होकर वामाक्षेपा तक कौलाचार्यों की एक अविच्छन्न धारा यहाँ के तारापीठ में प्रवहमान रही है। तंत्र-साधना के एक श्रेष्ठ केन्द्र के रूप में चिरकाल से इसकी ख्याति रही है।

पुरान-शास्त्र के अनुसार वशिष्ठ, भृगु, दत्तात्रेय, दुर्वासा—ये सभी तारा सिद्ध थे। सारे भारत में महाविद्या तारादेवी के सिद्ध-पीठों की संख्या आठ है। शक्ति-साधकों की तपश्चर्या के फलस्वरूप युग-युग से ये सब पुण्य स्थान आज भी जाग्रत बने हुए हैं। कहा गया है ब्रह्मा के मानस-पुत्र वशिष्ठ देव ने स्वयं तारा सिद्ध होकर कौलसाधकों की आराध्या इस देवी की शिलामयी प्रतिमा की यहाँ प्रतिष्ठा की थी।

तारा-पीठ, किंतु पुराणोक्त इकावन पीठ के अंतर्गत नहीं है। सिद्ध-पीठ रूप में ही इसकी गणना की जाती है। कौलवरिष्ठ वशिष्ठ देव ने इसकी प्राण-प्रतिष्ठा की थी। इसके बाद से तारा-पीठ के श्मशान में युग-परंपरा मे न मालूम कितने समर्थ शक्ति-साधक दल उपस्थित हुए। इनमें कितनों ही को लोग आज प्रायः भूल बैठे हैं। किंतु आज भी कौल साधना की अंतः सलिला धारा इस तपः क्षेत्र में प्रवाहित हो रही है।

लगभग दो सौ वर्ष पूर्व की बात है। उस समय तारापीठ में विशेक्षेपा नामक एक महान् शक्ति-साधक का आविर्भाव हुआ था।

इसके बाद कौलाचार्य आनन्दनाथ आये। यह राजा रामकृष्ण के सम-सामयिक थे। घटनाचक्र के प्रभाव से तारा-पीठ की सेवा एवं संचालन का भार नाटोर राज्य के ऊपर आ पड़ा और राजा राम-कृष्ण ने उस दिन बड़े आग्रह के साथ इस सिद्ध-पीठ का समस्त दायित्व-भार ग्रहण किया। सुना जाता है, तारा सिद्ध महापुरुष आनं-दनाथ से राजा रामकृष्ण ने अनेक साधन-निर्देश प्राप्त किये थे। कुछ समय तक यहाँ वह तपस्या में भी रत थे।

आनन्दनाथ के प्रशिष्य मोक्षदानन्द थे। उनके समय में ही तारा पीठ में कैलासपति बाबा का आविर्भाव हुआ। इस शक्तिमान महा-पुरुष की साधना की ज्योति से ही महासाधक वामा क्षेपा का जीवन उद्‌भाषित हो उठा था। कैलासपति बाबा ने अपने साधन-ऐश्वर्य का दान अकृपण भाव से क्षेपा जैसे शुद्ध-सत्व पात्र को कर दिया था। वामा तारा-सिद्ध हुए और तंत्र-साधना के एक श्रेष्ठ धारा एवं वाहक के रूप में उनका अभ्युदय हुआ।

तारा पीठ के निकट अलटा ग्राम में वामाक्षेपा का जन्म हुआ था। इस छोटे से गाँव में ब्राह्मणों के बहुत से घर थे। पुरोहित-वृत्ति और खेती की आमदनी से उनकी जीविका चलती थी। क्षेपा के पिता सर्वानन्द चट्टोपाध्याय एक साधारण गृहस्थ ब्राह्मण थे। यद्यपि धन-वित्त से खुशहाल नहीं थे- फिर भी विशेष अभाव नहीं था। सर्वानन्द धर्म-भीरु, पवित्रचेता एवं सरल-प्रकृति मनुष्य थे। अल्प वयस में अपने कुल गुरु से दीक्षा ग्रहण कर वह माँ की उपासना में लग गये। धर्मप्राणा पत्नी राजकुमारी और कई संतान को लेकर उनका परिवार था। सर्वानन्द के द्वितीय पुत्र ही हमारे वामक्षेपा थे।

१२४४ साल (फसली) का १२ फागुन। इस शुभ दिन को ही क्षेपा का जन्म हुआ। बचपन से ही वह भोले-भाले और सरल, पवित्र-प्रकृति थे। इतने सीधे थे कि पड़ोस के लोग उन्हें 'हाउड़े' कहकर पुकारा करते थे, जिसका अर्थ होता है निर्बुद्धि। अच्छे-बुरे का जिसे लेशमात्र भी ज्ञान न हो, संसारी लोगों की दृष्टि में वह मूढ़ पागल के सिवा और क्या हो सकता है? जन्मांतर की तपस्या के फलस्वरूप

उसका जन्म हुआ था, यह बात उस दिन कौन समझ सकता था। बचपन से ही वामा-चरण स्वभाव-भक्त थे। पड़ौसियों की ठाकुरबारी में जितने देवमूर्त्तियाँ थीं उन सबको चुपचाप उठाकर नदी तट पर ले आते और पूजा का नाटक रचते। खेल समाप्त होने पर कौन मूर्त्ति कहाँ खो जाती, कुछ ठिकाना नहीं। इसलिए किसी के घर से जब कोई देव-मूर्त्ति गायब हो जाती तो फौरन वामाचरण की खोज होने लगती। वही पकड़े जाते और उन्हें ही डांट फटकार सहन करनी पड़ती।

बचपन में वामा की अन्यमनस्कता की अनेक अद्भुत कहानियाँ सुनी जाती हैं। एक बार तो ऐसा हुआ कि वह आग में जलकर मर ही जाते। गाँव के एक छोर पर पुआल के ढेर के ऊपर भाव-तन्मय अवस्था में वह बैठे हुए थे। सहसा उस ढेर के नीचे से आग धधक उठी। पड़ोस के लोग आग के फैलने के भय से त्रस्त हो उठे। चारों ओर हो-हल्ला मचने लगा। नीचे से पुआल जलता जा रहा है, किंतु वामाचरण को जरा भी होश नहीं। आग बुझाने केलिए जब सब लोग वहाँ पहुँचे तो देखा कि वामा ढेर के ऊपर आनंद-मग्न से बैठे हुए हैं। सौभाग्यवश उस दिन इस अग्नि कांड से वह बाल-बाल बच गये।

पाठशाला में पाठ्य-क्रम समाप्त हो जाने पर उच्चतर विद्यालय में प्रवेश करने का सुयोग उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। कारण था अर्थाभाव। पिता सर्वानंद की गृहस्थी अब बढ चली थी अभाव भी बढ गये थे। अर्थोपार्जन के लिए उन्होंने एक नया उपाय ढूँढ निकाला। संगीत-विद्या पर उनका अच्छा अधिकार था। मधुरगान गाने के साथ-साथ बेहाला बजाने में भी निपुण थे। उनके दो पुत्र वामा और राम को संगीत का अच्छा अभ्यास था। इनको लेकर सर्वानंद ने कृष्ण यात्रा दल का गठन किया। वामाचरण कभी राम, कभी कृष्ण का अभिनय किया करते थे। देवता का वेश धारण कर वह रामायण, कृष्ण-कीर्त्तन और चंडी की कथा का गान करते थे। इस प्रकार अभि-नय करते हुए स्वभाव-भक्त वामा में आनंदावेश जाग्रत होता। भाव-तन्मय बालक किसी किसी दिन अपने वाह्य ज्ञान को खो बैठता।

विद्यालय में पढ़ने का सुयोग नहीं मिला, ग्रंथ-पाठ का अभ्यास भा कम ही था। किंतु अभिनय करके और अभिनय देखकर क्रमशः वामा व्यास, वाल्मीकि और पुराण की बहुत सी कथाएँ अच्छी तरह जान गये थे। काशीराम, कृत्तिवास का काव्य, पाँचाली आदि के पाठ से उनका दृष्टिकोण स्वच्छ बन गया था। कवि कंकण, रामप्रसाद और कमलाकांत के संगीत की झंकार से बालक का हृदय भर उठा था। बाद में चलकर इन सब संगीत और लीला-आख्यानों का क्षेपा अपने भक्तों के समीप सरस वर्णन किया करते थे।

वामा की बड़ी बहन जयकाली देवी बड़ी भक्तिमति थी। इसका प्रभाव भी बालक के ऊपर कुछ न कुछ अवश्य पड़ा था। बहन सच्चे अर्थ में साधिका थी। अल्प वयस में विधवा होकर वह सन्यासिनी बन गई थी।

युवावस्था में तारा-पीठ जाकर कुछ समय के लिए साधना भी की थी। इसके बाद अटला--ग्राम में माँ के साथ रहने लगी। सुना जाता है कि तारा-साधिका इस नारी ने एक निर्दिष्ट दिन को शरीर—त्याग की इच्छा प्रकट की। उसे ढोकर जब तारा-पीठ लाया गया तो उसने मर्त्य शरीर का त्याग किया। परवर्त्ती काल में जब इसका उल्लेख किया जाता, वामा के दोनों बड़े बड़े नेत्र उज्जवलतर हो उठते। वह कहने लगते, "मेरी दीदी एक आश्चर्यमयी स्त्री थी, उसकी मृत्यु भी आश्चर्य--रूप में हुई।" दीदी के धर्म-जीवन का स्पर्श बालक वामा-चरण के जीवन को प्रभावित किये बिना नहीं रहा।

पड़ोसी दुर्गादास सरकार नाटोर-राज्य के कर्मचारी थे। तारा-मंदिर की देख-रेख का भार उस समय उनके ऊपर था। तारा-पीठ के तंत्र साधक कैलासपति बाबा प्रायः अपनी चरण-रज से उनके घर को पवित्र किया करते थे। सिद्ध-महापुरुष के रूप में उस समय कैलासपति की बड़ी ख्याति थी। सरकार महाशय के घर में जभी वह पधारते, न मालूम किस अज्ञात आकर्षण से वामा भी वहाँ दौड़कर आ जाते। कैलासपति की छोटी-मोटी सेवा का भार जब उन्हें दिया जाता, वह आनंद से फूले नहीं समाते। बाबा भी बालक

को प्रायः अपने पास बुलाकर उसके साथ सस्नेह संभाषण करते। शक्ति-साधना का जो अंकुर बालक वामाचरण में निहित था वह कैलासपति बाबा की दृष्टि से उस समय छिपा नहीं रहा।

वामाचरण जिस समय १८ वर्ष के थे, उनके पिता का देहांत हो गया। कृष्ण--यात्रा--दल भंग होने के साथ-साथ माता राजकुमारी के सिर पर भी आसमान टूट कर गिर पड़ा। सर्वानंद के प्रयत्न से अब तक किसी प्रकार निर्वाह हो रहा था, अब उनके अभाव में इतने बाल-बच्चों का लेकर वह विषम विपद में पड़ गईं। जो कुछ थोड़ी-सी खेती लायक जमीन थी उससे गुजर चलना मुश्किल था। इसके सिवा वामा में व्यावहारिक बुद्धि का अभाव होने से उसको विपद और भी बढ़ चली थी।

मजदूर खेत में काम करने आते, माँ वामा को खेत पर भेज देतीं। वह मजदूरों के लिए खाना दे आयेगा, देख--रेख करेगा। वामा काम पर जाता अवश्य था, किंतु उसकी दृष्टि कहीं और ही निबद्ध रहती। बालक के दिन आकास-तारा की खोज में चक्कर लगाते हुए व्यतीत होते। खेत का काम खेत में ही पड़ा रह जाता, मजदूरों को ठीक समय पर खाना नहीं मिलता, रुष्ट होकर वे रोज माँ से शिकायत करने लगे। माँ को भी यह समझने में देर नहीं लगी कि इस निर्बुद्धि लड़के से उनका कोई काम नहीं चलेगा।

गृहस्थी चलाना अब सचमुच कठिन हो रहा था। राजकुमारी ने कोई उपाय न देखकर दोनों लड़कों को उनके मामा के घर भेज दिया। मामा पक्के व्यावहारिक मनुष्य थे। दोनों भागिनेयों को विद्यालय में भेज कर पढ़ाना उनके विचार से धन बर्बाद करना था। इसलिये उन्होंने दोनों लड़को को गाय चराने के काम में लगा दिया। मैदान में जाकर वामाचरण अपने आप में डूबकर बैठे रहते, उधर गायें पड़ोस के खेत में जाकर फसल चरतीं। मामा के पास रोज-रोज शिकायतें आने लगीं जिससे वह क्रुद्ध हो उठे। वामा के ऊपर शासन और निर्यातन चलाने लगे।

दु:खिनी माँ ने सब कुछ सुना। अपने दोनों अभागे पुत्रों को घर बुला लेने के सिवा और कोई उपाय नहीं रहा। वामाचरण अपने भाई को साथ लेकर अटला लौट आये। किंतु यहाँ आकर उनका भावांतर और भी व्यापक रूप में प्रकट होने लगा। सभी लौकिक कार्यों के प्रति उनमें विमुखता देखी जाती थी। गाय चराना, खेती करना, बाजार जाकर सौदा करना—यह सब अब उनके द्वारा नहीं हो सकता था। समस्त लौकिक जीवन के प्रति क्रमशः उनमें प्रबल निरासक्ति देखी जा ने लगी।

केवल इतना नहीं, मूर्त्ति पूजा में वामाचरण खूब उत्साह दिखाने लगे। और इसमें किसी विधि-विधान की, आचार अथवा मंत्रतंत्र की वह परवाह नहीं करते थे। राह चलते चंपा, कवरी, धतूरा आदि जो भी फूल मिल जाते उन्हें ही पत्ते में रख कर तारामाई के नाम से अर्घ्य-निवेदन कर देते। माँ तारा के जय-घोष से वातावरण गूँज उठता। स्वभाव-सरल वामा के जीवन के साथ, उनके अस्तित्व के साथ, तारामाई की दिव्य सत्ता ओत-प्रोत हो गई थी। सब लोगों की दृष्टि से परे और स्वयं भी अज्ञात रूप में तरुण वामा-चरण तारामय होते चले जा रहे थे।

वामा मनमौजी बन कर गाँव में घूमते रहते थे, कभी अचानक तारा-पीठ की ओर तारामाई के मंदिर में दौड़कर चले जाते। युग-युग से शिलासन पर माता के युगल पादपद्म अंकित थे। पागल वामा फूल और बेलपत्र की अंजलि उन पर अर्पित कर देते।

तारापीठ के श्मशान में उस समय बहुत से साधकों का आना-जाना लगा रहता था। इसके सिवा वहाँ प्रधान कौल के पद पर मोक्ष-दानन्दजी विराजमान थे। और सबसे बढ़कर सिद्ध-महापुरुष कैला-सपति बाबा का आविर्भाव भी उसी समय वहाँ हुआ था। तारा-पीठ में जाते ही वामाचरण इन दो आचार्यों का स्नेह एवं साहचर्य प्राप्त करके कृतार्थ हो जाते। कैलासपति बाबा की दृष्टि निरंतर सजग सतर्क प्रहरी की तरह मानों उन्हें घेरे रहती। स्निग्ध एवं मधुर ममता

और आदर-यत्न द्वारा कैलासपति बाबा ने वामाचरण के हृदय पर पूर्ण अधिकार कर लिया था। यही कारण था कि तारा-पीठ के श्मशान में आये बिना उन्हें चैन नहीं मिलता था। एक अज्ञात अमोघ आकर्षण से वह बार बार तारा-पीठ के श्मशान में दौड़ कर चले आते और कैलासपति के पास मंत्र-मुग्ध की तरह बैठ कर उनकी कथा सुनते। महापुरुष की सेवा-टहल और उनके लिए गांजा तैयार कर वह अपने को धन्य समझते।

धीरे धीरे वामाचरण अपनी तारामाई के लिए पागल हो उठे। लोग अब 'हाउड़े' वामा को 'क्षेपा' या पागल कहकर पुकारने लगे। जन्म जन्मांतर का सात्विक संस्कार धीरे धीरे साधक-चित्त में जग उठा। अंतर में तीव्र व्याकुलता, महामुक्ति की खोज में उन्मत्तप्राय। माता राजकुमारी अत्यंत सशंकित हो उठी और सावधानी के साथ वामा को घर के अंदर बंद करके रखने लगी। पागल वामा कब कहाँ भाग कर चला जायगा, यह कौन जाने? वामा कभी अपने घर के एकांत में बैठे हुए तारा देवी के ध्यान में निमग्न हो जाते कभी जब ध्यान टूट जाता, इष्ट देवता के वियोग की दुःसह व्यथा से 'तारा-तारा' की रट लगाते हुए चेतना शून्य बन जाते। यह एक अद्भुत दिव्योन्माद की अवस्था थी। कभी-कभी वामा की दोनों आँखों की पुतलियाँ ऊपर की ओर हो जातीं; शरीर निस्पंद हो जाता और मुँह से लगातार फेन निकलने लगता। पुत्र की यह दशा देख-कर संत्रस्त माँ अपनी पड़ोसिनों को बुला लातीं।

वामा जब होश में आते, माँ उन्हें अनुनय और विनय कर बहुत समझाती-बुझाती। इतनी बड़ी गृहस्थी का भार कौन उठायेगा? अन्नभाव में मरने के सिवा और क्या उपाय है? मातृ-भक्त वामा क्षणभर के लिए सजग हो कर माँ को आश्वासन देते हुए कहते—"ब्राह्मण का लड़का हूँ, कहीं क्या पुजारी का काम भी नहीं मिलेगा? घूमने से कहीं रोजगार मिल ही जाएगा-तुम विश्वास रखो।"

वामाचरण रोजगार की खोज में बाहर निकले। लौकिक जीवन

से वह जिस प्रकार अनभिक्ष थे, उसी प्रकार निरासक्त भी। अंतर में तैलधारा की तरह निरंतर माँ तारा का स्मरण, मनन एवं ध्यान चल रहा है। जो व्यक्ति अपने आप में खोया हुआ पागल बना रहता है, वह किस प्रकार पूजा-अर्चा सविधि संपन्न कर सकेगा? एक स्थान पर दो-चार दिनों तक पुजारी का काम करने के बाद नौकरी छोड़-कर घर चले आये।

इष्ट देवी का सतत् स्मरण-मनन करते हुए वामा एक उन्मत्त साधक बन गये। जगज्जननी की अमृत सत्ता उनके समस्त अस्तित्व में ओत-प्रोत हो गई। इष्टदेवी तारा माई ने भी अपने इस परम अधिकारी साधक के प्रति आह्वान सूचित किया। वामा के पूर्व जन्म का साधन-संस्कार जाग्रत हो चुका है, अन्तर के साधन का फल भी परिपक्व है। वैराग्य की प्रचंड वायु के झोंके में गृहस्थ-जीवन के योग-सूत्र का जो पतला धागा था वह भी इस बार टूट कर गिर पड़ा। निरासक्त वामा चिर काल के लिए गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर तारा पीठ के महाश्मशान की ओर दौड़ पड़े।

तारापीठ के श्मशान को घेर कर द्वारक नदी की तेज धारा बह रही है। बाढ़ आ जाने से उस दिन धारा में उत्ताल तरगें उठ रही थीं। वैराग्यचंचल वामा का हृदय भी आज उसी प्रकार तरंगायित हो रहा था। अधीर होकर वह धारा में कूद पड़े और तैर कर उस पार चले आये। बालुकाराशि पर एक टूटा-फूटा घाट था, जिसके-समीप कैलासपति बाबा की कुटिया थी। वामाचरण उनके चरणों पर गिर पड़े। तंत्र-सिद्ध महापुरुष मानो उस दिन उन्हीं के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। गृहत्यागी तरुण को आश्वासन देते हुए बोले, "वामाचरण घबराओ नहीं। जिस मुक्ति के लिए तुम इतने व्याकुल हो रहे हो, वह शीघ्र ही तुम्हें प्राप्त होगी। ब्रह्ममयी तारा के परमपद के तुम उत्तम अधिकारी हो।"

क्षेपा अब तारा-पीठ के श्मशान में ही रहने लगे। कैलास-पति के समीप रहकर उनके दिन बड़े आनंद से बीतने लगे। श्मशान और नदी-तट पर कुछ समय तक वह आनंद पूर्वक घूमते रहते,

इसके बाद कैलासपति बाबा का साधन-निर्देश ग्रहण कर माँ तारा के ध्यान में निमग्न हो जाते। उनके मातृनाम से दिग-दिगंत मुखरित हो उठा।

ऋद्धि-सिद्धि-युक्त साधक कैलासपति की समय-समय पर विभिन्न चमत्कारपूर्ण शक्तियों की लीला देखकर क्षेपा विस्मय-विमूढ़ हो जाते। एक बार बाढ़ से भरी हुई नदी के उस पार से खड़ाऊँ पहने हुए पैदल इस पार बालू पर चले आये। दूसरी बार की एक घटना है। महाश्मशान के समीप एक मृत तुलसी का झाड़ था। उसे दिखा कर कैलासपति ने क्षेपा से पूछा—'क्षेपा बोलो तो, यह मृत है या सजीव ?"

' बाबा, यह तो एक बारगी सूख गया है—मरा हुआ पौधा है।"

"जीवन और मृत्यु एक ही है बेटा—"तुलसी जीओ, तुलसी जीओ" यह कह कर महापुरुष ने कमण्डलु से उस पर जल ढाल दिया। कहते हैं, यह निर्जीव सूखी हुई तुलसी सिद्ध—तंत्र--साधक के मुख से वाणी निकलाते ही उस दिन हरी--भरी हो उठी थी। बाद में इस घटना का उल्लेख करते हुए क्षेपा अपने गुरुदेव की अलौकिक शक्ति की कहानी सब लोगों को सुनाया करते थे। उस समय उनके दोनों नेत्र आनंदाश्रु से भर उठते थे।

साधक के रूप में वामाचरण अत्यन्त साधारण थे—एक परम शुद्ध आधार। यही कारण है कि कैलासपति बाबा ने परम स्नेह से उन्हें अपने हृदय में स्थान दिया। कौल-मार्ग के नाना निगूढ़ मंत्र एव क्रियादि के द्वारा उन्होंने वामाचरण की तांत्रिक साधना का आरंभ किया।

इधर पुत्र के लिए माता राजकुमारी की दुश्चिंता का कोई अंत नहीं—आहार–निद्रा प्रायः छोड़ बैठी थी। क्षेपा ने तारा पीठ में जाकर संन्यास ग्रहण किया है, यह संवाद मिलते ही घबड़ा कर वहाँ दौड़ी हुई पहुँची और बार बार पुत्र को समझाने लगी—"अभी तुम्हारी उम्र बहुत कच्ची है। क्यों इस कठिन तपस्या के मार्ग में आये हो ? भूत–प्रेत, शव-सियार से भरे हुए इस श्मशान में कौन तुम्हारी देख-रेख करेगा, कौन भोजन का जोगाड़ करेगा, अस्वस्थ होने पर कौन

सेवा करेगा ? इधर अभावग्रस्त होने के कारण माँ और भाई-बहन अधपेट रहकर दिन बिता रहे हैं, उनका भार अब कौन अपने ऊपर लेगा ?'

श्मशान में आसन जमाये हुए क्षेपा उस समय तारा के ध्यान में सदा तन्मय; उनका शरीर, मन और प्राण साधना की गहराई में निमज्जित ! माता का उस दिन का क्रंदन कुछ उनके कानों तक पहुँचा, कुछ नहीं।

कैलासपति बाबा इस बार क्षेपा का पक्ष लेकर आगे आये। समग्र वीरभूम में उस समय इस महापुरुष की बड़ी प्रतिष्ठा और प्रभाव था। क्षेपा की माता राजकुमारी भी उनका कम सम्मान नहीं करती थी। कैलासपति बाबा दृढ़ स्वर में बोले—"माँ, तुम्हारा यह लड़का नित्यमुक्त परम वैराग्यवान पुरुष है। अब तक तुम्हारे गृहस्थ-जीवन में यह किसी काम के योग्य सिद्ध नहीं हुआ। अब घर लौट जाने पर भी यह तुम्हारे लिए किसी काम का नहीं होगा। अध्यात्म-साधना के मार्ग में जो विराट संभावनाएँ उनके लिए हैं, उन्हें उसे प्राप्त करना होगा। असंख्य मुमुक्षुजनों को तुम्हारा लड़का मुक्तिदान करेगा, मृत को प्राण देगा ! उसके परम कल्याण का पथ और बहु-जनों का मंगल उसके जीवन में ही निहित है। इस लड़के की साधना एवं सिद्धि से तुम्हारा कुल पवित्र होगा. धन्य होगा ! माँ, तुम भय मत करो, तुम्हारे लड़के का भार आज से मैंने अपने ऊपर लिया।"

जननी साश्रु नयन स्वगृह लौट गई।

क्षेपा ने तो गृह-संसार सब कुछ छोड़ दिया, किंतु उनकी माँ और भाई-बहन के लिए क्या उपाय होगा, उनका भरण-पोषण किस प्रकार चलेगा ? पड़ोस के दुर्गादास सरकार तारा-मन्दिर के कर्मचारी थे। निःसहाया राजकुमारी की घर-गृहस्थी चले इसके लिए वह उद्योगी हुए। निश्चय हुआ, वामाचरण तारा देवी की पूजा के लिए रोज फूल-संग्रह करेंगे। इसके लिए उन्हें प्रति मास कुछ रुपये दिये जायेंगे। इससे कम से कम उनकी माँ को कुछ तो सहायता मिल जायगी।

किंतु क्षेपा को लेकर बखेड़ा उठ खड़ा हुआ। वाह्य जीवन के समस्त काम-काज से वह परे थे। फूल की डाली लेकर वह रोज उद्यान में जाते। किसी-किसी दिन फूल तोड़ने का काम पूरा होता, किंतु प्रायः ऐसा देखा जाता कि रक्तजवा की डाली पकड़ कर वह घंटों बेहोश खड़े रह जाते। जवा फूल को देखकर तारा माई का रक्तचरण उन्हें स्मरण होता और वह विह्वल एवं वाह्यज्ञान-शून्य बन जाते। मंदिर का पुजारी क्रुद्ध होकर उन्हें गालियाँ बकता, और फिर स्वयं फूल तोड़कर अपना काम चलाता।

दुर्गादास ने सोचा, हो सकता है क्षेपा को यह काम अच्छा नहीं लग रहा है; तारा माई के मंदिर के काम में उसे अधिक आनंद मिलेगा, उसमें मन भी लगेगा। नया काम शुरू हुआ। अब उसे मंदिर के काम के लिए उपचार, चन्दन नैवेद्य आदि का प्रबंध करना होगा। किंतु आत्म-समाहित साधक के लिए यह भी कैसे संभव हो सकता था? सदा तन्मय वामा कोई भी काम नहीं कर सकते थे। पूजा की सारी सामग्री को किसी-किसी दिन नष्ट कर डालते थे, जिसके लिए मंदिर के पुजारी की कड़ी डाँट-फटकार उन्हें सुननी पड़ती थी।

दुर्गादास समझ गये, वाह्य बंधनों के मिट जाने के साथ-साथ क्षेपा के बाहरी काम-काज भी समाप्त हो चुके हैं—इसी कारण उनकी यह कर्म-विमुखता है। उन्होंने कह दिया, क्षेपा के लिए कोई निर्दिष्ट काम नहीं रहेगा। कोई किसी काम का भार उन्हें नहीं देगा, वह इच्छानुसार कार्य करेंगे और माँ के निकट पड़े रहेंगे।

तारा माँ का पुत्र तारा माँ के साथ ही महाश्मशान में सदा के लिए रह गया। आत्मभोला क्षेपा के साधन-जीवन में इस वैराग्य का चरम पर्व देखा गया। शरीर की ओर जरा भी ध्यान नहीं, आहार-विहार में भी यथेच्छाचार। सिर टेकने के लिए एक कुटिया भी उन्हें नहीं रह गई थी। नीचे तारा माई का सिद्ध पीठ और महाश्मशान, और ऊपर उदार आकाश का महा विस्तार। मुक्त पक्षी की तरह क्षेपा यहाँ स्वेच्छा-विहार करने लगे। सिर के ऊपर से होकर शीत,

और वर्षा का प्रचंड प्रकोप आता और चला जाता, उधर कुछ भी ध्यान नहीं। आनन्दमयी माँ के ध्यानानन्द में उनके दिन बीतते लगे।

इसी बीच एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना हो गई। कुछ दिनों तक रुग्न रहकर माता राजकुमारी स्वर्ग सिधार गई।

क्षेपा उस दिन श्मशान-घाट पर स्नान करने के लिए नीचे उतरे। देखा, नदी के उस पार आत्मीय-जनों की भीड़। छोटा भाई रामचरण माँ के मृत शरीर को लेकर उपस्थित हुआ है। वर्षा से भरी हुई नदी को पार करना संभव नहीं, इसलिए नदी के उस पार ही दाहकर्म का प्रबंध किया जा रहा था। क्षण भर के लिए क्षेपा के अंतर में एक विचार आ गया। यह कैसी बात ? जननी का दाह-संस्कार तारा माई के सिद्ध-पीठस्थ इस श्मशान में सम्पन्न नहीं होगा ? उनकी अस्थि इस पवित्र क्षेत्र में रक्षित नहीं होगी ? वामाचरण बहुत उत्तेजित हो उठे और उनके भीतर का क्षेपा जाग उठा। निश्चय करने में देर नहीं लगी। जोर से बोल उठे, "माँ तारा, मेरी जननी को तुम्हारे इस श्मशान में स्थान मिले।" इतना कहने के साथ-साथ वेगवती द्वारक नदी में कूद पड़े। जननी के शव को उन्हें इस पार सिद्ध-पीठ में ले आना होगा।

अर्थी के साथ जो लोग आये थे वे उस पार चिता में अग्नि-संयोग के लिए उद्यत हो रहे थे, किंतु इसी समय उन्होंने क्षेपा को तैर कर इस पार आते देखा। उनके मन में आशंका होने लगी कि न मालूम क्षेपा कौन-सा कांड कर बैठे ? तेजी से तैरते हुए क्षेपा इस पार आ पहुँचे। माँ के इस मृत शरीर का तुरत चिता पर से उतार लिया और अविलंब उसे एक कपड़े से पीठ पर बांध कर नदी की धारा में कूद पड़े। श्मशान में जो लोग आये हुए थे वे यह दृश्य देखकर भय एवं विस्मय से हक्का-बक्का हो गये। उस दिन नदी की उत्ताल तरंगों में तैर कर नहीं, बल्कि तारा माई के नाम की नौका पर ही मानो क्षेपा उस बाढ़ से भरी हुई विक्षुब्ध नदी को पार कर गये।

तारापीठ की पवित्र भूमि में माता के मृत शरीर को भस्मीभूत करने के बाद वह शांत हुए।

माँ का अंतिम संस्कार समाप्त हो गया। क्षेपा पहले की तरह श्मशान में स्वेच्छा-विचरण कर रहे हैं। आद्यश्राद्ध के केवल दो-तीन दिन बाँकी हैं। छोटे भाई रामचरण को उन्होंने आदेश देते हुए कहा, "देखो, माँ का श्राद्ध जैसे-तैसे नहीं कर लेना। कई गाँवों को निमंत्रण देकर खिलाना।" रामचरण चकित हो उठे। यह क्या कह रहे हैं? अर्थाभाव में बहुत कष्ट से उनके दिन बीत रहे हैं। ऐसी दुरवस्था में इतने लोगों को भोज खिलाने का तो प्रश्न नहीं उठता!

बड़े भाई की यह निरर्थक बकबास है। रामचरण मौन रहे। पड़ोस के लोगों में कुछ ने तो इसे निरा पागल पन समझा और कुछ ने हँसी में उड़ा दिया। किंतु क्षेपा तो एक बारगी धनुष-भंग की प्रतिज्ञा कर बैठे थे। माता के श्राद्ध में समारोह के साथ बहुत से लोगों को भोजन कराना ही होगा। अटला के घर से सटी हुई एक टुकड़ो परती जमीन थी। क्षेपा एक दिन अपने हाथ से उस जमीन को साफ सुथरा कर आये। अर्थात् दयाद तथा अन्य लोगों को खिलाने का संकल्प उन्होंने अपने मन में स्थिर कर लिया था।

क्षेपा का यह संकल्प अलौकिक रूप में पूरा हो गया। श्राद्ध-कार्य के दिन एक अद्भुत घटना हो गई। वह पहले की तरह श्मशान में बैठे हुए हैं, और इधर अटला में रामचरण के निकट खाद्य तथा अन्य बहुत सी सामग्री भारों में लद कर पहुँच रही है। क्षेपा के जो बहुत से अज्ञात सुहृदय और भक्त थे उन्होंने अपनी इच्छा से सहा-यता के रूप में नाना प्रकार की भोज्य-सामग्री भेज दी थी। इन सब भोज्य पदार्थों से रामचरण का घर भर गया। यह एक प्रकार का इन्द्रजाल था।

श्राद्ध के दिन रामचरण के घर सैकड़ों अतिथियों का समागम हुआ। उन्होंने श्राद्ध के समस्त कृत्य समाप्त किये, अब ब्राह्मण-भोजन

की बारी थी। ऐसे समय में ही वर्षा के बादल आकाश में भर आये और किसी भी क्षण मेघ के फूट पड़ने की आशंका होने लगी। झड़-वर्षा के कारण ब्राह्मण-भोजन पूरा नहीं हो सकेगा, माता की सद्गति में विघ्न होगा, इस अशंका से रामचरण व्याकुल हो उठे।

उधर तारापीठ के महाश्मशान में वामाक्षेपा ध्यानाविष्ट बैठे हुए हैं। आकाश में सहसा घन-घटा देखकर वह चकित हो गये। माता का पारलौकिक कार्य सुसंपन्न नहीं होगा, यह किस तरह हो सकता है? तेजी से चलकर वह माता के श्राद्ध-दिवस पर उपस्थित हुए। क्षेपा को देखते ही रामचरण रोने लगे, बोले- 'दादा, श्राद्ध का यह विपुल आयोजन तुम्हारे कारण ही संभव हुआ है। किंतु झड़-वृष्टि जो आ रही है। माँ का श्राद्ध-कार्य गुड़-गोबर हो जायगा!"

भाई को सांत्वना देते हुए क्षेपा ने कहा, "तुम घबराओ नहीं, मेरी तारामाई के प्रसाद से ब्राह्मण-भोजन में विघ्न नहीं होगा।" उच्च-स्वर में तारा-मंत्र का उच्चारण कर क्षेपा ध्यानस्थ हो गये। सब लोगों के सामने ही तरुण साधक की एक अलौकिक विभूति उस दिन प्रकट होती हुई देखी गई। पास में ही चारों ओर प्रचंड झड़-वर्षा, किंतु श्राद्ध-स्थल में एक बूँद भी जल नहीं। कई ग्रामाक अभ्यागतों को भरपूर भोजन कराकर क्षेपा की माता का श्राद्ध-कार्य सुसपन्न हुआ। उस दिन क्षेपा की अलौकिक सिद्धि का यह दृश्य देखकर लोग दंग रह गये!

संन्यास-ग्रहण के बाद से महाश्मशान में पंचमुंडी के आसन पर बैठकर वामा तंत्र के विविध अभिचार एवं क्रिया-प्रणाली का अभ्यास करने लगे। तंत्रसिद्ध शक्तिमान महापुरुष कैलासपति बाबा और मंदिर के प्रधान कौलाचार्य मोक्षदानन्द के आश्रय में रहकर साधना के मार्ग में अग्रसर होने लगे। क्रम-क्रम से तंत्रोक्त समस्त क्रिया और अभिचारादि उन्होंने समाप्त कर डाले। शक्ति के एक-एक स्तर को वह सहज ही पार करते गये। उनकी साधना की इस प्रगति को देखकर कैलासपति बाबा और मोक्षदानन्द के विस्मय की सीमा नहीं थी।

क्षेपा शुद्ध सत्व एवं जीवन्मुक्त महापुरुष थे। शक्ति साधना के मार्ग में वह अग्रसर होते गये, किंतु वाह्यमैथुनादि का प्रयोजन इन दिव्याचरी साधक को कभी नहीं पड़ा। सिद्ध शरीर के अभ्यंतर में जो अमृतमय रस-धारा संचारित हो रही थी, उससे ही उनको क्रिया अनुष्ठान में सहायता प्राप्त होती थी। क्षेपा को कहते हुए सुना जाता था, तारा-माई आश्चर्य भैरवी हैं। लोगों की भीड़ से बचने के लिए क्षेपा ने एक अदभुत परिवेश की सृष्टि कर रखी थी। उनके आचार विचारहीन भीमभैरव आचरण के अंतराल में सदा छिपा रहता था एक परम दिव्य भाव एवं दिव्याचार। तारा ब्रह्ममयी का आसन उनके हृदय में चिरस्थायी था। जन्म-जन्मांतर के सात्विक संस्कार के कारण महासाधक का जीवन एक अपूर्व महिमा से मंडित हो रहा था।

वामा का कारण पान था, मानो कुल-कुण्डलिनी में कारण हो। किंतु कारण के दास वह कभी नहीं हुए। भक्तों के सामने उपस्थित होने पर उसे ला देने के लिए वह कहते, इसके लिए-कभी कभी व्यग्रता भी दिखलाते, किंतु प्रचुर मात्रा में पानकरने पर भी कभी उनमें अणुमात्र भी भाव विकार नहीं देखा गया।

वामाक्षेपा चिरकुमार ब्रह्मचारी थे। कभी वाह्य भैरवी ग्रहण करने की उन्हें आवश्यकता नहीं पड़ी। एक बार तारा-पीठ में एक भैरवी आ पहुँची। भैरवी तरुणी एवं रूपसी थी। क्षेपा के प्रति वह विशेष रूप से आकृष्ट हो गई और उन्हें वश में लाने के लिए नाना छल-पूर्ण उपायों का अवलंबन करने लगी! एक दिन आधी रात में रमणी उनके कुटीर में एकांत में उपस्थित हुई और उनकी चरण सेवा करने लगी। क्षेपा चौंक उठे। इसके बाद दृढ़ स्वर में बोले, माँ, मुझे भैरवी की आवश्यकता नहीं है। मेरे पास तुम्हारी वासना पूर्ण नहीं होगी। तुम यहाँ से चली जाओ।"

साधिका रमणी पूर्ववत् वहाँ मौन बैठी रही। वहाँ से वह हटना नहीं चाहती थी। अब क्षेपा ने उग्र-मूर्त्ति धारण की। रोष भरे हुए

स्वर में चिल्ला कर बोले, "ठहरो बेटी, मैं चिमटा लेकर आताहूँ।" रमणी उनकी इस रुद्र-मूर्त्ति को देखकर भयभीत हो गई और उनके चरणों पर गिर पड़ी। कृपालु वामा के आशीर्वाद से इसके बाद उसके जीवन में रूपांतर हो गया।

वामाक्षेपा सचमुच कामजयी पुरुष हैं या नहीं, इसकी परीक्षा लेने के लिए तारा पीठ के तहसीलदार ने एक सुन्दरी वेश्या को नियोजित किया। किंतु साधक को प्रलोभित करने की जितनी चेष्टाएँ की गईं, सब व्यर्थ सिद्ध हुईं। एक दिन अधिक रात बीते जब अपने आसन पर वह सोये हुए थे हठात् उस रमणी ने उन्हें अपने आलिंगन-पाश में आबद्ध कर लिया। निर्लज्जा नारी इस समय सोये हुए क्षेपा की पुरुषेन्द्रिय को ढूंढ़ने लगी जबकि उसने साश्चर्य देखा कि क्षेपा के शरीर से उसका समस्त चिह्न मानों किसो जादू से गायब हो गया है।

क्षेपा अबतक नोंद का बहाना करके सोये हुए थे। अब उन्होंने आँखें खोलीं। 'मेरी माँ आई है, मेरी माँ आई है—यह कह कर वामा बच्चे को तरह बड़ो ललक से उस नारी का स्तन्यपान करने लगे। तीव्र आकर्षण के फल-स्वरूप उसके स्तनों से केवल रक्त ही स्रवित होने लगा। 'मरी, मरी' कहकर वह रमणी मूर्च्छित हो गई। कुछ क्षणों के बाद जब होश हुआ तब क्षेपा ने कहा, 'नहीं माँ, इस समय जाओ, बच्चे के साथ फिर कभो ऐसा नहीं करना। क्षेपा के चरणों में गिरकर भयार्त्ता रमणी कहने लगी- "बाबा मेरे पाप अनंत हैं। मेरी क्या गति होगी? आप कृपा कर मेरा उद्धार करें।"

करुणामय क्षेपा ने कहा, "अच्छा, अभी जाओ माँ, तारा माई तुम पर कृपा करेंगी।" महापुरुष के अंग-स्पर्श के बाद यह नारी पवित्र जीवन व्यतीत करने लगी।

सेमल वृक्ष के नीचे पचमुंडी-आसन पर क्षेपा प्रायः ध्यान-मग्न रहा करते थे। दो शक्तिमान तत्त्व-साधकों के निर्देश से अब उन्हें तारा-मंत्र सिद्ध हो चुका था। इष्ट देवी के साथ अब क्षेपा का अंतरंग सम्बन्ध हो गया था।

इसी बीच एक दिन वहाँ एक तात्पर्यपूर्ण घटना घटित हो गयी। गुरु कैलासपति को क्षेपा प्रायः चिलम पर गांजा चढ़ा देते थे। प्रति दिन के अभ्यासानुसार कैलासपति बाबा पहले अपनी इष्टदेवी को गाँजा निवेदित करते थे इसके बाद स्वयं उसे ग्रहण करते थे। फिर उनका प्रसाद पीते थे। उस दिन आदेशानुसार क्षेपा चिलम में गांजा भर ले आये। कैलासपति आँखें मूँद कर इष्टदेवी का ध्यान करते हुए उसे निवेदित कर रहे हैं। इसी समय क्षेपा निश्चित भाव से चिलम लेकर स्वयं पीने लगे।

यह कैसी बात ! कैलासपति चकित हो उठे। एकनिष्ठ शिष्य क्षेपा इस प्रकार मर्यादा का उल्लघन करेगा, यह सर्वथा असंभव है। उसके इस विपरीत आचरण का कारण क्या है, यह जानने के लिए वह उसी समय ध्यानस्थ हो गये। ध्यान-दृष्टि के सामने दैवे संकेत प्रतिभासित हो उठे। गुरु को यह समझने में देर नहीं लगी कि जो बीजारोपण उन्होंने किया था आज उसने वनस्पति के रूप में पूर्ण परिणति प्राप्त की है। इसके बाद मन ही मन क्षण भर विचार किया· यह बात सोचने की है। सिद्ध, कौल-साधक दो महापुरुषों के एक शक्तिपीठ में रहने का प्रयोजन क्या है ? इसके सिवा शक्तिधर क्षेपा की साधना अब उसके अपने मार्ग से ही चले, गुरु-शिष्य अब एक स्थान पर क्यों रहेंगे ? अपने चेहरे **पर** आत्म-संतोष का हास्यभाव प्रकट करते हुए कैलासपति ने केवल इतना ही कहा, "भाई, अब तुम्हें ही यहाँ का भार अपने ऊपर लेकर रहना होगा। मैं अब यहाँ से चला।"

बाद में क्षेपा कहा कहते थे—"मेरे गुरु मानों पक्षी की तरह आकाश में उड़कर चले गये।" उस समय महाकाश में संध्या की लाली चारों ओर फैल रही थी। महासाधक कैलाशपति बाबा तारा पीठ से अन्तर्हित हो गये। कई लोगों का कहना था कि वह कैलास के मार्ग से चले गये; किंतु इसके बाद उनका कोई पता नहीं चला।

इसके बाद मोक्षादानंदजी भी वहाँ से चले गये। अब क्षेपा ही तारा-पीठ के प्रधान कौल-पद पर प्रतिष्ठित हुए। पीठ-स्थल का

अविनायकत्व वह अवश्य कर रहे थे, किंतु इस ब्रह्मज्ञ महापुरुष को
शुद्धा-शुद्ध खाद्याखाद्य, जात-पांत आदि का कोई विचार नहीं था।
देवता और मनुष्य में, मनुष्य और कुत्ता में जिस प्रकार उन्हें भेद-ज्ञान
नहीं था, उसी प्रकार देवता के भोग प्रसाद और पशु के खाद्य उनके
लिए एक समान थे। उस समय तक उनकी समस्त सत्ता एक परम
अखंड चेतना में एकाकार हो गई थी।

भावाविष्ट क्षेपा को कभी कुत्ते के साथ उसके खाद्य को छीनकर
खाते देखा जाता था और कभी उनके लिए जो रक्षित प्रसादान्न रहता
था उसे अपने परम मित्र और सहचर कुत्तों के साथ मिलकर खाने
में भी उन्हें किसी प्रकार की द्विधा नहीं थी। भोजन के बाद आचमन
करने की आवश्यकता नहीं, स्नान-शुद्धि भी उनके लिए निरर्थक थी।

तारा-मंदिर के भीतर बैठकर क्षेपा सारी रात 'तारा-तारा' की
रट जोर-जोर से लगाया करते थे। और बीच-बीच में देवी की मूर्त्ति
के सामने समाधि-लीन हो जाया करते थे। समाधि-मग्न हो जाने
पर बहुत देर तक अवसन्न-शरीर जड़वत बैठे रहते। उस अवस्था
में उन्हें शुचि-अशुचि का कुछ भी भेद-ज्ञान नहीं रहता। किसी किसी
दिन क्षेपा की इस अवस्था के बाद मंदिर का प्रकोष्ठ उनके मल-मूत्र
और थूक से अपवित्र और गंदा हो जाता, दुर्गन्ध के कारण कोई
वहाँ नहीं जा सकता था। खंड-अखंड को सीमा-रेखा उनकी दृष्टि में
लुप्त हो चुकी थी। भेद-बुद्धि से परे उनका निरंतर वास रहता था।
तारामाई की वह लाड़ली संतान थे—तभी तो वाह्य आचार, आचरण
के प्रति उनका कुछ भी ध्यान नहीं था।

किंतु महापुरुष का यह बालक पिशाचवत् भाव संसार के साधा-
रण मनुष्यों के लिए किस प्रकार बुद्धि-ग्राह्य हो सकता था! मंदिर
के दो एक कर्मचारियों ने उस दिन क्षेपा को भद्दी गालियाँ दीं।
तारा-पीठ के कुछ लोगों ने घोर आंदोलन शुरू कर दिया, क्षेपा ने
तारामाई के मंदिर को जघन्य रूप में अपवित्र कर दिया है। नाटोर

राज के कर्मचारियों के मन में इसी प्रकार की घटना की स्मृति आज भी बनी हुई है। इसलिए आंदोलनकारियों के उत्साह को उन्होंने बढ़ावा नहीं दिया। किंतु आत्मभोला क्षेपा को भय कहाँ! परम आनन्द के साथ स्वेच्छानुसार वह श्मशान में विहार कर रहे हैं।

तारामाई के सिद्ध साधक वामा की शक्ति-विभूतियों की चर्चा क्रमशः जनसाधारण में फैलने लगी। इसके फलस्वरूप तारा-पीठ के श्मशान में रोग-पीड़तों और मुमुक्षु जनों की संख्या दिनानुदिन बढ़ने लगी। शक्तिधर साधक मन की मौज में आकर स्वाभाविक आनन्दोच्छ्वास में मुक्तहस्त कल्याण दान करते थे। जो हतभाग्य स्त्री-पुरुष उनके आश्रय-पार्थी होते, उनपर कृपा कर उनके दुःख का वह निवारण करते थे। वचन सिद्ध महापुरुष के चरणों में बैठकर न मालूम कितनी माताओं ने अपने मृतवत् पुत्रों को पुनः प्राप्त किया और कितनी नारियाँ वैधव्य के दुःख-कष्ट से अपने को बचा सकीं।

ब्रह्मज्ञानी महापुरुष क्षेपा के बालकवत् आचरण की कितनी ही चमत्कार पूर्ण कहानियाँ सुनी जाती हैं, क्षेपा बाबा के निकट दूर-दूर से बहुत से भक्त और दर्शनार्थी आया करते थे। श्रद्धा-भाव से कुछ लोग नकद रुपया भी चढ़ाते थे। भक्तों द्वारा भेंट में प्राप्त इस धन को संचित कर रखने के लिए उन्होंने अपने एक नित्यसंगी भक्त को आदेश दिया था। उनकी इच्छा थी, इस संचित धन से तारामाई के पीठ-स्थान की कुछ उन्नति की जायगी। किंतु भक्त ने लोभ के वशीभूत होकर अमानत की रकम को हड़प लिया। क्षेपा बाबा के भक्तों में एक स्थानीय वकील थे। उनके प्रयत्न से दोषी व्यक्ति न्यायालय में अभियुक्त हुआ।

न्यायालय पदाधिकारी क्षेपा बाबा के प्रति श्रद्धालु थे। वह कड़ाई के साथ मामले की जांच करने लगे। एक दिन हठात् क्षेपा स्वयं हाकिम के सामने आ उपस्थित हुए। करुण-स्वर में कहने लगे, "भाई, तुम इसे इस बार छोड़ दो।" हाकिम तथा अदालत में और

जो लोग उपस्थित थे उन्हें क्षेपा बाबा के इस अनुरोध को सुनकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ। बाबा की ओर से जो भक्त वकील पैरवी कर रहे थे, उनकी समझ में भी यह बात नहीं आई। अदालत की ओर से क्षेपा से प्रश्न किया गया कि वह अभियुक्त की रिहाई क्यों चाहते हैं। क्षेपा ने उत्तर दिया, "यदि कैद को सजा मिलेगी तो मेरे लिए सिद्धि और कारण कौन तैयार करके देगा?" यह कहने की आवश्यकता नहीं कि क्षेपा के अति आग्रह और भक्त वकील-मोख-तारों के प्रयत्न से अभियुक्त रिहा हो गया। क्षेपा के कोलो भूलो कुत्तों के साथ उनका चोर सहचर भी पहले की तरह रहने लगा।

रामपुर-हाट के डा० हरिचरण बनर्जी क्षेपा के भक्त थे। एक दिन वह व्यग्र होकर घर लौट रहे थे। उनकी पालकी जब तारा पीठ के निकट पहुँची, उससे उतर कर वह बाबा को प्रणाम करने गये। क्षेपा उनसे बार-बार कहने लगे, "तारा-पीठ में विश्राम करके घर जाना, रास्ते में बहुत कड़ी धूप है, अन्यथा बहुत कष्ट होगा! आगंतुक के प्रति उस दिन बाबा का स्नेह मानों उमड़ पड़ा था। डाक्टर बाबू की आव-भगत में उस दिन बाबा ने कोई कोर-कसर नहीं होने दी।

क्षेपा के जो संगी भक्त वहाँ थे उन्हें उनके इस आचरण पर बड़ा आश्चर्य हुआ। जो सब प्रकार के सांसारिक विषयों के प्रति अना-सक्त हैं उनके द्वारा इस प्रकार का लौकिक अनुरोध सचमुच आश्चर्यजनक प्रतीत होता था। डाक्टर बाबू भी कुछ चौंक उठे थे। घर पर उनकी कन्या डिपथेरिया रोग से बीमार थी। देरी नहीं कर सकते थे, शीघ्र घर लौट चलना आवश्यक था। क्षेपा उनकी पालकी के पीछे-पीछे चल रहे हैं और उनसे बार-बार भोजन करके जाने का आग्रह कर रहे हैं। अपने भक्त को उस दिन वह भोजन के लिए रोक कर नहीं रख सके, इसका क्षेपा को बड़ा दुःख था।

घर लौट कर डाक्टर ने सुना कि उनकी कन्या की मृत्यु हो गयी है। अब उन्हें यह बात समझ में आई कि उनके पारिवारिक दुर्दैव

की बात अंतर्यामी क्षेपा को मालूम हो गई थी। इसीलिए उनको इस प्रकार व्याकुल देखा गया था।

स्वेच्छामय क्षेपा बाबा के दुर्वचन या उनके द्वारा प्रदत्त तारामाई के चरणामृत और श्मशान की रज से कितने दुस्साध्य रोगों से पीड़ित रोगी भले-चंगे हो गये, यह कौन बता सकता है। मंदिर की सीढ़ियों पर बैठा हुआ एक मरणासन्न व्यक्ति जोर-जोर से हाँफ रहा है और रो रहा है। क्षेपा उसके पास से गुजर रहे हैं। पूछा, "क्यों जी, आनंदमयी के द्वार पर आकर इस प्रकार निरानन्द क्यों ?" रोगी देवी का प्रसाद ग्रहण करने के लिए व्याकुल हो रहा था, किंतु पीड़ा स वह कातर था। प्रसाद ग्रहण करने में वह असमर्थ था। क्षेपा का हृदय द्रवित हो उठा। उस दिन उनके कर-स्पर्श से मृत्यु-पथ-यात्री वह रोगी बिल्कुल चंगा हो गया और तारामाई का प्रसाद उसने भरपेट ग्रहण किया।

स्वस्थ होने पर उसने बाबा से कहा, "बाबा, तुम क्यों साक्षात् भगवान हो ? तुम्हारी छाया पड़ते ही मेरी मृत्यु यन्त्रणा न मालूम कहाँ गायब हो गई !"

भगवान के छूने पर तुम साला खाने के लिए क्या इतना छटपट करता रे ? तुम्हारा सब कुछ समाप्त हो गया होता ! मैं तो तारामाई के चरणों की धूल हूँ।"

नन्द डोम क्षेपा का एक अनुगत भक्त था। उसके हाथ में घिनौना कुष्ट-रोग था, किन्तु फिर भी वह बाबा की सेवा में लगा रहता था। बाबा के लिए पोने का जल लाने से लेकर उनके कुत्तों तक की देख-भाल करना उसका काम था।

एक बार एक भक्त ने प्रश्न किया, "यह नन्द जाति का डोम है और इसके सिवा कोढ़ी भी है। आप उसके हाथ का जल क्यों ग्रहण करते हैं ?"

क्षेपा ने कहा, "मैं उसके हाथ का जल ग्रहण करता हूँ, यह मेरी इच्छा। इससे तुम सालों का क्या बिगड़ता है ?"

आश्चर्य की बात तो यह कि नंद के ऊपर यद्यपि बाबा का इतना स्नेह था फिर भी वह उसे रोग-मुक्त नहीं कर रहे थे। नंद ने भी इस सम्बन्ध में उन्हें कभी कुछ नहीं कहा।

एक बार नंद डोम का कुष्ट-रोग बहुत बढ़ गया। लगभग एक सप्ताह से वह तारा-पीठ के श्मशान में नहीं आ रहा है। क्षेपा बाबा उसके लिए बहुत उद्विग्न हो उठे। कतिपय भक्तों ने बाबा से आग्रह किया, "बाबा नंद आपका इतना बड़ा अनुगत भक्त है। इस समय वह बड़ा कष्ट भोग रहा है। आपको उसे रोग-मुक्त करना होगा।" बाबा की अनुमति मिलने पर सब लोग नंद को ले आये।

उसके सामने आते ही क्षेपा बाबा तीव्र स्वर में उसे फटकारने लगे "साला, पाप करते समय तो सब कुछ भूल जाता है। जैसा कर्म वैसा फल तुम्हारा यह हाथ गलकर धीरे-धीरे गिर जायगा।"

करुणामय क्षेपा बाबा का यह कैसा कठोर व्यवहार! नंद डोम फफक-फफक कर रोने लगा। कुछ क्षणों के बाद ही महापुरुष का एक दूसरा ही रूप देखा गया। नंद को पास बुलाकर उसे अपनी छाती से लगा लिया। उसे सांत्वना देते हुए सस्नेह कहने लगे, "अब से पाप-पथ पर पाँव नहीं रखना, केवल तारा माई का नाम लेते रहना जाओ, तुम्हारा रोग दूर हो जायगा। इस श्मशान की धूल को रोज अपने दोनों हाथों में लगाना।" नंद का कुष्ठ-रोग एक महीने के अंदर ही अच्छा हो गया।

वेल-ग्राम का निमाई बहुत दिनों से हर्निया-रोग से पीड़ित था। एक ओर रोग की पीड़ा, दूसरी ओर भीषण दरिद्रता। जो किसी प्रकार का रोजगार नहीं कर सकता था, वह अपने परिवार का भरण-पोषण कैसे करता? अंत में जब जीने की कोई आशा नहीं रह गई, उसने गले में फाँसी लगाकर आत्म-हत्या करने का निश्चय किया।

घोर अँधियारी रात! निमाई उस रात को तारा-पीठ श्मशान के पास एक जंगल में आ पहुँचा। उसके हाथ में एक रस्सी थी। वहाँ

बिलकुल सुनसान था। एक पेड़ की डाल में रस्सी की फाँसी लगा-कर वह उससे झूल पड़ेगा, बिना ऐसा किये इस रोग की दुःख-पीड़ा से छुटकारा पाने का और कोई उपाय नहीं।

गले में फाँसी लगाने ही जा रहा था कि उसी समय एक हृदय को कँपा देने वाली आवाज सुनाई पड़ी "तारा-तारा!" निमाई के हाथ से उसी क्षण फाँसी की रस्सी गिर पड़ी। उसने देखा सामने में क्षेपा बाबा खड़े हैं। गम्भीर कंठ से महापुरुष बोल उठे 'अरे साला, आत्मघाती होना महापाप है! तुरत यहाँ से भाग जाओ।"

निमाई मर नहीं सका। किंतु उसी दिन उसने निश्चय कर लिया कि वह अब घर लौट कर नहीं जायगा। तारामाई के मंदिर के आँगन में रह कर दर्शनार्थियों से भिक्षा माँगेगा और इस प्रकार गुजर करते हुए उसके दिन बीत जायँगे।

एक दिन क्षेपा बाबा पास के किसी स्थान में गये हुए थे। उनके आसन के सामने की धुनी जल ही रही थी। निमाई ने सोचा—इस बीच में धुनी से गाँजा की चिलम के लिए आग ले ली जाय। एक टुकड़ा जलता अंगार वह ले ही रहा था जबकि भीम-भैरव मूर्त्ति क्षेपा वहाँ आ पहुँचे और जोर से एक लात उसके पेट पर जमा दी। तत्क्षण वह मूर्च्छित हो गया।

होश होने पर निमाई ने आश्चर्य के साथ देखा कि उसका घातक रोग हर्निया अब नहीं रह गया है। इसके बाद बहुत दिनों तक रहकर वह लौकिक काम-काज करता रहा।

सेमल के पेड़ के नीचे क्षेपा सोये हुए हैं। एक खाट को कंधों पर रखे हुए कई आदमी वहाँ आ पहुँचे। खाट को नीचे करने पर देखा गया कि एक यक्ष्मा--रोगी मृतवत् अवस्था में हांफ रहा है।

क्षेपा बाबा कहने लगे, "क्योंजी, इसे इस अवस्था में श्मशान में क्यों ले आये? जीते ही जला दोगे क्या? साले ने पाप बहुत किया है, जीते ही घुल--घुलकर मरेगा।"

रोगी का एक आत्मीय जन सामने आकर कहने लगा, "ऐसा क्यों बाबा! इसे तो आपके चरणों में रखने के लिए ही यहाँ ले आया हूँ। बहुत दवा कराई, कोई फल नहीं निकला। अपनी माँ की एक मात्र सन्तान है। दया करके इसे बचा लें, बाबा!"

"दूर हो साले! मैं क्या डाक्टर या वैद्य हूँ! मेरे पास क्यों लाया?"

किंतु भक्तगण भला छोड़ने वाले कब थे? खीझकर क्षेपा बाबा आसन छोड़कर वहाँ आ गये! सहसा रोगी के शरीर के ऊपर झुककर दोनों हाथों से उसका गला दबा रखा। क्रुद्ध स्वर में कहने लगे, "बोल साला फिर कभी पाप करेगा?"

इधर रोगी का दम घुटने के कारण उसके प्राण निकलने-निकलने पर हो रहे थे। सब लोग आतंकित होकर खाट के समीप दौड़ आये। अंत काल में क्या क्षेपा बाबा पर खून करने का अभियोग लगेगा? इस बीच रोगी बेहोश होकर पड़ा हुआ है। उसे मिट्टी पर रखकर महापुरुष बोल उठे—"जा, साला बच गया।"

कुछ क्षणों के बाद ही उसकी बेहोशी दूर हो गई। वह उठ बैठा और सब लोगों से कहने लगा, "मुझे बड़े जोर की भूख लगी है, इसी समय यदि कुछ खाने को नहीं मिलेगा तो मैं नहीं बचूँगा।" बहुत दिनों से जो रोगी बिछावन पर करवटें भी नहीं बदल सकता था, आज उसे इस तरह उठकर बैठते देख सब लोग आश्चर्य से अवाक् हो गये। क्षेपा बाबा ने कहा, "साले को पेट भरकर माँ का प्रसाद खाने के लिए दो। तारामाई की दया से अच्छा हो जायेगा।"

इसके बाद वह आदमी पूर्णतः नीरोग हो गया। एक दिन क्षेपा अपनी भक्त-दल से घिरे हुए सेमल वृक्ष के नीचे बैठे हुए थे। सहसा बोल उठे, "जितने दुर्वृत्त हैं सब साले बुरी बातों को लेकर आते हैं।" कुछ क्षणों के बाद ही देखा गया, दो युवक विलायती शराब की बोतलें, एक हँड़िया संदेश और वाद्ययंत्र लेकर वहाँ पहुँच

गये। क्षेपा बाबा को खिला-पिलाकर और संगीत सुनाकर प्रसन्न करना चाहते थे।

क्षेपा एक बारगी क्रोध से जल उठे। श्मशान से एक जलती लकड़ी ले आये और उससे तुरंत शराब की बोतलों और हाँड़ी को फोड़ डाला। दोनों युवक भयभीत होकर वहाँ से भाग निकले। बाद में मालूम हुआ, डर्बी की घुड़दौड़ का प्रथम पुरस्कार प्राप्त करने की आशा में वे क्षेपा को प्रसन्न करने लिए आए हुए थे।

अपने अलौकिक योग-बल से क्षेपा बाबा प्रायः दूसरों को सचेतन कर देने में सहायता करते थे। एक बार एक जमींदार तारा-पीठ में पूजा करने आये। पूजा खूब-धूम धाम से हो रही थी! द्वारक नदी में स्नान करके तट पर खड़े रहकर जप कर रहे थे! क्षेपा उस समय जल में प्रवेश कर रहे थे। जप में निरत उक्त सज्जन पर जब उनकी दृष्टि गई वह अपनी हँसी रोक नहीं सके। तंग करने के लिए बार-बार नदी का जल उनके ऊपर छिड़कने लगे।

जमींदार सज्जन क्रोधित होकर चिल्ला उठे, "कौन यह असभ्य पागल है! जप कर रहा हूँ, मुझे अपवित्र कर दिया।"

क्षेपा ने उत्तर दिया, 'तारामाई के यहाँ आये हो। उनका नाम जप कर रहे हो और मन ही मन म्यूर कंपनी के जूते की बात सोच रहे हो।"

जमींदार सज्जन चौंक उठे। सचमुच बात ऐसी ही थी। कलकत्ता जाकर उक्त कंपनी का एक जोड़ा जूता खरीदने की बात उनके मन में उठी थी। कौन यह अंतर्यामी पुरुष है जिसकी दिव्य दृष्टि से वह अपने मन की एक अत्यंत साधारण बात को भी नहीं छिपा सके! मंदिर लौट कर जब उन्होंने पंडों से यह बात कही तब उन्होंने कहा, "यह साधारण पागल नहीं है। तारा-पीठ के शिवकल्प महापुरुष वामाक्षेपा, हैं।" जमींदार सज्जन व्याकुल भाव से पुन: क्षेपा

के दर्शन के लिए दौड़-धूप करने लगे, किंतु उस दिन क्षेपा का कहीं पता नहीं चला। खिन्न मन से वह कलकत्ता लौट आये।

एक दिन क्षेपा तारा मंदिर के आँगन में बैठे हुए थे। सामने कतिपय दर्शनार्थी शिक्षित सज्जन थे। उनके साथ क्षेपा कुछ-कुछ बातें कर रहे थे। पास में ही एक पत्तल पर तारामाई का प्रसाद रखा हुआ था। क्षेपा बीच-बीच में उस प्रसाद से थोड़ा-थोड़ा लेकर खा रहे थे। उनके प्रिय संगी दो-तीन कुत्ते भी उस पत्तल पर खाद्य लेकर खा रहे थे। उपस्थित व्यक्तियों में सांइथिया के कतिपय युवक थे जिन्हें कुत्तों के साथ क्षेपा बाबा को भोजन करते देख कर बड़ी घृणा हो रही थी। अंतर्यामी क्षेपा बाबा की दृष्टि से यह बात छिपी नहीं रही। उन युवकों को उन्होंने अपने पास बुलाकर बैठाया। अपने हाथ से उनकी पीठों का स्पर्श कर कहने लगे, "बाबू लोग, अब क्या देख रहे हो ?"

युवक दल विस्मय से अवाक् हो गया। क्षेपा बाबा ने मानों सहसा एक जादू कर डाला। उन युवकों ने देखा, तारामाई का प्रसाद भोजी क्षेपा और उनके सहचर कुत्तों का ही केवल मानव रूप रह गया था, और सब जितने दर्शनार्थी सज्जन थे वे सब भिन्न भिन्न आकार में दीख पड़ने लगे—साँप, कुत्ता, बिल्ली इत्यादि नाना विचित्र जीवों के रूप में मानों वे क्षण भर में परिवर्तित हो गये थे। प्रत्येक की जो अपनी स्वाभाविक वृत्ति थी उसे शक्तिधर महापुरुष ने जंतु और सरीसृप (रेंगकर चलते वाले जंतु) के रूप में परिणत कर दिया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि युवकों की स्वाभाविक दृष्टि क्षण भर में ही फिर लौट आई। किंतु क्षेपा ने उस दिन उन्हें जो अलौकिक शिक्षा दी उससे उन्हें चैतन्योदय हुए बिना नहीं रहा।

क्षेपा बाबा वाक्‌सिद्ध पुरुष थे। एक बार भी यदि उनके मुँह किसी रोगी के सम्बन्ध में कोई बात निकल जाती तो वह रोगी चाहे

कैसा भी मरणासन्न क्यों न हो उसके सम्बन्ध में चिंता करने की कोई बात नहीं रह जाती। और फिर इस रोगी के आरोग्य को लेकर क्षेपा बाबा को कम परेशानी नहीं उठानी पड़ती।

एक बार तारा पीठ का नगेंद्र पंडा क्षेपा से हठ कर बैठा कि उन्हें एक रोगी को नीरोग करना ही होगा। रोगी थे एक स्थानीय जमीं-दार-पूर्णचद्र सरकार। क्षेपा को पालकी पर चढ़ाकर वहाँ ले जाया गया।

मार्ग में पंडा उन्हें समझा कर कहने लगे "बाबा, आप रोगी के पास पहुँच कर केवल इतना कहेंगे—'अरे साला उठ बैठो, तुम्हारा रोग दूर हो गया।" आपको और कुछ नहीं करना होगा।

क्षेपा बच्चे की तरह कहने लगे "अच्छा नगेन काका ऐसा ही कहूँगा। बीच बीच में मुझे सिखाते रहना, जिससे मैं भूल न जाऊँ।'

किंतु जब वह रोगी के घर पहुँचे, वहाँ उन्होंने बिलकुल उल्टा काम कर डाला। बोले, "नगेन काका, यह साला तो अभी ही फट--- अर्थात् इसके बचने की कोई आशा नहीं, अभी-अभी इसका देहांत हो जायगा।

इतना कहने के साथ क्षपा पालकी पर आकर बैठ गये। रोगी ने भी अपनी अंतिम सांस छोड़ दी।

नगेन पंडा बहुत हताश हो गये! रोगी के आत्मीयजन उनके अपने आदमी थे और उन्होंने पंडा से बहुत आग्रह किया था। पंडा ने भी बाबा पर भरोसा करके ही उन्हें आश्वासन दिया था। रास्ते में चलते-चलते खिन्न मन से वह क्षेपा बाबा को कहने लगे, "बाबा, छी छी। यहाँ अब मेरी मान मर्यादा कुछ भी नहीं रह गई। यदि मैं ऐसा जानता तो आपको यहाँ नहीं लाता।"

क्षेपा करुण स्वर में कहने लगे, "नगेन काका, रोष नहीं करना। सचमुच मेरा कोई दोष नहीं है। मैंने तो आपकी सिखाई हुई बात को ही कहना चाहा था, किंतु तारामाई आकर मेरे कानों में मानों कहने

लगी —क्षेपा यह बात तुम बिलकुल नहीं बोलना। बोल देना-फट। मैंने भी ऐसा ही कह दिया।"

दूसरी ओर इस वाक्-सिद्ध महापुरुष का एक-एक अहेतुक आशीर्वाद भी भक्तों को कम आश्चर्य-चकित नहीं करता था। एक बार एक युवती अपने पिता के साथ तारा पीठ और तारा-पीठ के भैरव क्षेपा बाबा का दर्शन करने आई। उनका घर रामपुर हाट में था। शुद्ध मन एवं पवित्र भाव से वह कुछ खीर तैयार करके लाई थी। प्रणाम करके भक्ति-भाव से उसने बाबा को खीर भेंट की। क्षेपा ने अत्यंत प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हुए कहा, "बहुत अच्छा माँ, बहुत अच्छा। तुम्हें धन और पुत्र का सौभाग्य प्राप्त होगा।"

उनके वचन को सुनते ही युवती रोने लगी, युगल नेत्रों से अविरल अश्रु धारा बहने लगी। क्षेपा ने घबड़ा कर भक्तों से पूछा, 'अरे यह रोती क्यों है?"

"बाबा! आपने उसे धन-पुत्र से लक्ष्मीवान होने का आशीर्वाद दिया है; किंतु वह विधवा है। उसे पुत्र होने की अब आशा कहाँ रह गई?"

"माँ रोओ मत। मैंने जो कुछ कहा है सब होगा। तारामाई ने मुझसे कहा है—तुम्हें पुत्र होगा, एक नहीं अनेक।"

क्षेपा का वचन सफल हुए बिना रहा। कई वर्षों के बाद एक धनवान वणिक ने वैष्णव मतानुसार उस युवती से विवाह कर लिया। संतान एवं धन-वैभव सब कुछ से वह सौभाग्यवती हुई।

दरभंगा के महाराजा एक बार तारा पीठ आकर बाबा के शरणापन्न हुए। महाराज को कोई पुत्र नहीं था। इसलिए महापुरुष का आशीर्वाद लेने आये थे। महाराज के साथ सिपाही, पंडित और ठाटबाट देखकर क्षेपा ने कहा, "नगेन काका, ये सब कौन हैं?" "ये दरभंगा के महराज हैं। आपके प्रति इनकी बड़ी भक्ति है। इसलिए दर्शनार्थ आये हैं।" "यह कैसी बात? मैं श्मशान का

भिक्षुक, साधारग मनुष्य। मेरे यहाँ राजा-महाराजों का क्या काम ? तब तो मुझे यहाँ से हट जाना पड़ेगा।"

सब लोगों की सलाह हुई कि महाराजा साधारण वेश में अकेले क्षेपा का दर्शन करने आवें। महाराज ने ऐसा ही किया। बाबा के आशीर्वाद से उनकी मनोकामना पूर्ण हुई। बाद में चलकर उन्हें पुत्र-लाभ हुआ।

क्षेपा कहा करते, "बाबू, मैं शास्त्र-पुराण कुछ नहीं जानता-केवल तारामाई के भरोसे ही मेरा सारा कारबार चलता है।" सचमुच बात ऐसी ही थी। क्षेपा की समस्त सत्ता के साथ उनकी तारामाई, आद्या शक्ति मानो ओत प्रोत हो गई। उनका सब कुछ उस समय एक अखंड चैतन्य से युक्त हो गया था।

एक दिन अपने मन की मौज में आकर क्षेपा तारामाई की पूजा के लिए आ बैठे। किंतु पूजा के लिए उनका उपचार-उपकरण कहाँ ? शास्त्र-सम्मत रीति से पूजा होनी चाहिए, यह तो उन्होंने किसी दिन माना ही नहीं। एक-एक दिन भावोन्मत अवस्था में वह मंदिर में तारामाई के विग्रह के समीप पूजा के लिए जाकर बैठते। उनके अगल बगल उत्कंठित भक्त और दर्शनार्थी खड़े रहते, और खड़े रहते प्रसाद-लोभी अनुचर कुत्ते। क्षेपा की पूजा में आसन-शुद्धि एवं शरीर-शुद्धि की कोई आवश्यकता नहीं, मंत्र-पाठ एवं उत्सर्ग भी निरर्थक। असल उपचार उनके मुख से बार-बार 'तारा' नाम का उच्चारण और भाव-विह्वल प्रार्थना। काँपते हुए हाथों से वह बेलपत्र और फूल लेकर अञ्जलि देते और कहते—"यह बेलपत्र लो माँ, यह अन्न लो, यह जल लो, यह फूल-चंदन और बलि लो।" अपनी मर्जी के अनुसार मनमाने ढंग से पूजा समाप्त करते। यह देवी की पूजा नहीं थी, यह मानों माँ के ऊपर उसकी संतान के सहज अधिकार की एक बाल्यलीला थी।

बाहर की वस्तु-अवस्तु, क्रिया-प्रतिक्रिया की ओर दृष्टि देना इन

आत्मसमाहित ब्रह्मज्ञ पुरुष के लिए किसी दिन भी संभव नहीं हुआ। इसकी आवश्यकता भी नहीं होती। मंदिर में, वृक्ष के नीचे और श्मशान में सर्वबंधन-मुक्त क्षेपा दिगम्बर के रूप में सब लोगों के सामने पड़े रहते। कोई व्यक्ति इस संबन्ध में यदि कुछ कहता तो उत्तर देते, 'मेरा पिता नंगा, माँ नंगी, मुझे भी तो वैसा ही अभ्यास करना चाहिये। इसके सिवा, मैं तो लोगों के बीच नहीं रहता, हूँ अपनी माँ के साथ माँ के श्मशान में, फिर मुझे किसका भय है।"

तंत्र-सिद्ध महाशक्तिधर साधक के रूप में वामाक्षेपा का सुयश इस समय तक चारों ओर फैल गया था। तारा-पीठ की पुण्य-भूमि में असंख्य मुक्ति-कामी शक्ति-साधक एवं दर्शनार्थी आने लग गये थे। इनमें बहुत लोगों को क्षेपा का वाह्य रूप कठोर प्रतीत होता था। उनकी भीम-भैरव मूर्त्ति और आचार-विचारहीन वाह्य रूप स्वभावतः कुछ लोगों के लिए भीतिजनक था। कारण चक्र और गाँजा के धूम-मंडल के बीच से वास्तविक ब्रह्मज्ञानी वामा क्षेपा को पहचान लेने की शक्ति या सौभाग्य बहुत कम लोगों को प्राप्त होता था।

अपने चतुर्दिक के दुर्भेद्य आवरण द्वारा क्षेपा अवांछित आगंतुकों से आत्मरक्षा करने में समर्थ होते थे। अपनी अंतर-सत्ता की गंभी-रता में, एकांत आनंद में वह भरपूर रहा करते थे। सम्पूर्ण रूप में, आत्म-समर्पण करके जो साधक उनके चरणों में पड़े रहते थे, केवल उन्हीं को शक्ति-साधन का गूढ़तम पथ-निर्देश मिलने का सौभाग्य प्राप्त होता था। समसामयिक बंगाल के विशिष्ट शक्ति-साधकों में ऐसे लोग विरल थे जिन्होंने तारा पीठ के पंचमुँडी आसन पर बैठकर सिद्धि-मार्ग के लिए पाथेय संचय न किया हो और उदार--हृदय क्षेपा का आश्रय ग्रहण करके अपने को कृतार्थ न किया हो। तंत्र-सिद्ध महापुरुष स्वामी निगमानंद ने इस तारा--पीठ के श्मशान में आकर क्षेपा की शरण ली थी और उनकी कृपा से ही वह इष्ट देवी का साक्षात् लाभ करने में समर्थ हुए थे। ज्ञात एवं अज्ञात

और भी बहुत से तंत्र-साधकों ने क्षेपा के निर्देशन में महाशक्ति की आराधना करके सिद्धि प्राप्त की थी।

कौलमार्ग की दुःसाध्य तपस्या में उत्तीर्ण होकर क्षेपा एक महान् ब्रह्मज्ञानी बन गये थे। उन्होंने जैसी विपुल योग--विभूति एवं अध्यात्म--शक्ति प्राप्त की थी उसकी तुलना क्वचित ही देखी जाती है। किंतु इस अमित अध्यात्म--शक्ति को क्षेपा अति सहज एवं स्वाभाविक रूप में चिरकाल धारण किये हुए घूमते रहे।

१९११ ई० का महीना। चारों ओर अविराम वर्षा हो रही है। इन दिनों क्षेपा रह-रह कर समाधिस्थ हो जाते हैं। एक दिन अहोरात्रि समाधि से जाग्रत होकर उन्होंने अपने भक्तों को बुलाकर कहा, "देखो भाई, मोक्षदानंद बाबा की जहाँ समाधि है वहीं मेरी देह की भी समाधि देना।" भक्तगण उनके आसन्न वियोग से कातर हो उठे।

क्षेपा बाबा की शारीरिक अवस्था क्रमशः खराब हो रही है। इसके बाद श्रावण की दूसरी तारीख की रात में सब लोग अत्यंत उद्विग्न हो उठे। बाबा के भक्त सेवक एवं सहचर श्वानदल, सब के चेहरे पर विषाद की मलिन छाया। क्षेपा अंतिम बार 'तारा--तारा' की ध्वनि द्वारा सबको चकित करते हुए समाधिस्थ हो गये। यह समाधि ही उनकी महासमाधि थी।

आधी शताब्दी से अधिक तक शक्ति--साधना की शिखा को वशिष्ठदेव के आसन पर प्रज्वलित रखने के बाद वामाक्षेपा की मर्त्यलीला उस दिन समाप्त हो गई।